কঠোপনিষদ্

श्री दक्षिणामूर्ति संस्कृत ग्रन्थ माला-२४

कठोपनिषद्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीनिरंजनपीठाधीश्वर
महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि महाराज

प्रकाशक
दक्षिणामूर्ति मठ
मिश्रपोखड़ा
वाराणसी

मूल्य 60-00 रुपये

मुद्रक
आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस
आगरा 2000—(J-7841)

विषय-सूची

प्रामुख

भारतीय साहित्य का उद्गम वेद है। वेद का सिद्धान्त उपनिषदों में प्रतिपादित है। अतः सभी भारतीय सम्प्रदायों ने अपनी विचारधारा को उपनिषद् में ढूँढने का प्रयत्न किया है। अद्वैत सिद्धान्त के आचार्यों ने उपनिषद् को ही अपना मूल ग्रंथ स्वीकार किया एवं उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त को ही अपना सिद्धान्त स्वीकार किया है, अतः उन्हें उपनिषदों में अपने सिद्धान्त ढूँढने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उन्होंने अधिक प्रयास उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्त को प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अविरुद्ध सिद्ध करने का किया है। इसी कारण वेदान्त या औपनिषद् सिद्धान्त नाम से अद्वैत ही समझा जाता है। श्री वादरायण ने ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदों का समन्वय प्रस्तुत किया है जिस पर शांकरभाष्य अद्वैत को प्रस्फुटित करता है। परन्तु ब्रह्मसूत्रों में केवल विवादास्पद स्थलों पर ही विचार किया गया है। अतः श्री भाष्यकार के अनुयायियों ने सभी वैदिक उपनिषदों पर स्वतंत्र ग्रंथ निर्माण किये जिनमें प्रधान दश पर तो स्वयं शंकरभगवत्पाद ने ही भाष्य का निर्माण किया। इन्हीं में से कठोपनिषद् भी है। हमने भाष्य, आनंदगिरि टीका, गोपालेन्द्र टीका, शंकरानंदी दीपिका, विद्यारण्य दीपिका, नारायण दीपिका आदि सभी का आधार लेकर वर्त्तमान विवेचन प्रस्तुत किया है। अनेक तत्त्वों को समझाने के लिये प्रस्तुत वैदेशिक दार्शनिकों पर तथा विज्ञान पर भी विचार किया है जिसे प्रायः पूर्व पक्ष रूप से उपस्थित करके उनका उत्तर भी बताया है; व कहीं-कहीं वेदान्तानुकूल स्थलों को तत् सिद्धान्तानुयायी होने पर स्वीकार भी किया है। इस प्रकार का विवेचन संभवतः प्रथम बार ही, हिन्दी ही नहीं किसी भी भाषा में, उपस्थित है। आशा है, विद्वान् विचारक इन संकेतित तत्त्वों पर अधिक विचार करके, अन्य रहस्यमय गुह्य भागों पर नवीन प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों का निर्माण करके वेदान्त को आधुनिक भाषा व परिवेश में उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे।

इस ग्रंथ की रचना में श्री मदन खट्टर ने आशुलिपिक तथा टंकणकार का कार्य केवल प्रेम से किया है। श्री मधुकर ने ग्रंथ-मुद्रण का कार्य सम्पन्न किया है। इनके सभी कुटुम्बी हमारे स्नेहभाजन हैं।

श्री शंकरमठ,
आबू पर्वत, ३०७५०१ — महेशानन्द गिरि
मकर संक्रमण २०३० वि०

ॐ

पीठिका

वेदार्बुदाचलदरैककृतालयायै
लोपेशनिर्मलचितिप्रतिबिम्बितायै ।
कारुण्यभावपरिपूरितमानसायै
कस्यैचिदस्तु नमनं मम कालिकायै ॥१॥

श्यामां शैवजनप्रियां शिवरसेनाप्लावयन्तीं सदा
श्रीशैलार्बुदसंस्थितां सुजघनान्धमर्थिकामप्रदाम् ।
तन्त्रीगानपरायणां सुमधुरान्तां वै महेशप्रियां
लोलाक्षीं ललितां स्मरामि सततं कैवल्यदान्निर्मलाम् ॥२॥

सत्यञ्ज्ञानमनन्तमद्वयशिवं विज्ञाय मृत्यूक्तितः
कालीप्रेष्ठनितम्बकासनपरं भक्त्वा कठश्रोत्रियः ।
आर्द्रान्तःकरणैर्विलोकनपरो ज्ञेयं समस्तञ्जगत्
सद्यो याति महाविमुक्तिपदवीं संवित्परान्निर्मलाम् ॥३॥

रागद्वेषविहीनता प्रणयते बुद्धौ सदा शुद्धताम्
प्राप्नोतीह शिवे रतिर्नवतरा ज्ञानन्तदा निर्मलम् ।
निर्बीजात्मतया विचिन्त्य सततं संन्यस्य कर्माखिलं
वेदान्ते विशति प्रसह्य नचिकेताश्रावि वैवस्वतात् ॥४॥

यदि विश्व में मानवमात्र का अध्ययन किया जाय तो सभी में सत्यनिष्ठा एक जैसी पायी जायगी । स्वयं असत्य का व्यवहार करने पर भी सभी सत्य को अवश्य ही जानना चाहते हैं । प्रायः जीवन के प्रथम काल में सत्य के प्रति अगाध आस्था होती है । मुझे याद है कि आठ वर्ष में जब मुण्डक उपनिषद् का सत्यमेव जयते एवं तैत्तिरीय उपनिषद् का सत्यं ब्रह्म तथा भागवत का सत्यं परं धीमहि आचार्य ने जीवन का उद्देश्य बताया तो हृदय में एक अपूर्व स्फुरण हुआ । पर व्यावहारिक जीवन में बढ़ने पर यह आस्था जगह-जगह पत्थरों पर टकराई और देखा कि प्रायशः सत्य को तिलांजली देना ही व्यवहार माना जाता है । परन्तु हृदय की पुकार फिर भी सत्य की ओर बनी ही रही । प्रायशः प्रत्येक मानव इस पुकार को सुनता रहता है । परन्तु

समाज, राज्य आदि इसे दबाते रहते हैं। और इसीलिये क्रान्ति प्रारम्भ होती है। बचपन में अपने से बड़ों, विशेषकर माता-पिता से सत्य की उपलब्धि का प्रारम्भ होता है। परन्तु सत्य की पुकार दबा दी जाती है और अतर्क्य वचन के उद्धरण को सत्य का स्थान दे दिया जाता है। यह वचन कभी माता का, कहीं पिता का, किसी मित्र का, संघ का अथवा समाज के प्रतिनिधि का होता है। परन्तु बच्चा सत्य के इस लक्षण को बर्दाश्त नहीं कर पाता। वह या तो सभी वचनों पर श्रद्धा खो बैठता है अथवा एक वचन को दूसरे वचन से भिड़ाकर अपना मतलब सिद्ध करने लगता है। शिक्षक को वह माता के वचन से, या संघ को शिक्षक के वचन से भिड़ा देता है। यह विद्रोह स्वाभाविक है। इसी विद्रोह में उसकी अपनी जिम्मेदारी का जन्म होता है। नचिकेता के चरित्र में सर्वप्रथम इसी श्रद्धा का दर्शन श्रुति ने कराया है।

अपने स्वाध्याय के जीवन में मनुष्य को सत्य का अन्वेषण सहज लगता है। यहाँ आधिकारिक सत्य (Authoritative Truth) न्यूनतम रहता है, एवं सफल तथा सुरक्षित होने के साथ यहाँ सत्य इच्छातीत भी प्रतीत होता है। अन्धविश्वास को यहाँ स्थान नहीं रहता। नम्रता व ईमानदारी का यह दुर्ग है। अनेक लोग इसी सत्य में अटक जाते हैं। कविता सौन्दर्य बिखेर सकती है, पर सत्य इसका क्षेत्र नहीं है। न धर्म जीवन का सुधारक है, पर सत्य इससे असम्बद्ध है। भक्ति सहृदयता को उभाड़ सकती है, पर सत्य का स्थान यहाँ भी दुर्लभ है। विज्ञान ही सत्य का मार्ग है। इससे प्रकृति के नियमों का, पुरातत्त्व के तानेबाने का, मस्तिष्क के गुह्य रहस्यों का सूत्र हाथ लगता है। यही आनन्द देने वाला सत्य है। जिसने भी अन्धकार से विज्ञान के तीव्र प्रकाश में प्रवेश किया है वह जानता है कि आत्मा के दिव्य किरणों से ही विश्वज्ञान संभव है। पर जब हम जीवन की तरफ दृष्टि करके अपने आपसे पूछते हैं कि क्या सत्य मिला, तब पैर कांपकर, वाणी गद्‌गद् होकर नहीं कह उठती है। कुछ तो कहेंगे कि जो भी सत्य समझा था वह खो गया। कुछ दूसरे कहेंगे कि इसकी क्या चिन्ता करें जब जीवन इसके बिना ही चलता जाता है। कुछ अपने स्वाध्याय के क्षेत्र से भिन्न किसी व्यक्ति, ग्रंथ या घटना का हवाला देकर कहेंगे कि सत्य तो वहाँ मिला था। परन्तु यह तो स्वाध्याय का फल नहीं था। अतः विज्ञान भी वस्तुत: सत्य को उपस्थित करने में असमर्थ है।

कुछ लोग सत्य की असंभवता का ही प्रतिपादन करने लगते हैं। आज जब विश्व में सर्वत्र आहीग्रों तथा अर्थों की शून्यता जीवन को विकृत कर रही है तो कहाँ मिलेगा सत्य। इस विकृति से न कोई अपने को अलग कर सकता है, न इसका प्रयास ही कार्य है। परन्तु इस संशय में ही सत्य का बीज निहित है। यही नचिकेता का जीवन-मरण सम्बन्धी प्रश्न द्योतित करता है, जबकि मृत्यु को जाना उसका सत्यान्वेषण। कभी उस सत्य के द्वारा आकृष्ट न हो जाओ जो तुम्हारा सत्य नहीं है, चाहे वह तुम्हारे मजहब का सत्य हो, तुम्हारे दल का सत्य हो या पैतृक रीति का सत्य हो। प्राय: इस सत्य से डरने का प्रलोभन मार्ग में आता रहता है। यह सत्यान्वेषण दो प्रकार के लोगों से प्रलुब्ध हो उठता है। एक तो वे हैं जो घोषित करते हैं कि सत्य उनके पास मौजूद है। दूसरे वे हैं जो घोषित करते हैं कि अन्वेषण व्यर्थ है। पहले लोग मजहबी हैं तो दूसरे कर्मपरायण। बहुत से राष्ट्र भी अपने संविधान का मजहब बना लेते हैं, तो सुधारक दल सुधारों का। यहां सर्वत्र अतर्क्यता ही मानी जाती है। अतर्क्यता ही असत्य की जननी बनती है। सत्य अनुभूति पर आधारित अर्थात् अनुभूति माता से तर्क पिता द्वारा उत्पन्न होता है। जहाँ नव विचार या भिन्न आचारों का अवज्ञान व अवज्ञा से निष्कासन है वहां स्वातंत्र्य कहां है। वहां तो पैशाचिक बन्धन है कि अपनी मान्यता ही सत्य है। यह तो अपने को सर्वज्ञ ईश्वर के समकक्ष बनाने का जघन्य अपराध है।

दूसरा तरीका कुछ लोग अपनाते हैं जिसमें सत्यान्वेषण की चिन्ता ही छोड़ दी जाती है। यह बेपरवाही या उदासीनता का तरीका है। आधुनिक युग में महत्तम लोग इसी मार्ग को अपनाते हैं। जीवन को वे अर्द्धसत्य व असत्य का मिश्रण मानते हैं। इस मिश्रण से जीवन के अधिकतम भागों को पार किया जा सकता है। कभी न कभी दुर्घटना, मृत्यु या अनैतिकता हमें हिला ही देती है पर तब तक यह चलता ही रहता है। अत: जिस संदेह से आज नुकसान नहीं होता उन्हें रहने दिया जाता है, यथा ईश्वर, धर्म, पुनर्जन्म आदि। परन्तु आर्थिक या राजनैतिक सत्यों के बारे में कट्टर-पन्थ का मार्ग अपनाया जाता है क्योंकि वे अभी ही फायदेमन्द प्रतीत होते हैं। अत: कुछ संशय व कुछ कट्टरता तथा दोनों का चतुराई से तोलन

(Judicious Balancing) अन्तिम तत्त्व से बचने का तरीका बन जाता है।

परन्तु जो इस प्रकार न घबराकर सत्य का घूंघट खोलने के लिये दध्यङ्ङाथर्वण के शब्दों में, 'पूषन् तत्वं अपावृणु' तत्त्व को उघाड़ने के लिये प्रयत्नशील बनते हैं, वे नचिकेता के उत्तराधिकारी हैं। यम की तरह उनका गुरु कह उठता है 'क: मदन्य:' मेरे से भिन्न कौन तत्त्व से अभिन्न है अर्थात् जो भी तत्त्वज्ञ है वह साक्षात् महादेव ही है। यही वेदान्त का उद्घोष है कि यह कोई मान्यता नहीं है वरन् तुम्हारा आत्मा स्वयं ही अन्तिम सत्य है। साधारण जीवन में कोई बात सत्य या मिथ्या होती है। लोगों का ज्ञान सत्य या मिथ्या विषयक हो सकता है। पर यह अन्तिम सत्य तो वे स्वयं ही हैं। वरन् वे ही सत्य हैं। यह सत्य की नयी मीमांसा अनुभूति व तर्क दोनों के अतीत होकर भी दोनों के अनुकूल है। मेरा वाक्य, मेरा ज्ञान सभी मिथ्याविषयक होने पर भी मैं स्वयं तो उस मिथ्या का अधिष्ठान सत्य ही हूँ। इस अन्तिम सत्य 'सत्यस्य सत्यं' के सामने ही समग्र जगत् व उसका ज्ञान मिथ्या कहा गया है। यदि इस सत्य को हम ग्रहण करके इसके साथ जीना सीख लें, तो यह सत्य कभी धोखा नहीं दे सकता। सभी मजहब, मान्यताएँ, सम्प्रदाय, दर्शन, आचार, विचार धोखा दे सकते हैं, पर अपना आपा कभी नहीं। इस आत्मा में सत्य, वस्तु, अन्तिम तत्त्व नहीं है, वरन् आत्मा ही इनका रूप है। शिव आत्मरूप से उघड़ा हुआ, अविकृत हुआ, अपनी अनन्त, अगम्य, गुह्यानुभूति, आनन्दरूपता से विद्यमान है। सभी सम्प्रदाय सिद्ध करना चाहते हैं कि उनके कथित आचार या विचार सत्य हैं, अतः वे सम्प्रदाय सत्य हैं। पर वेदान्त तो अपने सभी आचार, विचार को स्वयं ही मिथ्या कहकर, अपनी सत्यता को उन पर आधारित नहीं करता। वरन् आत्मरूप से स्वतःसिद्ध सत्य पर आचार-विचार को आधारित करता है। सत्य को उघाड़ने में सहायक होने से वे सत्य हैं, स्वयं नहीं। आत्मा तो उन सबसे परे है। उपनिषद् की शिक्षाएँ या कथाएँ वह सत्य नहीं है जो हमें मुक्त करता है, पर स्वयं 'सत्यं ज्ञानं' रूप आत्मा ही हमें मुक्त करता है।

अनेक वेदान्ती प्रक्रियाओं को सत्य मानकर अथवा मार्ग के खम्भों को सत्य मानकर, लोगों को नियमबन्धनों की परतंत्रता में बाँधना चाहते हैं। महत्तम पुरुष सदा नियम में बंधकर यह जानना चाहते हैं कि क्या सोचें

या क्या करें, अथवा क्या न सोचें या क्या न करें। वे उपनिषदों को भी विधिनिषेध शास्त्र मानकर मोक्ष को भी धर्म का फल ही मानते हैं। पर यम तो 'अन्यत्र धर्मात्' धर्म से सर्वथा भिन्न कहकर इस मान्यता को उपनिषद् विरुद्ध स्पष्ट ही बताते हैं। पर उपनिषद् के भी विधिनिषेध मुक्त करने वाले सत्य नहीं हैं। अतः जो मुर्गी की तरह कमजोर दिल वाले हैं उनके लिये यह मार्ग नहीं है। यह तो शूरों का मार्ग है। जीवन के आचार-विचारों का अचूक नुस्खा उपनिषद् में ढूंढ़ना तो ब्रह्महत्या जैसा जघन्य अपराध है। वे सत्य को इंगित करते है, पर सत्य नहीं हैं। न आत्मा के विषय में प्रतिपादित कोई सिद्धान्त ही सत्य है। सत्य तो केवल आत्मा ही है। जीवन के समग्र क्षणों में आत्मसत्य का उद्घाटन करने में प्रयत्नशील रहकर, यही समझ में आ पाया है कि हमारे शब्द, व्यवहार एवं गुरुपरम्परा के सभी शब्द तथा व्यवहार सत्य नहीं हैं। प्रायः लोग, महान् से महान् विद्वान भी, यह भूल जाते हैं कि आत्मा सत्य है, और प्रचार करने लगते हैं कि आत्मा के विषय में उनके द्वारा मान्य विचार ही सत्य हैं। वे विचारसमूह आवश्यक और अच्छे होने पर भी मुक्ति प्रदान करने वाला सत्य नहीं है। इसीलिये कालक्रम से वे दबाने के औजार बन जाते हैं। अधिकारियों के द्वारा गुलामी पैदा करने के साधन बन जाते हैं। अन्ततः सत्यान्वेषण के ईमानदार प्रयत्नों पर रोड़े बन जाते हैं। इस प्रकार के औजार बन जाते हैं जो आत्मा और आत्मसम्बन्धी विचारों में मानव को फाड़कर दो कर देते हैं। और इसी का नतीजा होता है कि नास्तिकों के हाथ में ये मान्यताएँ वे औजार बन जाती हैं जिनके द्वारा वे आस्तिकों का खण्डन कर उन्हें अपने दल में मिला लेते हैं। यदि आत्मसत्य को ही आधार रखा जाय तो सर्वज्ञ शंकर के शब्दों में उसका खण्डन ही असंभव हो जाता है। 'अशब्दमस्पर्शम्' के द्वारा यही अखण्डनीय तत्त्व यमराज प्रतिपादित करते हैं।

यह ठीक है कि अधिकतर लोग इस द्वंद्व को समझ नहीं पाते। वे निश्चित विधियों में अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। परन्तु यह सुरक्षा तो जिसने आत्मिक स्वतंत्रता को नहीं पाया है उसके लिये है। आत्मज्ञानी तो शिष्य को वह इज्जत (Dignity) देता है जिसमें खतरा निहित है। जिज्ञासु को स्वयं सत्यान्वेषण में यत्नशील बनाकर 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का सन्देश सुनाकर सभी प्रक्रियाओं, मान्यताओं को सन्देह से देखकर मनन के द्वारा प्रवृत्त होने

को कहता है । 'जिस भी प्रकार से सत्यात्मभाव की प्राप्ति हो वही मान्यता, आचार, विचार ठीक है' कहकर भगवान सुरेश्वर इस परम सत्य को निर्दिष्ट करते हैं । इससे साधक स्वतंत्र बनकर स्वयं व्यक्तिगत रूप से निर्णय करने को प्रवृत्त हो सकता है । संशयशील, नास्तिक, कट्टरवादी, उदासीन आदि का मनन करके जो मुक्त करता है उस सत्य को पाता है । ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय में यह स्पष्ट है । यही शिवाद्वय तथा शांकराद्वैत का वैशिष्ट्य है कि यह अपने शिक्षा तथा सिद्धान्त से परे उस तत्त्व का निर्देश करता है जो सत्यस्वरूप है । 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' अर्थात् 'जिस अवस्था में वेद भी अवेद हो जाते हैं' का उद्घोष सिवाय वेद के कहीं नहीं मिलता ।

इस सत्य को कैसे अनुभव में लावें ? सत्य बनो अथवा जानो कि मैं ही सत्य हूँ । यही मार्ग तथा लक्ष्य दोनों है । इसका अर्थ केवल मानस ज्ञान या उपासना नहीं समझना चाहिये । जानने का अर्थ है सत्य में जीना, सत्य से जीना, सत्य को अपना प्रतिष्ठित स्वरूप समझना, 'ईशावास्यमिदं सर्वं'' जगत् तथा जीव को शिवात्मरूप में लीन कर देना, 'शिवं सत्यं ब्रह्म में निरन्तर निवास ही उपाय व उपेय दोनों है । यही अद्वैत का वैशिष्ट्य है कि साधना व साध्य को केवल यत्नसाध्यता व स्वभाव के भेद से ही भिन्न प्रतीत कराना । शिव मैं हूँ, मैं शिव है । शिव स्वभाव से है मैं रूप में । मैं यत्न से हूँ शिवरूप में । जिस क्षण स्वभाव है उस क्षण शिव, तथा जिस क्षण यत्न साध्यता उसी क्षण मैं । यह आंखमिचौनी का खेल अपने प्रियतम के साथ खेलना ही अद्वैत साधना है । अतः शैव कभी भी हठयोग नहीं करता । उसके लिये तो विलास या लालन ही साधना हो जाती है । मुक्तप्रद सत्य वही है जिसमें हम भाग (Participate) लें । भाग ही भक्ति है । शिवलीला में हम भाग ले रहे हैं । यदि जानकर लें, प्रेमपूर्वक लें, तो भक्ति है, अन्यथा कर्म । शैवमार्ग में इसीलिये केवल वैधी भक्ति कर्म ही मानी जाती है । जिसके हम अंश हैं एवं जो हमारा अंश है वही शिव है । आत्मा अनात्मा के संघात में आत्मा अंश है, तथा कारणरूप से यह आत्मा अनात्मा का संघ भी आत्मा का कार्य होने से उसका अंश ही तो है । एक जगह स्वरूप से अंश है तथा दूसरी जगह संसर्ग से अंश है यह बात दूसरी है । अशांशी कल्पना निरंश में अध्यस्त है, यह तो वेदान्त का तात्पर्य

है ही। अतः भागी बनना ही भक्त बनना है। यदि सत्य, परमार्थ व दिव्य सत्य जो शिव है हमारा आत्मा बन गया तो फिर और क्या मुक्ति है।

पर इस मार्ग के हम अधिकारी हैं, यह कैसे जाना जाय। उत्तर स्पष्ट है यदि नचिकेता की तरह जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है तो निश्चित जानो कि अधिकारी हो। यदि सत्यविषयक जिज्ञासा में तीव्रता नहीं है, गांभीर्य नहीं है, तो अभी समय नहीं आया है। यदि जिज्ञासा है तो चाहे जितने अन्धविश्वासों तथा कामनाओं से जकड़ा है, शीघ्र ही छूटने वाला है। संशय या उदासीनता के छींटे यदि हैं भी तो भी अब छूटने ही वाला है। इस मार्ग में सत्य अनेक रूपों में प्रथम दर्शन देगा, पर ऐसा दर्शन कभी नहीं होगा जिसे सुनकर कागज पर लिखकर घर ले जाकर रट सको। इसीलिये स्वर्ग्य अग्नि के शिक्षण के वाद मृत्यु ने पूछा कि सुनाओ, और नचिकेता ने सुना दिया। पर आत्मज्ञान के वाद न पूछा न सुनाया। सुनने का अधिकारी वही है जो सुने हुए को जीवन का सत्य बना ले। यह श्रवण कभी ध्यान की एकाग्रता में, तो कभी पाठ की एकाग्रता में, तो कभी प्रेम की एकाग्रता में अकस्मात् सकृद्विभातमजमेकं चमक उठता है। तब सभी संशय कट जाते हैं। वह पाठ. या ध्येय, या प्रेमास्पद शिव सत्य नहीं हैं, पर वे पर्दे को उघाड़ने के आधारमात्र हैं। अकस्मात् अन्धकार में प्रकाश फूट पड़ता है। या जैसे कुहासा धीरे-धीरे फट कर गायब हो जाता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। पुनः प्रेम की ध्यान की न्यूनता से शैवाल की तरह नया अँधेरा, नया कुहासा आयगा, पर चूंकि सत्य आत्मा का अनुभव हो चुका है, वह पूर्वबन्धन की तरह नहीं होगा। शनैः शनैः प्रत्येक सत्यानुभूति उसका पुनरागमन रोकती जायगी। सौन्दर्य, मित्रता, अपनी ही मानसिक गहनता, आदि भी फिर इस सत्य को पुनरावृत्त करते रहते हैं। भ्रम, मिथ्या अधिकृत, दासीभूत चिन्ता (Enslaving Anxiety), कामना, द्वेष, मिथ्या आत्मा का कोसना या अभिमान आदि से फिर छूट जाते हैं। कई बार तो स्वयं निरुपाधिक सत्य ही हमें पकड़ बैठता है। फिर तो साधना का रूप ही स्मरण या चिन्तन हो पड़ता है। यही विरह की साधना सर्वाधिक कठिन है। कठ् कृच्छ्रजीवने से निष्पन्न कठ शब्द इसी साधना का विशेषतः एवं सभी साधनाओं का सामान्यरूप से निर्देश करता है। जो इस सत्य के विरह में रात्रिदिन झुलसता है वही वास्तविक कठोर जीवनयापन करता है, वास्तविक तप करता है। नचिकेता का कठ उपनिषद् में उपाख्यान यही बताता है कि

वह ऐसे ही किसी सत्यदर्शन को पूर्व में कर चुका था। अथवा मृत्यु को प्राप्त करने का जो कठोर संघात (Shock Treatment) उसे मिला वह भी कठ से प्राप्त उपनिषद् को बता सकता है। दिन चैन नहीं रात नींद नहीं के शब्दों में यही कहा गया है। कई जीवनों में यही देखा गया है। यह सत्य ऐसा क्यों करता है, इसे कोई नहीं जान सकता। पर जो यह सोचते हैं कि यह सरल मार्ग है वे भूल में हैं। **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं** चरन्ति से यम इसी तप का निर्देश करते हैं। कई बार सत्य को सामने देखकर भी नहीं पहिचानते। अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण पूर्ण प्रेम करते रहे, पर अर्जुन उनको नहीं पहिचान पाया। अत: ये सब नियमातीत तत्त्व नियमबद्धता में नहीं लाये जा सकते। जिस रूप आदि के माध्यम से परम सत्य का प्रथम दर्शन होता है प्राय: उसी को असंस्कारी परम सत्य से अभिन्न मान लेता है। यही उपास्य या उपासना भेद का मूल है। पर यह नियम नहीं हो सकता कि जिस माध्यम से एक को हुआ दूसरे को भी अवश्य हो। अथवा जिससे एक को नहीं हुआ उससे दूसरे को भी नहीं ही हो सकता। अत: परम सत्य तो लक्षित है, लक्ष्यार्थ है, कभी भी वाच्यार्थ नहीं। उस **सत्यस्य सत्यं** का इसीलिये देशकाल अवस्था भेद से नाम भेद हो जाता है। पर वह सत्यं, ज्ञानं, शिवं, ब्रह्म नाम से तो सर्वदा ही पहचाना जाता है। कभी नहीं बदलने वाला होकर वह प्रतिक्षण प्रतिबोध में चमकते हुये कल्याणकारी बना हुआ व्यापक या अनन्त तो रहता ही है। दार्शनिक दृष्टि से उसे सभी अनुभवी सत्य कहते हैं, तो अनुभूति की दृष्टि से ज्ञान। उद्देश्य की दृष्टि से वह शिव है, तो नित्य प्राप्त दृष्टि से ब्रह्म। और जहाँ इसका स्फुरण होता है उस दृष्टि से इसे आत्मा कहा जाता है। पौराणिक पंचदेवों में भी वह उद्देश्य या प्रयोजन दृष्टि से शिव तथा व्यापक दृष्टि से विष्णु कहा जाता है। ज्ञान रूप होने से उसे सूर्य कहते हैं तो अनन्त दृष्टि से शक्ति। शक्ति ही तो अनन्त रूपों के धारण करने में एकमात्र कारण है। देह, इन्द्रिय, मन आदि अष्ट गणों का ईश्वर या शासक आत्मा ही पुराणों में गणेश कहा गया है। अष्टगणपति तो प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार उस परमसत्य का ही यहाँ भी दर्शन इष्ट है। वेदान्तदर्शन तो सभी माध्यमों से उस लक्ष्यार्थ को ही देखने के लिये प्रेरणा देता है। वाच्यार्थों का झगड़ा उसका विषय नहीं है। **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति** कह कर यदि परम सत्य के स्पष्ट वाच्यार्थों का निर्देश है तो **वचांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति** के द्वारा

अस्पष्ट माध्यमों का भी संग्रह है। यह कोई ठेका नहीं है कि वेद के स्पष्टलिंगक वाक्यों से ज्ञान हो ही जावे, या अन्य अस्पष्टलिंगकों से नहीं ही होवे। अनेक वैदिक इस तत्त्व से दूर भागते देखे जाते हैं तो अनेक वेदानधिकारी इधर आकृष्ट। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जो वेदवाक्यों से आकृष्ट हैं वे सत्य के उस ध्रुव बिन्दु से सुपरिचित हो जाते हैं जिससे विश्व में कहीं भी, कभी भी, किसी भी रूप में हुये सत्यदर्शन को ठीक-ठीक पकड़ पाते हैं। अतएव वैदिक कभी भी उपास्य भेदों के झगड़े में नहीं पड़ पाता। मार्ग भेद से वह नहीं घबड़ाता। पर जिसने वेद का दर्शन नहीं किया वह केवल एक माध्यम, एक मार्ग को ही पकड़ बैठता है। यह सत्य है कि सत्य से अनभिज्ञ वेदाभ्यासी इसीलिये बहुदेववादी ही बन पड़ता है, जो एकदेववाद से कहीं निम्न है, पर सर्वदेववाद का यह अनुच्छेद (Corollary) बचाना कठिन है। पर यह भी सत्य है कि जो जीवन सभी आत्माओं के अधिष्ठान परमशिव के संस्पर्श को क्षणमात्र भी नहीं छोड़ेगा, जो जीवन सर्वभुतभूतात्मा होकर प्रेम की अद्वितीयता को क्षण भर या बिन्दुमात्र भी दूर नहीं करेगा, वह साधारण प्राणियों के द्वारा दृष्ट होकर धृष्ट बहुदेववादी ही प्रतीत होगा। तुलसी, पीपल, पिपीलिका से लेकर मन्दिर तथा जो भी उसके पास आवेंगे वे अपने में प्रेम की लहर का अनुभव अवश्य करेंगे। पर इस लहर के रहते हुये ही वे उसकी उदासीनता से घबड़ाकर उससे अद्भुत भय भी साथ ही अनुभव करेंगे। सत्य ही प्रेम है। सत्य ही उदासीन है। यह प्रेममयी उदासीनता, या उदासीनता से तीक्ष्ण प्रेम औपनिषद् अद्वैतवाद की परम दृष्टि है जो मुक्त करती है। यदि हम पदार्थ से इतना प्रेम करें कि प्राप्ति के काल में उसका विरह असंभव लगे, पर विरह काल में स्मरण भी न हो ऐसी उदासीनता रहे तो कुछ इसका संकेत् मिल सकता है। कारण यही है कि जो भी सामने आता है वह उस समय वाच्य होकर माध्यम बन जाता है लक्ष्य का, तो जब उसका अभाव आता है तो वह भी लक्ष्य का ही माध्यम बन जाता है। अतः उदासीन प्रेम दिखाऊ प्रेम नहीं हैं, वरन् तीव्रतम प्रेम है जिसमें प्रेमास्पद कभी भी असत्य नहीं हो पाता।

असत्य या असत्य का पिता अज्ञान हमें स्वयं अपने साथ बाँधकर बंधन में डालता है। हम स्वयं अपने से प्रेम करते हैं तो फिर असत्य, अनृत से भी प्रेम करते ही हैं क्योंकि हम तो सत्यमिथ्या हैं, सत्यसत्य नहीं। ज्ञान मुक्त करता है क्योंकि यह असत्य हमें हमारे रूप से छुड़ाकर हमारे उस रूप में हमें

प्रतिष्ठित करता है जो सत्य में प्रतिष्ठित है। अर्थात् हम जब अपने से प्रेम न करके शिव से प्रेम करते हैं तो सत्यसत्य से प्रेम करते हैं व अपने रूप सत्यमिथ्या से छूट जाते हैं। अतः जहाँ सत्य और प्रेम, जो वैराग्य रूप है साथ-साथ न मिले उसे कभी धोखे से भी सत्य न समझा जाय, इसीलिये नचिकेता का सत्य प्रेम और वैराग्य का विशद वर्णन किया गया है। जहाँ प्रेम आया वहाँ वह मिथ्या प्रेम को हटा देगा और तुम्हें मुक्त कर देगा। जब तक सत्य प्रेम तुम्हें न आत्मसात् हो जाय तब तक तुम सत्य से गृहीत हुये यह कभी न मानना, यही कठोपनिषद् का संकेत स्पष्ट रूप से है।

इस प्रकार कठोपनिषद् मुक्तिमार्ग के पथिक का श्रेष्ठ आलम्बन है। हमने इसके भावों का स्पष्टीकरण तात्पर्य में दिया है। पर मूल पदों को अन्वय तथा अर्थ के साथ देने का यही तात्पर्य है कि साधक इन भावों पर गंभीर मनन तथा निदिध्यासन करें, एवं नित्य नवीन ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करें। उस सत्यस्य सत्यं से यही प्रार्थना है कि विश्व में पुनः अद्वैत दृष्टि फैलकर सर्वत्र शिवधर्म का प्रसार होकर शान्ति तथा आनन्द से सभी का जीवन भर जाय। इति

शंकरमठ, आबू
१ मार्च १९७४

भगवत्पादीयो
महेशानन्द गिरिः

मूलपाठ

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसन्ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥
तँ ह कुमारँ सन्तन्दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश ।
सोमन्यत ॥२॥
पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥३॥
स होवाच पितरन्तत कस्मै मान्दास्यसीति । द्वितीयं ।
तृतीयं । तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥
बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किँ स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यसि ॥५॥
अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।
सस्यमिव मर्त्यँ पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥
वैश्वानरँ प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताँ शान्तिङ्कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥
आशाप्रतीक्षे सङ्गतँ सूनृताञ्चेष्टापूर्त्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेस्तु ब्रह्मन्स्वति मेस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥
शान्तसङ्कल्पस्सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टम्माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणाम्प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥
यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखँ रात्रीश्शयिता वीतमन्युस्त्वान्ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥
स्वर्गे लोके न भयङ्किचनास्ति न तत्र त्वन्न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥
स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्त्वम्भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निन्नचिकेत ँ प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितङ्गुहायाम् ।।१४।।
लोकादिमग्निन्तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्यु ँ पुनरेवाह तुष्टः ।।१५।।
तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरन्तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निस्सृङ्काञ्चेमामनेकरूपाङ्गृहाण ।।१६।।
त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिन्त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञन्देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमा ँ शान्तिमत्यन्तमेति ।।१७।।
त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वा ँ श्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।१८।।
एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निन्तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरन्नचिकेतो वृणीष्व ।।१९।।
येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्येस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ।।२०।।
देवैरत्रापि विचिकित्सितम्पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरन्नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ।।२१।।
देवैरत्रापि विचिकित्सितङ्किल त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ।।२२।।
शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयञ्च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।२३।।
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तञ्चिरजीविकाञ्च ।
महाभूमौ नचिकेतत्वमेधि कामानान्त्वा कामभाजङ्करोमि ।।२४।।
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामा ःश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामास्सरथास्सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणम्मानुप्राक्षीः ।।२५।।
श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणाञ्जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वञ्जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।।२६।।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयस्स एव ।।२७।।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यन्तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

इति प्रथमावल्ली

अथ द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष ँ सिनीतः ।
तयोश्श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥
स त्वम्प्रियान्प्रियरूपा ँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोत्यस्राक्षीः ।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्याम्मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥
दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनन्नचिकेतसम्मन्ये न त्वा कामा बहवोलोलुपन्त ॥४॥
अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानास्स्वयंन्धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥
न साम्परायःप्रतिभाति बालम्प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयँल्लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यश्शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुवेज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्रनास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यान्त्वमापस्सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥
जानाम्यह ँ शेवधिरित्यनित्यन्न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत् ।
ततो मया नचिकेतश्चितोग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥
कामस्याप्तिञ्जगतः प्रतिष्ठाङ्क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायम्प्रतिष्ठाम्दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोत्यस्राक्षीः ॥११॥
तन्दुर्दर्शङ्गूढमनुप्रविष्टङ्गुहाहितङ्गह्वरेष्ठम्पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवम्मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतँ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥१३॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यञ्चरन्ति तत्ते पदँ सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।१५॥

एतद्ध्येवाक्षरम्ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरम्परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरञ्ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनम्परम् ।
एतदालम्बनञ्ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायङ्कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यश्शाश्वतोयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

आसीनो दूरव्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तम्मदामदन्देवम्मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानम्मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥२३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनङ्क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥

इति द्वितीयावल्ली

अथ तृतीया वल्ली

ऋतम्पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाम्प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥
यस्सेतुरीजानानामक्षरम्ब्रह्म यत्परम् ।
अभयन्तितीर्षताम्पारन्नाचिकेत ँ शकेमहि ॥२॥
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कस्सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति स ँ सारञ्चाधिगच्छति ॥७॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कस्सदाशुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमम्पदम् ॥९॥
इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परङ्किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथारसन्नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥
नाचिकेतमुपाख्यानम्मृत्युप्रोक्त ँ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥
य इमम्परमङ्ग् ह्यञ्च्छ्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतश्श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥१७॥ तदान०॥

इति तृतीया वल्ली

इति श्रीकृष्णयजुर्वेदे काठकसंहितान्तर्गतोपनिषदि
प्रथमाध्यायसमाप्तिः ॥

ध्यात्वा श्री दक्षिणामूर्ति स्मृत्वा गुरुपदाम्बुजम् ।
निर्मलं परमं शान्तं धर्मातीतमुपास्महे ।।
अर्बुदे परमे रम्ये निर्मले शंकरे मठे ।
प्राप्तज्ञानस्य शुद्ध्यर्थं करोमि कठचिन्तनम् ।।
यमाचार्यस्य वाक्यानि गम्भीरानि ह्यतोऽन्जसा ।
भाष्यटीकाप्लवेनैव तर्त्तुमिच्छामि बालकः ।।

कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा के मंत्र भाग की यह उपनिषद् है; जिस प्रकार शुक्ल यजुर्वेद की एवं श्वेताश्वतर शाखा की ईशावास्य तथा श्वेताश्वतर उपनिषदें हैं। इसमें पूर्व पीठिका के रूप में नचिकेता के वैराग्य का वर्णन करके तत्त्वज्ञान के प्रति विवेकजन्य वैराग्य का अव्यभिचरित कारण होना बताया है। आत्मपुराण, स्कन्दपुराण तथा महाभारत में नचिकेता के कथानक को विस्तृत रूप से कहा गया है। ऋग्वेद तथा तैत्तिरीय में भी नचिकेता की इस कथा का वर्णन है। महाभारत के अनुशासन पर्व के ७१वें अध्याय में यद्यपि इस कथानक को कुछ बदला गया है, तथापि वहां भी तात्पर्य वही है। महाभारत के अनुसार महातपस्वी उद्दाल कि नेअपने पुत्र नचिकेता को दीक्षा काल में सेवा करने का आदेश दिया था। जब नियम समाप्त हुआ तब महर्षि ने पुत्र को कहा कि उपस्पर्श एवं स्वाध्याय में लगे होने के कारण मैं ईंधन, दर्भ, सुमना, कलश एवं भोजन लाना भूल गया हूं, अतः नदी के किनारे से तुम ले आओ। वहां जाकर नचिकेता ने देखा कि नदी की धारा में वह सब डूब गया है। जब नचिकेता ने वापिस आकर यह खबर दी तो भूख-प्यास एवं श्रम के कारण आकुल महातपस्वी उद्दालकि ने क्रोध में आकर 'तू यम को देख' अर्थात् 'मर जा', ऐसा श्राप दिया। इसपर हाथ जोड़कर 'आप प्रसन्न हों' ऐसा कहते हुए नचिकेता जमीन पर गिर गया। इस प्रकार दुःख से मूच्छित नचिकेता को गिरा देखकर उद्दालकि भी 'मैंने यह क्या किया' ऐसा कहकर पछाड़ खाकर गिर पड़े। सारा दिन बीतकर जब रात आई तो पिता ने नचिकेता को रात्रि में हिलते देखा। पिता को ऐसा लगा मानो सूखे में पानी बरस गया हो। पुत्र दिव्य गंध से युक्त था। आश्चर्य में

आकर उद्दालकि ने कहा 'हे पुत्र ! तूने अपने शुभ कर्म के बल से उत्तम लोकों को जीत लिया है और यह मेरा सौभाग्य है कि मैं तुम्हें पुनः प्राप्त कर सका हूं क्योंकि तुम्हारा शरीर अब मनुष्य शरीर जैसा नहीं लग रहा है। सभी महर्षियों के बीच में नचिकेता ने बताया कि आपकी आज्ञा मानकर मैं यम की सभा को गया जहां हजारों योजन तक स्वर्ण का सा प्रकाश है। आपकी कृपा से यम ने मुझे आसन, अर्घ्य आदि के द्वारा पूजित किया। मैंने पूजा प्राप्त करके कहा 'हे धर्मराज ! मेरे लायक जो भी लोक हो, वहां मुझे भेजो।' यम ने कहा कि तू अपनी मौत से मरकर नहीं आया है, वरन् तपस्वी तथा तेजस्वी पिता के वाक्य की सत्यता मात्र की सिद्धि के लिये आया है। अब तुम्हारा पिता तुम्हारे विषय में शोक कर रहा है, अतः तुम्हारे मन में जो भी इच्छा हो, मेरे से ले लो। तब मैंने पुण्य कर्म करने वाले लोक को देखने की इच्छा व्यक्त की और उन्होंने मुझे उन सभी लोकों को दिखाया, एवं आगे पूछने पर दान को इन लोकों के प्राप्त करने का साधन बताया। पुनः मैंने उनसे आत्मलोक के विषय में प्रश्न किया एवं उन्होंने मुझे आत्मज्ञान भी दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में भी इस उपाख्यान में दान की महिमा, पितृ आज्ञा पालन एवं वैराग्य का प्रतिपादन नचिकेता की कथा में किया गया है; यद्यपि कथानक में उद्दालकि को उदात्त चरित्र वाला बताने की दृष्टि से श्राप का कारण कुछ ज्यादा संगत बना दिया गया है। यद्यपि आगे हम देखेंगे कि ऋग्वेद में यह सब लाक्षणिक एवं यौगिक दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है तथापि भारतीय कथा का मूल यह है, यह स्फुट है। जिस प्रकार गीता के प्रारंभ में अर्जुन का विषाद योग वैराग्य का प्रतीक है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिये। उपनिषद् में दो अध्याय हैं, एवं प्रत्येक अध्याय तीन वल्लियों में बांटा गया है। गीता का उपजीव्य कठोपनिषद् अनेक स्थलों पर है। वस्तुतस्तु कठ, श्वेताश्वतर एवं छांदोग्य ही गीता में प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से भी कठोपनिषद् का महत्त्व है। शंकरभगवत्पादों ने प्रायः अपने भाष्यों में मंगलाचरण नहीं किया है परन्तु कठ भाष्य के प्रारंभ में 'नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च।' कहकर यम एवं नचिकेता दोनों को नमस्कार किया है। सम्भवतः इसका कारण यही है कि और किसी भी यजुर्वेदीय उपनिषद् में एक वक्ता एवं एक श्रोता रूप से ब्रह्मविद्या का वर्णन नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण के वंश ब्राह्मण के अनुसार उद्दालक आरुणि के शिष्य

स्वयं याज्ञवल्क्य कहे गये हैं। दूसरी तरफ श्वेतकेतु के पिता भी छांदोग्य उपनिषद् में उद्दालक आरुणि ही कहे गये हैं। इस प्रकार उद्दालक आरुणि का ब्रह्मविद्या में एक प्रधान स्थान रहा है। महाभारत का वर्णन सम्भवतः इसीलिये केवल रोचक नहीं, वरन् सत्य ही प्रतीत होता है। कारण विशेष से अथवा शिष्य शिक्षा के लिये क्रोध दोषावह नहीं माना जा सकता। उपनिषद् में सम्भवतः संक्षेप होने के कारण क्रोध के कारण का विस्तृत विवेचन न करके वैराग्य का ही विस्तृत विवेचन किया गया है।

: १ :

पदच्छेद :

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः आस ॥

सान्वयार्थः

वाजश्रवसः = अन्नदान की कीर्ति वाले	तस्य = उसका
उशन् = उशन् ने	नचिकेता = नचिकेता
ह = प्रसिद्ध है (कि)	नाम = नाम का
वै = निश्चित रूप से	पुत्रः = पुत्र
सर्ववेदसं = सारा धन	ह = प्रसिद्ध
ददौ = दान किया।	आस = हुआ था।

तात्पर्यार्थं

सम्भवतः उशन् नचिकेता के पिता का नाम था एवं वाजश्रवस् उसका वंशनाम था। श्रौत दृष्टि से तो सभी आख्यायिकायें विद्या स्तुति के लिये होती हैं। अतः वशकान्तौ का शत्रंत रूप उशन् बनता है अर्थात् जो कामना वाला है; एवं वाज अर्थात् अन्न के दान के निमित्त से जहां श्रव अर्थात् यश की प्राप्ति हो उसे वाजश्रवस् कहते हैं। तात्पर्य हुआ कि नचिकेता का पिता पुष्कल अन्नदान करता था परन्तु उसके हृदय में फल कामना थी। विश्वजित् सर्वमेध यज्ञ में अपनी सर्वसंपत्ति की दक्षिणा के दान का नियम है। तदनुसार उशन् वाजश्रवस् ने भी अपने सारे धन का दान किया। अथवा जो

सर्वमेध यज्ञ का फल है वही विश्वजित् यज्ञ का फल है, अतः सर्वस्व दान के द्वारा उसके फल की इच्छा की। पिता का नाम वाजश्रवस् हो तो वाजश्रवा का पुत्र होने से उसे वाजश्रवस कहा जायेगा। तब तात्पर्य होगा कि यद्यपि उसकी परम्परा में दान प्रसिद्ध था एवं तदनुरूप वह भी दान में प्रवृत्त हुआ, परन्तु उसमें दान की महिमा पूरी तरह से प्रतिष्ठित नहीं थी। इस प्रतिष्ठा के लिये ही नचिकेता में वैराग्य का प्रतिपादन बन जायेगा।

उपनिषद् का तात्पर्य होता है ब्रह्मज्ञान। जो मुमुक्षु दृष्ट एवं स्वर्ग आदि श्रुतिसिद्ध विषयों के प्रति वितृष्णा वाला होता है, वह गुरु के जिस उपदेश को प्राप्त करता है, वह उपनिषद् कही जाती है; एवं उसमें निष्ठा वाला होकर निश्चय से जो उसके साक्षात्कार पर्यन्त शीलन करता है वह सभी असम्भावना एवं विपरीत भावना से रहित होकर अमर बन जाता है। इस दृष्टि से यद्यपि कठोपनिषद् का प्रारंभ प्रथमाध्याय की द्वितीय वल्ली से होना चाहिये, तथापि विशिष्ट अधिकारी का प्रतिपादन भी प्रतिपाद्य विषय का अंग होता है, अतः कामना कलुषित चित्त वालों के उपनिषद् श्रवण में अयोग्यता प्रतिपादन के लिये यह वल्ली गतार्थ है। आगे चलकर 'ब्रह्म प्राप्तो विरजो अभूत् विमृत्युः' इत्यादि के द्वारा स्वयं उपनिषद् ही इसका प्रतिपादन करेगी। ग्रन्थराशि में तो उपनिषद् का प्रयोग साधन-साध्य के अभेद रूप से वैसा ही है जैसे 'घी ही आयु है' इत्यादि वाक्यों में। इस प्रकार विवेक, वैराग्य आदि सम्पन्न ब्रह्मविद्या का अधिकारी, प्रत्यगात्मभूत परब्रह्म विषय, तथा संसार निवृत्तिरूप अद्वितीय आत्म भाव की प्राप्ति प्रयोजन है। इस प्रकार के प्रयोजन को प्राप्त कराना ही सम्बन्ध है। चारों अनुबन्धों के ज्ञान से विद्या को हाथ में रखे हुए आंवले की तरह स्फुट करने के लिये ही यह वल्ली है। किंच, कर्म आदि के द्वारा अविद्या-निवृत्ति की असम्भावना बताना भी इष्ट है। जो लोग परम वैराग्य का आश्रयण नहीं कर सकते उनको भी सन्निहिततर होने के कारण अद्वितीय ईश्वर तत्त्व का प्रतिपादन भी ध्यान के लिये करना उपनिषद् का गौण विषय है। परन्तु उशन् वाजश्रवस् की कथा से इतना तो स्पष्ट ही निर्देश है कि जिनमें कर्मफल त्याग की इच्छा नहीं है, वे न तो सगुण ब्रह्म की उपासना के योग्य हैं, एवं न निर्गुण भाव की प्राप्ति के। इसी लिये गीता के १२वें अध्याय में भी विश्वरूप ईश्वर में मन आदि को स्थिर करने के उपाय का प्रतिपादन करके चित्त को किसी एक आलम्बन में स्थिर करना बताया, एवं उसमें भी असमर्थ को अंततोगत्वा सर्वकर्म-फल-त्याग का

ही उपदेश किया। गीता में कहीं भी कर्मफल-त्याग से नीचे के साधन का प्रतिपादन नहीं किया गया है। इस प्रकार गीता कठ का ही दृष्टिकोण अपनाती है। स्पष्ट है कि उपनिषद् के पूर्ववर्ती ब्राह्मणों में दृष्ट और अदृष्ट भोगों की कामना वालों के लिये कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया गया है। अब उपनिषदों में उनसे निवृत्ति का ही प्रतिपादन समीचीन हो सकता है। इसीलिये यद्यपि भट्ट भास्कर ने **उशन् नाम वाजश्रवसोपत्यम्** कह कर उशन् को नाम माना है, तथापि योगार्थ को प्रधान मानकर सर्वज्ञ शंकर ने उशन् का अर्थ कामयमान किया है। स्वयं श्रुति भी द्वितीय वल्ली के २०वें मंत्र में यह कहेगी कि **'अक्रतुः पश्यति'** अर्थात् निष्काम पुरुष ही उसका दर्शन करता है। क्रतु का अर्थ यज्ञ होता है। क्रतु प्रायः बाह्य यज्ञ में ही रूढ़ है। इस प्रकार ब्राह्मणों में प्रतिपादित सभी यज्ञों से रहित, एवं उनके द्वारा निर्दिष्ट यज्ञ-अधिकारसम्पन्नतारूपी शिखासूत्र से रहित ससाधन कर्मों का त्याग करने वाले श्री परमहंसों को ही मुख्य अधिकारी श्रुति प्रतिपादित करती है। पुरुषमेध और सर्वमेध यज्ञ के बाद संन्यास का विधान किया गया है। अतः उशन् वाजश्रवस् यद्यपि एक तरफ संन्यास लेने की इच्छा करता प्रतीत होता है तथापि पुत्र के मोह में बंधा हुआ भी प्रतीत होता है। इदानीं काल में भी अनेक लोग संन्यास लेने के पूर्व घर के लोगों की व्यवस्था सम्यक् प्रकार से कर जाने की इच्छा वाले देखे गये हैं। उशन् वाजश्रवस् भी इसी प्रकार का व्यक्ति प्रतीत होता है। अथवा संन्यास के द्वारा ब्रह्म लोक की प्राप्ति की इच्छा भी यहां उशन् शब्द से कही जा सकती है। यद्यपि श्रौत संन्यास में केवल ब्रह्मज्ञान ही कर्त्तव्य रूप से रह जाता है, परन्तु स्मार्त संन्यास ब्रह्म लोक की कामना से भी किया जा सकता है। जिसने इतनी कामनाओं को छोड़ दिया, वह केवल ब्रह्म लोक की कामना से वापिस जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़े इस दृष्टि से नचिकेता का प्रयास अति स्तुत्य हो जाता है। ह एवं वै निपातों के द्वारा इन सभी चीजों को श्रुति ध्वनित करती है। वाजश्रवस् मानो कर्मकाण्ड, जो ब्रह्म लोक तक ले जा सकते हैं, का प्रतीक है; क्योंकि स्मार्त संन्यास भी कर्म का अंग ही है, एवं स्मार्त संन्यास में कर्म अवशिष्ट भी रह ही जाता है। नचिकेता आत्मज्ञान अथवा मुमुक्षु का प्रतीक है क्योंकि वह केवल तत्वज्ञानमात्र का अभिलाषी है। आधुनिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि वाजश्रवस् रूढ़िवादी एवं धर्म के बाह्य अंगों का प्रतीक

है जिसमें रीति नीति को दबा लेती है। नचिकेता पिता के इस व्यर्थ बाह्य त्याग एवं पाखण्ड का पर्दाफाश करता है।

कित् इच्छायां धातु से निष्पन्न होने वाला चिकेत शब्द ऋग्वेद के दशम मण्डल में पाया जाता है। 'एतमर्थम् न चिकेत ग्रहं ग्रग्निः। सम्भवतः यही नचिकेता नाम का सर्वप्रथम संकेत है। इसमें इच्छा रहितता ग्रथवा निष्कामता स्पष्ट कही गई है। ग्रन्यत्र भी वहीं कहा है कि 'नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेत' ग्रर्थात् मुझ मनुष्य को महादेव की कोई इच्छा ग्रथवा ज्ञान नहीं था। कित् धातु का ग्रर्थ जीवन भी होता है। तब नचिकेता का ग्रर्थ होगा कि जिसे जीवन की भी इच्छा नहीं है। यम के घर भेजे जाने पर उसने सत्य के लिये जीवन का भी मोह छोड़ने का स्तुत्य ग्रादर्श प्रस्तुत किया है। सम्भवतः इन दोनों ही ग्रादर्शों का स्पष्टतः प्रतिपादन करने के लिये श्रुति यहां इस नाम का प्रयोग कर रही है। नचिकेता को उशन् वाजश्रवस् का पुत्र बताकर सकाम कर्म करते-करते ही निष्कामता उत्पन्न होती है, यह ध्वनित किया जा रहा है। पुम् ग्रर्थात् नरक से, त्र ग्रर्थात् त्राण करता है, ग्रतः पुत्र कहा जाता है। यह व्युत्पत्ति इस बात को बता रही है कि सकाम कर्म के द्वारा उत्पन्न सुखदुःखात्मक फल रूपी नरक से निष्कामता ही तारती है। इसलिये ही ईशावास्योपनिषद् में 'कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करे' का विधान करके निष्कामता का प्रतिपादन किया गया है। श्रुति पुनः मनुष्य को कर्मफल न लेपे, इसके किसी दूसरे उपाय का निषेध करती है।

शतपथ ब्राह्मण में **'तस्मिन् सर्ववेदसं दद्यात्'** एवं ताण्ड्य ब्राह्मण में **'यदि सर्ववेदसं न ददाति सर्वज्यानिजीयते'** ग्रादि से सर्व धन दान का विश्वजित् याग में न केवल विधान किया है वरन् उसमें किसी भी प्रकार के संकोच का निषेध भी। सर्वज्ञ शंकर का सप्ताम्न ब्राह्मण में कथन है कि एक ग्रास भी हम ऐसा नहीं खा सकते कि जिसके प्रति किसी दूसरे की कोई कामना न हो। ग्रतः हम जो भी भोग करते हैं, उसमें दूसरों के मानसिक ग्रधिकार का हनन तो करते ही हैं। इसी दृष्टि से विश्वजित् याग में सर्वस्व दान का विधान किया गया है, क्योंकि वही व्यक्ति इस विश्व को वस्तुतः जीत सकता है जो ग्रपनी कहने वाली कोई भी चीज़ न रहने दे। गीता में **'यस्मात् नोद्विजते लोकः'** कहकर इसी बात को स्पष्ट किया है। संन्यासी

भी एक तरह से विश्वजित् ही होता है क्योंकि वह न केवल जीवन मरण की स्पृहा नहीं करता, वरन् जीवन निर्वाहार्थ प्राप्त दण्ड, कमण्डलु, आच्छादन के प्रति भी, यह मेरा ही भोग्य है, इस भाव का त्याग करता रहता है। सर्वस्व त्याग में भी कहीं न कहीं किसी न किसी प्रकार का अपने स्वजनों के प्रति कोई भोग्य बना रहे, यह भाव पड़ा रह जाता है। जो व्यक्ति कभी भी अपने लिये वस्त्र खरीदने का विचार नहीं करता, वह भी अपने पुत्र के लिये सुन्दर पोशाक ढूंढ़ने में व्यग्र देखा जाता है। यह भी विश्वजित् याग की अपूर्णता है। बहुत से आधुनिक कह सकते हैं कि हम इतना प्रयत्न करके कमाते हैं तो छाती पर थोड़े ही ले जायेंगे, देश में ही तो छोड़ जायेंगे। परन्तु सत्य यह है कि जब तक उनका यह विश्वास रहता है कि वह धन उनके पुत्र-पौत्रों को उपलब्ध होगा, तब तक ही वे प्रयत्न करते हैं, अन्यथा केवल देश के लिये उनका प्रयत्न शिथिल ही रहता है। इसी प्रकार सर्वस्व दान करने के बाद उससे प्राप्त कीर्ति रूपी फल का त्याग करना और भी कठिन होता है। सब लोग हमारे त्याग की महिमा को जानें। न केवल धर्मशाला में पत्थर लगवाया जाता है, वरन् संन्यास आश्रम में प्रविष्ट यतिवृन्द भी अपने पूर्व आश्रम में अर्जित विद्या, धन अथवा कुल का साक्षात् अथवा परोक्ष रूप से परिचय देकर अपने त्याग के महत्त्व का प्रख्यापन इसीलिये करते हुए देखे जाते हैं। अनेक वैराग्यवान् साधु भी अपने ब्राह्मणत्व का प्रख्यापन करने के लिये दण्ड ग्रहण करने में गौरव अनुभव करते हैं। यह सब भी वाजश्रवस् की तरह विश्वजित् याग में सर्वस्व दान करने के बाद भी गौओं को बचाकर रखने की तरह ही है। आधुनिक युग में देश में स्वातंत्र्य के लिये जीवन का दान करने वाले अंततोगत्वा उसी मूल्य से मंत्रित्व पद अथवा भोगों पर अपना अधिकार जताते हैं। इस अधिकार की प्राप्ति के बाद भी जो वे देश स्वातंत्र्य के अपने बलिदान का महत्त्व जताना चाहते हैं, वह उपहासास्पद ही हैं। यदि वाइसरीजल लाज एवं कमाण्डर इन चीफ के गृह के लोभ का संवरण कर लिया जाता तो उससे प्रसूत जो एक वातावरण उत्पन्न होता, वह वर्तमान भोग परायणता को बीजावस्था में ही नष्ट कर देता। 'ददौ' कहकर श्रुति यही ध्वनित करती है कि देने पर भी न दिया जाये, ऐसी स्थिति सम्भव है।

: २ :

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा आविवेश । सः अमन्यत ।

दक्षिणासु = दक्षिणाओं के	तं = उसको
नीयमानासु = (देने के लिये) लाये जाने पर	श्रद्धा = श्रद्धा ने
कुमारं = कुमार	आविवेश = आविष्ट किया ।
सन्तं = होने पर (भी),	सः = उसने
ह = प्रसिद्ध है कि,	अमन्यत = सोचा ।

सर्वस्व दान के अनंतर उसकी दक्षिणा के रूप में प्राप्त द्रव्यों को दूसरे पुरोहित एवं सभासदों को देने के लिये जब वाजश्रवस् ने आज्ञा दी तब उन दक्षिणाओं की हीनता को देखकर नचिकेता के मन में श्रद्धा उपजी। तात्पर्य है कि सकाम कर्मों में पुरोहितों को दक्षिणा देते समय प्रायः लोभ देखा जाता है एवं जो विचारशील होते हैं उन्हें यह खटकता है। आज भी विवाह कर्म में सबसे अधिक न्यूनता पुरोहित दक्षिणा में ही देखी जाती है। अथवा सब चीजों के खर्चे बढ़ जाने पर भी गंगा के किनारे गोदान की दक्षिणा सवा रुपये से अधिक बढ़ाना कोई नहीं चाहता। सम्भवतः मंदिरों को छोड़कर अब पांच पैसे भिखारी भी लेना अस्वीकार कर देता है। कर्म के प्रति यदि श्रद्धा है तो ऐसी बुद्धि नहीं हो सकती। नचिकेता के चरित्र में सर्वप्रथम यही दिखाने का प्रयास किया जा रहा है।

इस प्रकार यदि सर्वज्ञ शंकर का समग्र वैदिक कथाओं के प्रति विद्यास्तुति मात्र तात्पर्य लिया जाये तो वे कथायें केवल किसी एक काल की ऐतिहासिक घटनायें न होकर सभी देश कालों में होने वाली आध्यात्मिक घटनायें बन जाती हैं। वाजश्रवस् सकाम कर्म का प्रतीक है। जब सकाम कर्म अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं तब उनसे होने वाला कर्मजन्य दुःख तथा उनके फलों में क्षय, अतिशय आदि दोष मानो पुत्र रूप से नचिकेता के वैराग्य रूप को धारण करता है। यजुर्वेद में **'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते'** जो कहा गया है वही मानो यहां कथा के रूप में कहा जा रहा है। इस दृष्टि से नचिकेता का जन्म

मानो वाजश्रवस् का ही दुसरा जन्म है। सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण (३-११) स्पष्ट ही कहता है 'त्रिर्ह वै पुरुषो म्रियते त्रिर्जायते.........प्रथमं ....यद् रेतःसिक्तं.........आशामभिजायते। ....द्वितीयं यद्दीक्षते .....दक्षिणामभिजायते। ....तृतीयं यन्म्रियते...स श्रद्धामेव अभिसंभवति।' माता के गर्भ में प्रथम जन्म है; दीक्षा द्वितीय है जिससे दक्षिणा में उत्पन्न होता है; एवं देहाध्यास का त्याग तृतीय है जिसमें श्रद्धा को प्राप्त करता है। इस दृष्टि से देखने पर 'दक्षिणासु नीयमानासु' का तात्पर्य केवल सामान्य दक्षिणा नहीं रह जाता। सकाम कर्मों के फलस्वरूप जो वैराग्य हुआ उसके कारण वाजश्रवस् ने सर्वस्व दान के द्वारा सर्वकर्म संन्यास प्राप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु कर्मों के द्वारा जो इन्द्रियां (गो) शिथिल हो गई हैं, वे संन्यास करने पर भी दीक्षा के आगे आने वाली ब्रह्मवृत्ति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पातीं। संन्यास में प्रथम तो अपना सर्वस्व छोड़ दिया जाता है, परन्तु फिर शम, दम आदि जो इन्द्रिय और मन के साधन हैं, की सहायता से बुद्धि द्वारा त्वं पदार्थ के विवेक में लगना पड़ता है। अगले मंत्र से बताया जायेगा कि वाजश्रवस् में यह सामर्थ्य नहीं थी। अतः नचिकेता का कहना है कि पिताजी! आप यद्यपि सर्वकर्मसंन्यास का प्रसंग चला रहे हैं, तथापि इस वृद्धावस्था में आपके द्वारा यह सम्भव नहीं है। 'आत्मा वै पुत्र नामासि' इस श्रुति के अनुसार आप यदि मुझे इधर लगावें तभी यह काम आपका सर्वस्व दान कहा जा सकेगा। इस दृष्टि से 'नीयमानासु दक्षिणासु' का तात्पर्य हो गया कि पिता के करणसंघात को आत्मज्ञान के कार्य में अर्थात् शम, दम, श्रवण, मनन आदि में ले जाये जाते हुए देखकर उसके मन में श्रद्धा का प्रवेश हुआ। वस्तुतस्तु स्वयं वाजश्रवस् ही जब अपनी दक्षिणाओं को इन कार्यों को करने में असमर्थ देखते हैं, तब मानो नचिकेतात्मक वैराग्य रूपी अपने पुत्र से उसमें स्वयं ही श्रद्धा का प्रवेश हो जाता है जो उसका तीसरा जन्म है।

कु—मार अर्थात् जो अपने आपको मरने से बचाने में अधिक शक्ति सम्पन्न न हो: प्राचीन काल में पांच वर्ष की उमर तक बच्चे का जन्मपत्र भी नहीं बनाया जाता था क्योंकि माना जाता था कि वह कभी भी मर सकता है। इसीलिये 'कुमारः पंचहायनः' इत्यादि कोश वचनों के अनुसार कुमार का अर्थ पांच वर्ष का बालक होता है। नचिकेता की इस अल्प आयु के अन्दर वैराग्य की पूर्णता दिखाकर कठ ऋषि यह प्रतिपादन

करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि वैराग्य तीन आश्रमों के भोगने के अनन्तर ही होता है, ऐसा स्मृतिकारों का जो प्रतिपादन है, वह असंगत है। वाजश्रवस् दो आश्रमों का भोग करके भी, एवं सर्वकर्मसंन्यास की तरफ प्रवृत्तमान होकर भी पूर्ण वैराग्य वाला नहीं बन पाया है, जबकि नचिकेता इस अल्पायु में ही उस भाव को प्राप्त हो गया। ऐतिहासिक युग में शंकर आठ वर्ष की उमर में पूर्ण वैराग्य से सम्पन्न हो गये तथा ज्ञानसंबंधर् एवं ज्ञानेश्वर क्रमश: १६ एवं १८ वर्ष की उमर में न केवल पूर्ण वैराग्य सम्पन्न हो गये, वरन् इहलीला का संवरण भी कर गये। इस प्रकार जाबाल शाखा में कहे हुए **'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'** ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी बन जाये, का निर्देशक यह कुमार शब्द है।

अथवा कुत्सित (घृणित) कर दिया है मार अर्थात् काम जिसने, वह कुमार है। बचपन में काम सुषुप्तावस्था में रहता है, इसलिये भी बच्चे को कुमार कहा जाता है। नचिकेता में तो यह भाव स्पष्ट ही है।

नचिकेता का भाव पिता में दोष-दृष्टि करने का नहीं था वरन् उनका कल्याण करने का था। इसके द्वारा श्रुति प्रतिपादित कर रही है कि अपने से बड़े की गलती देखना यद्यपि छोटे का काम नहीं है, तथापि यदि वह अकल्याण मार्ग में जाये तो धैर्य तथा नम्रता पूर्वक उसे उस मार्ग से सन्मार्ग में प्रवृत्त करने का अधिकार तो छोटे को भी होता ही है। आजकल जो अनेक बार बड़े छोटे को अधर्म के कार्य में लगाते हुए बड़ों की आज्ञा मानने वाली शास्त्राज्ञा की आड़ लेते हैं, वह इस श्रौत आख्यान के द्वारा स्वतः ही खण्डित हो जाती है। श्रद्धा का अर्थ अंधविश्वास नहीं हुआ करता, वरन् यह वह आंतरिक भाव है जो प्रत्येक क्रिया के अध्यात्म रहस्य को जानना चाहता है, एवं केवल बाह्य क्रियाकाण्ड से संतुष्ट न होकर उसे एक जीवित आस्था का रूप देने का प्रयास करता है। यह श्रद्धा ऋग्वेद में देवी रूप से वर्णित की गई है। **'श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां माध्यंदिनंदिवि'** इत्यादि मंत्र इसमें प्रमाण हैं। अतः यहां पर भी श्रद्धा को प्रविष्ट होने में स्वतंत्र मानकर प्रथमा का प्रयोग किया गया है। श्रद्धा कुमार में प्रविष्ट हुई, यह भाव है। निष्काम कर्म में श्रद्धा का बीज पड़ा रहता है, यह कहना श्रुति का तात्पर्य है। जिस प्रकार सकाम कर्म बिना कामना के सम्भव नहीं, उसी प्रकार निष्काम कर्म बिना श्रद्धा के सम्भव नहीं है। प्रायशः लोगों को यह शंका

उठती है कि यदि कामना नहीं होगी तो मनुष्य कर्म क्यों करेगा ? उसका उत्तर यहाँ श्रुति स्पष्ट रूप से देती है कि कर्म अथवा प्रवृत्ति के प्रति श्रद्धा भी वैसा ही कारण है जैसी कामना। आ पूर्वक विश् धातु से यह कहना चाहते हैं कि श्रद्धा किसी एक अंग में हो और अन्य अंगों में न हो यह सम्भव नहीं हैं। अर्थात् जब श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तो वह मनुष्य के सभी कार्य-करण-संघात को व्याप्त कर जाती है, एवं मनुष्य के जीवन के दृष्टिकोण को अध्यात्म के प्रति पूर्णतः स्पन्दित कर देती है। प्रायः लोग यह कह दिया करते हैं कि हमारी शास्त्र के एक अंश में तो श्रद्धा है, दूसरे में नहीं। परन्तु यह वस्तुतः असम्भव है। सर्वज्ञ शंकर इसीलिये श्रद्धा का अर्थ आस्तिक्यबुद्धि करते हैं। तात्पर्य है कि किसी भी विषय में यह निश्चय होना कि 'ऐसा है ही' चाहे हम 'कैसे है' इसे न जान पायें, श्रद्धा का रूप है। यहाँ इस आस्तिक्य बुद्धि का हेतु बताते हुए वह कहते हैं कि पिता की हित कामना से प्रयुक्त होकर यद्यपि वह अभी प्रजाओं को उत्पन्न करने की शक्ति से भी रहित था, तथापि उसमें श्रद्धा का प्रवेश हो गया। इस दृष्टि से भाष्य में प्रयुक्त प्रजनन शक्ति का अर्थ केवल दैहिक प्रजनन शक्ति नहीं समझना चाहिये, वरन् उसका श्रवण आदि के द्वारा अभी आगे विचार करने में असामर्थ्य समझना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि छोटा बच्चा स्वयं किसी बात के विचार करने में समर्थ न होने पर भी श्रद्धा वाला अधिक होता है। वस्तुतः मूल में कुमार होते हुए ही कहा गया है, न कि कुमार होते हुए भी। इस अर्थ में हमने गोपालेन्द्र का सहारा लेकर यद्यपि 'भी' अर्थ किया है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर भाष्य एवं उपनिषद् 'ही' ही ध्वनित करते हैं। सर्वज्ञ शंकर तो बाल एव कहकर इसे और भी स्पष्ट कर देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी **'बाल्येन तिष्ठासेत्'** का भाष्य करते हुए आचार्य-पाद कहते हैं कि राग द्वेष का न होना ही बाल भाव है। वही तात्पर्य यहां पर भी कुमार का समझना चाहिये। यद्यपि पिता सर्वस्व त्याग कर रहे हैं परन्तु फिर भी जैसे लहसन का छोंक लग जाने पर बर्तन को मांजने पर भी उसकी गंध सर्वथा नहीं जाती, उसी प्रकार एक बार गार्हस्थ्य आश्रम में राग द्वेष का संचय हो जाने पर फिर उनकी गंध बची ही रह जाती है और वह श्रद्धा में रुकावट डाल देती हैं। नचिकेता में अभी यह दोष नहीं आ पाया था। अतः उसकी आस्तिक्य बुद्धि सर्वथा स्वतंत्र थी, यही श्रद्धा का सर्वतो-भावेन प्रवेश है।

दक्षिणा ऋत्विक् और सदस्यों को दी जा रही थी। इससे भाष्यकारों का तात्पर्य हैं कि प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् के आधार पर अहंकार रूपी अध्वर्यु, वेदरूपी ऋत्विक् एवं पंचतन्मात्रारूपी सदस्यों के प्रति सर्वत्याग रूपी दक्षिणाओं का दान हो रहा था। तात्पर्य है कि वेद में प्रतिपादित तत् पदार्थ, तथा अहं में अनुभूत त्वं पदार्थ में से त्याग लक्षणा के द्वारा पंच तन्मात्राओं से उत्पन्न उपाधि का त्याग करके, भाग लक्षणा के द्वारा चेतन मात्र का ग्रहण करना है। इसी को वेदांत में भाग-त्याग लक्षणा कहा है। किंच, पंच तन्मात्राओं में से नामरूप उपाधि का त्याग करके सन्मात्र का ब्रह्म से ऐक्य प्रतिपादन रूपी बाधसमानाधिकरण भी यहां इष्ट है। यही वास्तविक श्रौत तात्पर्य है। यद्यपि मूल श्रुति में देने वाली चीजों का नाम कहीं भी नहीं लिया है, तथापि अग्रिम मंत्र में कथित विशेषणों से गौओं की प्रतीति होती है। अतः भगवान भाष्यकारों ने दक्षिणाओं को गौयें स्वीकार किया है, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि भाष्योक्त गो शब्द गाय रूपी जानवर का वाचक ही माना जाये। प्रकरण के अनुरोध से गो के अनेक अर्थ निरुक्त ने स्वीकार किये हैं, जिनमें मन और इन्द्रिय भी एक प्रधान अर्थ है। ऋग्वेद की बाष्कल शाखा में स्पष्ट ही कहा है 'न मां अश्नाति चरिता गोभिराभिः'। इस दृष्टि से पूर्वोक्त इन्द्रिय और मन के द्वारा अज्ञान नाश के लिये किया हुआ प्रयत्न गो शब्द से कहा जाना उपयुक्त ही है।

नचिकेता ने मनन किया अर्थात् बाह्य कर्मों के आंतरिक भाव के ऊपर विचार किया। बाह्य कर्म यदि नहीं रहता है तो फिर जिस प्रकार लिपि के अभाव में विचार की प्रवृत्ति नहीं होती, वैसी ही स्थिति बन जाती है। बाह्य कर्मकाण्ड प्रतीक हैं, आध्यात्मिक मन वाणी से अतीत रहस्य का प्रतिपादन करने की लिपि हैं। परवर्ती काल में यज्ञों का स्थान मूर्ति पूजा ने ले लिया अथवा योगिक अभ्यासों ने। परन्तु वस्तुतः वे सब प्रतीक ही हैं जिनके द्वारा तत्त्वोपदेश की सम्भावना हो पाती है। आधुनिक युग में अनेक लोग बाह्य प्रतीकों का सर्वथा अपलाप करना चाहते हैं, परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि प्रतीकों के अभाव में तो शब्द रूपी प्रतीकों का भी प्रयोग नहीं होने से उपदेश ही असम्भव हो जायेगा। प्रायः करके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का संघर्ष तत्व का संघर्ष न होकर केवल प्रतीकों के सत्यत्व का संघर्ष होता है। इसी दृष्टि से विचारशील इस संघर्ष को समाप्त करने के लिये

कभी-कभी प्रतीकों में परिवर्तन ले आते हैं, जो इष्ट भी हो सकता है। परन्तु देखा यह जाता है कि पुराने प्रतीकों के साथ-साथ नये प्रतीकों का या तो सम्मेलन होकर प्रतीक अधिक गुणित हो जाते हैं, एवं एक इतने विशाल कर्मकाण्ड का साम्राज्य सामने आ जाता है जिसमें यदि प्रतीक को समझने का प्रयत्न किया जाये तो पुनरुक्तियां स्पष्ट होने लगती हैं, एवं प्रायशः तो प्रतीकात्मता ही छिप जाती है। वैदिक काल के प्रतीकात्मक यज्ञ अत्यंत सरल थे, ब्राह्मण काल में कर्मकाण्ड का अत्यधिक विस्तार हुआ, एवं स्मृति पुराण काल में आते-आते तो उसने भयंकर रूप ले लिया। व्रत, उपवास, जागरण, तीर्थ आदि भी वस्तुतः प्रतीक ही हैं, परन्तु ये भी अत्यधिक विस्तृत हो जाते हैं, तब प्रतीकात्मता को ही खो बैठते हैं, और जीवन के ही प्रतिद्वन्द्वी बन जाते हैं। 'अतः प्रतीकों का परिवर्तन इस दृष्टि से उपादेय नहीं माना जा सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि देश, काल, अवस्था के भेद से प्रतीकों का जीवन समाप्त होने पर यदि अन्य प्रतीकों का प्रवेश नहीं कराया जाता तो प्राचीन प्रतीक अपनी उपादेयता खो देते हैं। कृषि प्रधान युग में वृष्टि जितनी ही अधिक उपयोगी होती है एवं प्रतीकरूपता को धारण कर सकती है, नागरिक संस्कृति में वृष्टि उतनी ही विपरीत प्रतीत होती है। बादलों को देखते ही ग्रामीण सु-दिन समझता है एवं नागरिक दुर्दिन। इसी प्रकार अन्य प्रतीकों में भी समझ लेना चाहिये। सर्द मुल्कों के नरकों में इसीलिये शीत की अधिकता पाई जाती है एवं गरम मुल्कों के नरकों में तरह-तरह के जलाने की यंत्रणायें। अतः देश, काल, अवस्थाओं के परिवर्तन से प्रतीकों का परिवर्तन अवश्यंभावी है, परन्तु यथासम्भव प्रतीकों में एक सातत्य भाव बनाये रखने का भी प्रयत्न होना चाहिये। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रतीक भिन्न-भिन्न बने रहें, लेकिन उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्य की एकता पर यदि आवश्यक बल दिया जाता रहे तो सम्प्रदायों का भेद दूर हो सकता है। यह तत्व हमारे वैदिक ऋषि भी पहले ही समझ चुके थे एवं इंद्र, अग्नि, मित्र, वरुण इत्यादि नामों से एक ही आत्मा के प्रतिपादन पर उन्होंने काफी प्रकाश डाला। मनुष्य का स्वभाव है कि बाह्य आलम्बनों को पकड़कर उनके भावों को भूल जाता है। अतः कालान्तर में आचार्य श्री कृष्ण ने पुनः इस बात पर जोर दिया कि सभी देवताओं को ग्रहण करने वाला वह एक ही परमात्मा है। इसी प्रकार पौराणिक धर्मों के द्वारा वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य आदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए

तत्कालीन स्मार्त धर्म को, प्रतीक भेद रहते हुए भी तथ्य की एकता के द्वारा आचार्य शंकर ने अपने स्तोत्रों द्वारा स्वीकृति दी। नचिकेता यह देख रहा था कि बाह्य कर्मकाण्ड के प्रतीक रूप गौओं का दान करने पर भी उसके आंतरिक भाव को पिता नहीं समझ पा रहे थे और यही उसके मनन का बीज था। श्रुति यह भी बताना चाहती है कि जब तक कोई बाह्य कारण उपस्थित नहीं होता, तब तक मनुष्य में मनन करने की सम्भावना ही नहीं बनती। मानव स्वभाव है कि समस्या उठने पर ही विचार प्रवृत्त होते हैं। अतः बाह्य कर्मकाण्ड की आवश्यकता का प्रतिपादन यहाँ स्पष्टतः इष्ट है।

: ३ :

पीतोदकाः जग्धतृणाः दुग्धदोहाः निरिन्द्रियाः।
अनन्दाः नाम ते लोकाः तान् सः गच्छति ताः ददत् ॥

ताः	=उन	सः	= वह (दाता)
पीतोदकाः	=पानी पी चुकी हुईं,	अनन्दाः	= सुखशून्य
जग्धतृणाः	=घास खा चुकी हुईं,	नाम	= नाम वाले
दुग्धदोहाः	=दूध दुहा चुकी हुईं,	ते	=वे (जो प्रसिद्ध)
निरिन्द्रियाः	=ब्या चुकी हुईं को	लोकाः	=लोक (हैं)
ददत्	=देते हुए	तान्	=उनको
		गच्छति	=जाता है।

नचिकेता के विचार का विषय बताते हैं। पिता जिन दक्षिणाओं को दे रहे थे, वे कैसी थीं? यद्यपि श्रुति स्पष्टतः गाय का निर्देश नहीं कर रही है परन्तु भाष्य से उसका अध्याहार करके समझ लेना चाहिये। जो गायें इस जीवन में जितना भी पानी पी सकती थीं, पी चुकी थीं, अर्थात् उनमें आगे पानी पीने के लिये जाने की भी सामर्थ्य नहीं रह गई थी। और न वे घास चरने के लिये ही प्रवृत्ति करने में समर्थ थीं। जब उनके आगे बछड़े ही नहीं हो सकते थे तो दूध दुहने की तो सम्भावना ही नहीं हो सकती थी। अतः तात्पर्यार्थ यह है कि वे गायें निष्फल थीं, एवं जिनको दी जा रही थीं उनके लिये वे भार ही बन सकती थीं। दान का तात्पर्य जिसको दिया जाये उसको लाभ पहुंचाना होता है, दाता के बोझ को समाप्त करना

नहीं। परन्तु नचिकेता देख रहा था कि यहाँ यही हो रहा है। इन गायों की अब केवल सेवा ही हो सकती थी, क्योंकि उनसे जो भी दूध दुहना, या बछड़े इत्यादि के द्वारा बैल इत्यादि की प्राप्ति होना सम्भव था, वह सब समाप्त हो चुका था। गोपालेन्द्र तो यहां तक कहते हैं कि उनका गोबर भी इतना पतला हो चुका था कि वह भी न कण्डे थापकर जलाने के काम आ सकता था, और न खाद के। इस प्रकार की गायों को दक्षिणा में प्राप्त करने वाले ऋत्विक् और सदस्य दुःख ही प्राप्त कर सकते हैं, एवं जिस दक्षिणा से दक्षिणा पाने वाला दुःखी होगा, उसके फलस्वरूप जो फल मिलेगा, वह भी दुःख ही हो सकता है। वस्तुतः दक्षिणा तो ऋत्विक् आदियों के पारिश्रमिक का ही एक रूप होता है। मीमांसा तो यह मानती है कि जब तक दक्षिणा नहीं दी जाती, तब तक कर्म फल कर्म करने वाले के ही पास रहता है। यद्यपि यह मीमांसा का एकदेशीय मत है, फिर भी युक्ति संगत है। अतः दक्षिणा केवल दान ही नहीं है, और इस दृष्टि से विचार करने पर वाजश्रवस् का कार्य और भी अधिक निंदनीय सिद्ध होता है। जब श्रुति ने यज्ञों की दक्षिणा के रूप में गायों का विधान किया तो स्पष्टतः श्रुति का तात्पर्य था कि ऐसी गायें दी जायें जो बछड़े, बछियों एवं दूध इत्यादि के द्वारा लेने वाले का उपकार कर सकें। परन्तु यह भाव ही वाजश्रवस् ने मानो छोड़ दिया। आज भी देखने में आता है कि अनेक लोग मन्दिरों में खोटे सिक्के या झूठे नोट चढ़ाया करते हैं। इस प्रकार नचिकेता ने राग द्वेष रहित हो उत्साह के साथ बाह्य कर्मकाण्ड की जीवनशून्यता का विचार किया, एवं समझा कि इस प्रकार का अध्यात्मरहित कर्म सर्वथा अनुपयुक्त है। कहाँ तो सर्ववेदसं अर्थात् सारे धनों का त्याग और कहाँ वाजश्रवस् का यह कर्म। नचिकेता ने सर्ववेदसं का ठीक-ठीक भाव समझा कि इसका अर्थ पूर्ण त्याग अर्थात् अपने आपको पूरी तरह से दे देना है। इस दृष्टि से विचार करने पर कह सकते हैं कि स्वाध्याय, यज्ञ आदि के द्वारा मन और मनुष्य की इच्छा समष्टि के उद्देश्यों से एक हो जानी चाहिये जो कि शरणागति का ही वास्तविक रूप है। समग्र विश्व को एक परमात्मा ही नियंत्रित करके चला रहा है। अतः हम अपनी व्यक्तिगत इच्छा एवं वासनाओं का त्याग करके अपने आपको उस प्रवाह के अनुकूल बना लें, यही कर्मकाण्ड का अंतिम उद्देश्य है और निष्काम कर्म का वास्तविक स्वरूप है। जब तक इस चीज

को नहीं समझा जाता तब तक मनुष्य दुःखानुभवों को ही करता रहता है। यही अनंद लोकों के द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है।

वस्तुतस्तु पीतोदका कहने के बाद निरिन्द्रिय कहना एक तरह से अपकर्ष (Anticlimax) ही है। अतः श्रुति किसी विशेष भाव को ध्वनित करती हुई प्रतीत होती है। जीवन के यौवन और प्रौढ़ावस्था में ही कार्य-करण-संघात प्रवृत्ति या निवृत्ति दोनों में से किसी भी उद्देश्य को पूर्ण करने में समर्थ होते हैं। स्मार्त दृष्टि से चतुर्थ आश्रम रूपी संन्यास वस्तुतः ज्ञान प्राप्ति में उपकारी नहीं बन सकता क्योंकि तब साधना की सामर्थ्य ही नहीं रह पाती। प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य अवस्था में वेदों का स्वाध्याय होकर परोक्ष ज्ञान हो गया होता था तथा गृहस्थाश्रम में भी अत्यंत नियमित जीवन व्यतीत करने के कारण निवृत्ति प्रधानतः बनी रहती थी। अतः केवल कुछ कार्य ही अवशिष्ट रह जाता था तो संन्यास से कोई लाभ भी हो जाता था। बाद में जब क्षत्रिय और वैश्यों की प्रवृत्ति राज्य और कृषि, व्यापार इत्यादि में अधिक बढ़ी, एवं उनका स्वाध्याय भी न्यून न्यूनतर होता चला गया, तो चतुर्थ आश्रम रूपी संन्यास का उनके लिये निषेध भी कर दिया, क्योंकि उस उमर में स्वाध्याय करते हुए पूर्ण प्रवृत्ति का समूल नाश करना असम्भव हो जाता था। ब्राह्मण स्वाध्याय भी पूरी तरह से करता था, एवं गृहस्थाश्रम में भी उसका कर्त्तव्य यज्ञ-याग आदि होने से, और जीवन में भी त्याग और तप निष्ठा होने से चतुर्थ आश्रम का अधिकारी बन सकता था। पुनः कलियुग के अन्दर ब्राह्मणों में भी बहिर्मुखता की अधिकता एवं स्वाध्यायहीनता देखकर चतुर्थ आश्रम रूप संन्यास को कलिवर्ज्यों में गिना दिया। इस प्रकार चतुर्थ आश्रम रूपी संन्यास का इतिहास यह बताता है कि अंतिम काल में यदि साधना की सम्भावना नहीं रहती तो यह व्यर्थ हो जाता है। आधुनिक काल में अनेक लोग मरणासन्न अवस्था में आधे होश और आधे बेहोशी में जो अपूर्व उत्पत्ति के लिये संन्यास ग्रहण करने का आडम्बर रचते हैं, वह एक चिंत्य प्रयोग ही माना जायेगा। किसी भी हालत में श्रौत संन्यास तो वह है ही नहीं, एवं न उससे ज्ञान की प्राप्ति ही हो सकती है। संन्यासी के प्रतिदिन की प्रार्थना के मंत्रों में सभी इन्द्रियों की पुष्टि के लिये प्रार्थना है, एवं इसीलिये सर्वज्ञ शंकर स्पष्टतः कर्म अनधिकारी को संन्यास का भी अनधिकारी बताते हैं। मीमांसा कृत कर्म

अनधिकारियों को संन्यास अधिकार की व्यवस्था व विकल्प का वह ऊहापोह से खण्डन करते हैं। इस दृष्टि से नचिकेता यह विचार कर रहा है कि पिता जी का कार्य-करण-संघात अब ऐसा हो गया है कि जिसके द्वारा वह आत्मज्ञान की साधना में सफल नहीं हो पायेंगे, और इसलिये उनका किया हुआ संन्यास उन्हें दुःखप्रद ही रहेगा। आज भी अनेक लोग जीवन की समग्र शक्तियों को अपने घर तथा बाल बच्चों को देने के बाद सेवा-निवृत्त-काल में अपने आपको किसी आश्रम के अर्पण करना चाहते हैं, एवं आश्रम के लिये जितना वे कर सकते हैं उससे अधिक आश्रम ही उनकी सेवा करे, ऐसी स्थिति बन जाती है। इतने पर भी वे अपने मन में समझते हैं कि मैं अपनी सेवाओं का दान कर रहा हूँ। बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति वाजश्रवस् की भी नचिकेता देख रहा था। उसकी इन्द्रियां कार्य करने में समर्थ नहीं थीं, इतना ही नहीं, उसकी वासनायें रजोगुण से प्रसूत होकर पीली पड़ गई थीं (पीतोदका)। वासनाओं के अर्थ में उदक का प्रयोग कई जगह मिलता है। योगवासिष्ठ में भी **'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्'** इत्यादि में यही निर्देश है। अतः शुद्ध वासनाओं का अभाव ही पीतोदका से ध्वनित है। तृण अदने धातु से निष्पन्न हुआ तृण शब्द, जो भोगे जायें उन कर्म फलों को बताता है। अतः जग्धतृणा का अर्थ हुआ, जितना भी तीव्र कर्म फल रूपी सुखों का भोग था, वह सारा भोग लिया गया है अतः अब पुण्य अवशिष्ट नहीं रह गये हैं। जिस प्रकार पीतोदका के द्वारा शुद्ध वासनाओं का अभाव बताया, उसी प्रकार जग्धतृणा के द्वारा शुद्ध कर्म फलों का अभाव भी बता दिया। अथवा **'यत् पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां'** के द्वारा बृहदारण्यक में बताये हुए भूत यज्ञ का भी यहां ग्रहण हो सकता है। अर्थात् अब वे इन्द्रियां अन्य भूतों से समानता रखने वाली भोजन पाने के लिये भी प्रवृत्त होने में समर्थ नहीं हैं। तात्पर्य है कि इन्द्रियाँ इतनी शिथिल हो गई हैं कि शरीर निर्वाह के लिये प्रवृत्ति भी नहीं कर सकतीं। उसके लिये भी सेवा की अपेक्षा है। संन्यासी का प्रधान अंग भिक्षाटन है, अतः इन दो विशेषणों के द्वारा उसका भी अभाव बता दिया। जो अपनी देह मात्र की आवश्यकताओं को भी पूर्ण नहीं कर सकता, वह अन्य साधना कर सकेगा, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। मनुष्य जो लौकिक कर्म करता है उससे जो अपने साथियों को सहायता मिलती है, उसे दूध कहा जाता है। लोक में भी जब कोई किसी से सारा काम निकाल लेता है तो कह देते हैं

कि उसने उसको दुह लिया। अतः दुग्धदोहा का अर्थ है कि गृहस्थाश्रम के अन्दर उससे जितना भी कर्म हो सकता था, वह उसके घर वालों ने उससे निकाल लिया है। इससे ध्वनित किया जा रहा है कि उसमें अब कुछ करने का उत्साह भी नहीं बच गया है। इस दृष्टि से देखने पर ये तीनों विशेषण निरिन्द्रियाः को ही स्पष्ट करने वाले हो अपकर्ष लाने वाले नहीं रह जाते हैं, एवं आंख की कमजोरी, सुनने की कमजोरी, चलने की कमजोरी, पकड़ने की कमजोरी, बोलने की कमजोरी आदि सभी इन्द्रियों की कमजोरियाँ जो वृद्धावस्था में आती हैं, उनको विशेष रूप से कहने के लिये निरिन्द्रियाः पद गतार्थ हो जाता है। तात्पर्य हुआ कि जो इस प्रकार की जीर्णावस्था में अपने कार्यकरण संघात को संन्यास के द्वारा परमेश्वर को देना चाहता है, उसे सिवाय दुःख भोगों के और किसी चीज की प्राप्ति नहीं हो सकती। संन्यास वीरों का मार्ग (वीराध्वा) है। यह जाबाल उपनिषद् और महाभारत, तथा अन्यत्र भी अनेक जगह प्रतिपादित किया गया है। जिसमें इस वीरता का अभाव होगा, वह संन्यास से दुःखी ही होगा। इसीलिये वैराग्य की न्यूनता आदि होने पर संन्यास लेकर भी मनुष्य या तो पुनः उल्टी चाटने की प्रवृत्ति की तरह बहिर्मुख हो जाता है, अथवा अन्दर ही अन्दर दुःख पाता रहता है। इस अर्थ को ग्रहण करने के लिये बृहदारण्यक का '**अनंदा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसो बुधा जनाः**' मंत्र विशेष उपयोगी है। वहाँ स्पष्ट ही कहा गया है कि अविद्वान् अर्थात् ब्रह्म का परोक्ष अनुभव भी नहीं कर पाये, और अबुधाः अर्थात् अपरोक्ष अनुभव नहीं कर पाये, वे संन्यास ग्रहण करने पर भी सुख रहित अनुभवों को ही प्राप्त करते हैं। इस मंत्र की प्रथम पंक्ति मानो अविद्वान् और अबुध को ही स्पष्ट करने के लिये है। लोक का अर्थ तो कर्म फलों का भोग ही भाष्यकार शंकर स्वीकार करते हैं। यहां ददत् अर्थात् देते हुए में जो वर्तमान कालिक ध्वनि है, एवं पूर्व मंत्र में ददौ में जो भूतकालिक ध्वनि है, वह यही बताने के लिये है कि उसने बाह्य धनों का तो त्याग कर दिया था परन्तु अब वह दक्षिणा रूप से अपने जीवन को परमेश्वर के लिये देने जा रहा है। निरिन्द्रियाः शब्द का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण के '**बहवो मर्त्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतो अस्माल्लोकात् प्रयन्ति**' आदि स्थलों में स्पष्टतः ही सुकर्म से रहित ब्राह्मण बन्धुओं की निष्फलता द्योतित करने के लिये प्रयुक्त है। तैत्तिरीय ब्राह्मण तो 'इन्द्रियं

वं गर्भः' कहकर स्पष्ट ही बताता है कि जहां श्रवण के द्वारा ज्ञान रूपी गर्भ धारण करने की सामर्थ्य का अभाव है, वहीं निरिन्द्रियाः शब्द का प्रयोग सार्थक है। जब तक वृत्ति ब्रह्म को अपने में गर्भ रूप से धारण नहीं करेगी, तब तक ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी कहां ? अतः जिसमें यह सामर्थ्य नहीं रह गई है वही यहाँ निरिन्द्रिय पद का मुख्य विषय है। इन दोनों मंत्रों से श्रुति यह स्पष्ट करती है कि जब तक अपनी सभी इन्द्रियां समर्थ हों, तभी आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये। अयोग्य दक्षिणाओं को देने से स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति असंभव है, यह अवान्तर तात्पर्य तो स्पष्ट ही है।

: ४ :

सः ह उवाच पितरं तत* कस्मै मां दास्यसि इति। द्वितीयं। तृतीयं। तं ह उवाच मृत्यवे त्वा ददामि इति।

सः	=	उसने	इति	=	ऐसा
पितरं	=	पिता को	द्वितीयं	=	दुबारा,
उवाच	=	कहा	तृतीयं	=	तिबारा (कहा)।
ह	=	था,	त्वा	=	तुझे
तत्	=	'हे पिता !	मृत्यवे	=	मृत्यु को
मा	=	मुझे	ददामि	=	देता हूँ
कस्मै	=	किसको	इति	=	ऐसा
दास्यसि	=	दोगे'।	तं	=	उसको
			उवाच	=	कहा
			ह	=	था।

इस प्रकार यज्ञ के सम्यक् प्रकार से असम्पन्न होने के कारण पिता के अनिष्ट होने की आशंका को दूर करने के लिये मैं पुत्र आत्मदान के द्वारा भी उस यज्ञ को सम्पन्न कर सकूं, इस भाव से नचिकेता स्वयं अपने को दान का पात्र बताता है। उसकी ध्वनि है कि जब आपको अपना सर्वस्व दान करना है तो मैं भी पुत्र होने के कारण आपकी सम्पत्ति हूँ और मेरा भी

* तात·······मां दास्यसि।

दान करें । उसके इस भाव को पिता नहीं समझा, एवं बच्चा ऐसे ही बोल रहा है, ऐसा मानकर उसकी उपेक्षा की । तब भी जब उसने दुबारा, तिबारा इसी बात को कहा तो 'ऐसा कहना बच्चे को शोभा नहीं देता', इस भाव से रुष्ट पिता ने लोकोक्ति के अनुसार कह दिया कि, 'तू मर जा' । पुं नामक नरक से त्राण करने वाला होने से ही पुत्र संज्ञा होती है। अतः नचिकेता अपने पुत्रत्व की सिद्धि के लिये ही गया था । चूंकि उसके पास और कोई दूसरा द्रव्य नहीं था और न वह स्वतंत्र ही था, अतः जो उसके पास केवल अपना आपा था, वही देने के लिये वह तैयार हो गया था । तात की जगह तत शब्द का प्रयोग करके श्रुति ध्वनित करती है कि वह या तो घबराहट में था, या अभी इतना बच्चा था कि स्पष्ट बोलने में भी समर्थ नहीं था। पिता के क्रोध का कारण तो स्पष्ट ही है क्योंकि पिता को पुत्र में अत्यधिक प्रेम होने से पुत्र की यह बात युक्तिसंगत होने पर भी कष्टप्रद प्रतीत होती थी। 'मृत्यु को देता हूं' का यह भाव भी हो सकता है कि तू मुझे इस प्रकार से छेड़कर मृत्यु के समान कष्ट दे रहा है । जब अपने से छोटा बड़े की कमजोरी को बताता है तो उसको दूर कर सकने की क्षमता के अभाव में बड़ा क्रोध के द्वारा ही दबाने का प्रयत्न करता है। अतः यहाँ श्रुति लोकदृष्ट्या बता रही है कि योग्य पुत्र का कार्य है कि अपने आपका बलिदान देकर भी अपने से बड़ों के प्रारंभ किये कार्यों को पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिये, न कि केवल उनकी गलतियों का निदर्शन । किंच, बड़ों को भी छोटे जब इस प्रकार किसी अनुचित कार्य से रोकें तो क्रोध नहीं करना चाहिये, वरन् शांतिपूर्वक उनकी बातों पर ध्यान देना चाहिये । यद्यपि तात के अर्थ में तत शब्द का प्रयोग वेदों के अनेक मंत्रों में मिलता है अतः इसे वैदिक प्रयोग स्वीकार करना भी ठीक ही है, परन्तु श्रुति का तात्पर्य अवश्य ही यहाँ यह बताने का भी है कि बड़े को कोई भी बात समझाने जाने पर छोटों को ससंभ्रम जाना चाहिये, उद्दण्ड बनकर नहीं ।

वस्तुतस्तु वास्तविक वैराग्य रूपी नचिकेता सकाम कर्म रूपी वाजश्रवस् को यही बताना चाहता है कि जब तक अपने जीवस्वरूप का भी त्याग करने की तैयारी न हो, तब तक संन्यास अनिष्ट है । वर्ण, कुल, शील, श्रुत, विद्या आदि जो अपना स्वरूप है, वह सभी त्यागने के योग्य है । इसके बिना उस निष्कल, निर्मल, निर्विशेष तत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं । यद्यपि कर्म-

फल का त्याग करने का प्रयत्न सकामी पुरुष करते हैं, परन्तु कहीं न कहीं हृदय में इस त्याग के फलस्वरूप किसी अन्य सुख की प्राप्ति होगी, ऐसी अभिलाषा दबी ही रहती है। तीव्र तपस्या, तितिक्षा, व्रत आदि बाहर से त्याग रूप दिखाई देने पर भी वस्तुतः उनके अन्दर किसी अन्य पदार्थ की प्राप्ति की अति दूर भविष्य में भी कामना पड़ी रहती है। जब तक यह कामना पड़ी हुई है, तब तक आत्मज्ञान असम्भव है, क्योंकि आत्मज्ञान किसी नये पदार्थ अथवा सुख की प्राप्ति नहीं, वरन् जिसे आज तक हमने अपना सुख आदि समझा है, उन सबका त्यागमात्र ही है। अज्ञानजन्य सभी चीजों का त्याग ही आत्म-स्थिति है, किसी नवीन चीज की प्राप्ति नहीं। जब तक त्याग अथवा वैराग्य से भी किसी फल की कामना है, तब तक वास्तविक संन्यास नहीं बन पाता। अतः सभी कर्मों का फल रूपी नचिकेता कहता है कि मेरा भी त्याग करना उचित है। त्याग के फल का भी त्याग बड़ा कठिन विषय है, अतः वाजश्रवस् कहता है कि इस फल की प्राप्ति के लिये मैं मृत्यु के प्रति अपना दान करता हूँ। तात्पर्य है कि जब तक मनुष्य इहलोक के प्रति मर नहीं जाता, तब तक आत्मलोक की प्राप्ति असम्भव है। श्रुति में जगह-जगह प्रेत्य शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग है। अथवा मृत्यु का अर्थ देह में आत्मबुद्धि की निवृत्ति है। यह चाहे लौकिक मृत्यु से हो अथवा देहाध्यास की निवृत्ति से। अतः वाजश्रवस् का कथन है कि त्याग के फल का त्याग भी मैं इस देहाध्यास की निवृत्ति होने पर ही कर सकने में समर्थ हो सकता हूँ। अतः देहाध्यास की निवृत्ति को प्राप्त किये बिना मेरे से यह नहीं हो सकता।

सर्वज्ञ शंकर **'मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय'** कहकर बताते हैं कि मृत्यु वस्तुतः ब्रह्मविद्या की आचार्य है। यहाँ इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि देहाध्यास निवृत्ति रूप मृत्यु के द्वारा ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति सम्भव है। वैसे सामान्य कथानक में मृत्यु किसी ब्रह्मविद्या के आचार्य का नाम भी हो सकता है। यद्यपि भाष्य में **क्रुद्धः** शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु स्वयं श्रुति में इसकी कोई ध्वनि नहीं है। भाष्य के **क्रुद्धः** शब्द का ग्रहण भी इस अर्थ में किया जा सकता है कि अभी नचिकेता इतना छोटा था कि उसे गुरुगृह में भेजने का समय नहीं आया था। परन्तु नचिकेता के बार-बार कहने पर पितृमोह के कारण वाजश्रवस् को क्रोध भी हो गया। फिर भी उसने

उसे गुरुकुल के योग्य समझकर मृत्यु नाम वाले आचार्य के पास पढ़ने के लिये भेज दिया। आज भी जब कोई बालक बी० ए० पास करने के भी पूर्व अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण अमेरिका में छात्रवृत्ति पा लेता है, तो पिता के मन में दुःख भी होता है, और बिना पूछे हुए अर्जी देकर छात्रवृत्ति पाई है, अतः क्रोध भी होता है, परन्तु फिर भी पुत्र की योग्यता के कारण उसे विदेश भेज ही देता है। वैसे ही यहाँ समझना चाहिये।

नचिकेता का मुख्य भाव यहाँ यह है कि वह प्राचीन रीति को तोड़ने का प्रयत्न नहीं करता वरन् उसमें पूर्णता लाने का प्रयत्न करता है। हम लोग प्रायः जब प्राचीन कुरीतियों को देखते हैं तो अधीर होकर उन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहते हैं। वर्तमान काल के सुधारवादियों की यह दृष्टि अनेक स्थलों पर प्रकट होती है। कहीं-कहीं धन आदि के लोभ से माता पिता पुत्र का विवाह अयोग्य कन्या से कर देते हैं, यह देखकर हम माता पिता के चयन का अधिकार सर्वथा ही छीन लेना चाहते हैं। अथवा कहीं कहीं पति को पत्नी के प्रति अत्याचार करते देखकर तलाक का समर्थन करने लग जाते हैं। पण्डों और पुजारियों के लोभ को देखकर मन्दिरों का ही विरोध करने लग जाते हैं। परन्तु श्रुति यहाँ नचिकेता के द्वारा द्योतित कर रही है कि कुरीतियों में जो कु-पना है उसे हटाकर उसे सु-रीति बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। सर्वथा रीति का त्याग या विरोध करना हितकारी नहीं हो सकता। इस युग में महात्मा गांधी के जीवन में अनेक ऐसे स्थल आये जब उन पर दबाव दिया गया कि वे कर्मणा जाति स्वीकार कर लें, परन्तु उन्होंने जन्मना जाति स्वीकार करके लाखों को सुयोग्य कर्म और गुण वाला बनाने पर जोर दिया, एवं उसके अभाव में उस व्यक्ति को शूद्रवत् मानना स्वीकार किया। यह कुरीति में सुरीति की दृष्टि करना है। पूंजीवादियों के साथ व्यवहार करने आदि में ऐसे और भी अनेक स्थल गांधी जी के जीवन में देखे जा सकते हैं। इस विषय में श्रुति आधुनिक युग के मार्क्स का सर्वतोभावेन विरोध करती है, क्योंकि मार्क्स की दृष्टि में अच्छे और बुरे दो वर्ग हैं एवं वर्ग-संघर्ष ही उन्नति का प्रयोजक है। श्रुति का कहना है कि दोनों वर्गों की अच्छाइयों को देखकर एक तीसरा दृष्टिकोण पैदा करना चाहिये जो शान्ति को उत्पन्न करे, न कि संघर्ष के द्वारा अशान्ति को। कुरीति में सुरीति आत्म-बलिदान के द्वारा ही आ सकती है, यह भी यहाँ श्रुति बता रही है। हम

अपनी सुविधाओं के लिये सुधारक बनते हैं, बलिदान करने के लिये नहीं। इसीलिये सुधार विकृतियों का रूप ही धारण कर पाता है। 'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की' वाला ही सुधार वे कर पाते हैं, जो अपनी आहुति देना नहीं जानते। नचिकेता अपनी आहुति देने के लिये तैयार था। एक बार महात्मा गांधी ने अनशन किया था कि सवर्णों ने जो अंत्यजों पर अत्याचार किये हैं उनका शोधन हो सके। यह बहुत कुछ नचिकेता जैसा ही प्रसंग प्रतीत होता है।

वाजश्रवस् संन्यास की तैयारी कर रहा है। अतः पुत्र के ऊपर से अपना अधिकार हटा चुका है। अब भी पुत्र उसे अपना पिता ही मानता है। अतः स्मृतियों के आचारों के अनुसार चतुर्थ आश्रमी होकर वाजश्रवस् का क्रोध में यह कहना बिल्कुल ठीक ही है कि मैं अब किसी भी व्यक्तिगत रिश्तों को अपना नहीं मानता। मेरे लिये तो तू मरा हुआ ही है अर्थात् अपनी तरफ से तो मैं तुझे मृत्यु को दान कर चुका हूँ। अथवा नचिकेता का कहना है कि **'शिशूँश्च तनयान् हित्वा स महापातकी भवेत्'** इत्यादि स्मृति के अनुसार आप मेरा बोझा किस के ऊपर छोड़कर जा रहे हो? वाजश्रवस् चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर रहे हैं, अतः वृद्ध हैं, यह भी प्रतीत हो रहा है, एवं नचिकेता की उमर से पाँच वर्ष पूर्व तक उसने गर्भाधान आदि कार्य किया है, यह भी प्रतीत हो रहा है। नचिकेता का भाव है कि आप में जब तक विषय कामना का इतना प्राबल्य है तब तक क्या आप यति धर्म का पालन कर सकोगे? परन्तु यह बात स्पष्ट न कहकर वह प्रकारान्तर से यही कहता है कि मैं अभी छोटा हूँ, अतः मुझे आप किस पर छोड़कर जा रहे हो। वाजश्रवस् यह कार्य काफी दूर तक कर चुके हैं, अतः अपने कार्य में विक्षेपजनक समझकर उस पर क्रोध करते हैं, यह भी स्वाभाविक ही है। चूँकि नचिकेता के प्रश्न का भाव उसको स्पष्ट हो रहा था, इसीलिये प्रथम दो बार उसने उत्तर नहीं दिया। अंततः भी उत्तर न देकर केवल क्रोध से ही उसे चुप करने का प्रयत्न किया। प्रसिद्ध ही है कि जब मनुष्य के पास युक्ति का अभाव हो जाता है तब वह गाली पर उतर आता है।

किसी-किसी आचार्य के मत में तो यहाँ पर भी ऋग्वेद की तरह कस्मै का अर्थ प्रजापतये समझना चाहिये। अर्थात् वैराग्यरूपी नचिकेता कहता है कि मुझे ईश्वर के प्रति आप अर्पण कर दो। ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठीयमान

कर्म ही चित्त शुद्धि का कारण बनता है। परन्तु वाजश्रवस् का कहना है कि मैं ईश्वरार्पण बुद्धि के प्रति न देकर 'देह नहीं हूँ', इस प्रकार देहाभिमान की निवृत्ति रूप मृत्यु के प्रति ही कर्मफल त्याग करता हूँ। वस्तुतः ये दोनों ही कर्मफल की निवृत्ति के साधन हैं। या तो मनुष्य ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मफल का त्याग करे, अथवा यदि सामर्थ्य हो तो 'नाहं कर्तेति बुद्धिमान्' इत्यादि वचनों के अनुसार अपने कार्य-करण-संघात से अध्यास बुद्धि को हटाकर कर्म और कर्मफल दोनों से रहित स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाये। वाजश्रवस् इसे ही अपना उद्देश्य बता रहे हैं।

: ५ :

नचिकेता ने वाजश्रवस् के शब्दों के शब्दार्थ को ग्रहण किया, एवं मृत्यु रूपी आचार्य के पास जाने को तैयार हो गया। वह आगे के मंत्र में बतायेगा कि यह कार्य-करण-संघात आत्मा से व्याप्त है, एवं कर्म के बंधन से जन्म और मृत्यु का विषय बनता है। जो अपने को आत्मा रूप से जान लेता है, वह कार्यकरणसंघात से छूटकर अमर बन जाता है। अतः मृत्यु के पास जाने में नचिकेता को कोई भय नहीं है—

बहूनां एमि प्रथमः बहूनां एमि मध्यमः।
किं स्वित् यमस्य कर्त्तव्यं यत् मया अद्य करिष्यति ॥

बहूनां = बहुतों में	यमस्य = यम का
प्रथमः = प्रथम	किं = कौन
एमि = जाता हूँ।	स्वित् = सा
बहूनां = बहुतों में	कर्त्तव्यं = कार्य (है)
मध्यमः = मध्यम	यत् = जो
एमि = जाता हूँ।	मया = मेरे द्वारा
अद्य = आज	करिष्यति = (पिता) करेगा।

बहुत देर तक नचिकेता विचार करता रहा कि यद्यपि बहुत से लोगों से पहले ही मैं मृत्यु को जा रहा हूं, परन्तु मेरे पूर्व भी बहुत से गये हैं। अतः मैं पहला ही व्यक्ति नहीं हूं, जो मर रहा हूं, और न अंतिम ही हूं जो मरेगा। मृत्यु मानव का स्वभाव है। अतः इस विषय में चिंता करना या दुःखी होना

व्यर्थ है। मनुष्य को तो केवल यही सोचना चाहिये कि जब हम यमलोक को जायें तो वहाँ हम कौन-सा कार्य सिद्ध कर पायेंगे। तात्पर्य है कि जिसने यह जीवन अच्छी तरह से बिताया है, वही आगे भी कोई कार्य करने में समर्थ हो सकेगा। अन्यथा जिसने यहाँ जीवन व्यर्थ खोया है, वह वहाँ भी अपना कोई कार्य नहीं साध सकेगा। अद्य का अर्थ अधुना अर्थात् अब भी होता है। तात्पर्य है कि यहाँ का कार्य तो मैं समाप्त कर चुका, अब पिता मेरे द्वारा कौन-सा कर्त्तव्य वहाँ करवाना चाहते हैं। उत्तम शिष्य का लक्षण है कि अपने गुरु के संकेत को समझकर तदनुकूल कार्य करे। पिता ने मुझे मृत्यु के पास जाने का संकेत तो दे दिया, पर कर्त्तव्य नहीं बताया। अतः नचिकेता सोच रहा है कि पिता मेरे द्वारा कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं।

वैराग्य, शम आदि श्रवण के पूर्व हैं तो विवेक आदि वैराग्य के पूर्व। अत: वैराग्य का प्रतीक नचिकेता कहता है कि श्रवण आदि बहुतों में से मैं प्रथम हूँ, और विवेक आदि मुझसे पूर्व हैं। अतः वैराग्य न प्रथमावस्था है और न अंतिमावस्था। बहुत से लोग वैराग्य को जीवन का अंतिम सोपान समझते हैं, तो कुछ अन्य लोग वैराग्य से ही आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ मानते हैं। बौद्ध, जैन आदि प्रथम वाद के समर्थक हैं, एवं अनेक मध्यकालीन संत द्वितीय पक्ष के। वस्तुत: जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, तब तक विवेक, सत्संग या सकाम तथा निष्काम कर्म ही अनुष्ठेय हैं। उनके फलस्वरूप ही वैराग्य उत्पन्न होता है। परन्तु वैराग्य सोद्देश्य होना चाहिये। श्रुति यहाँ मृत्यु शब्द से हटकर यम शब्द का प्रयोग करके यह बताना चाहती है कि वैराग्य यम के लिये है। भगवान सुरेश्वर के अनुसार **'मन:साध्या यमाः स्मृताः'**, अतः श्रुति रहस्य है कि शम, दम आदि वैराग्य द्वारा सिद्ध होते हैं। शम, दम आदि के बाद श्रवण मनन भी मन: साध्य ही हैं। अतः वैराग्य का प्रतीक नचिकेता यह विचार कर रहा है कि मैं शमादि पूर्वक श्रवण, मनन आदि का कार्य किस प्रकार सिद्ध कर सकूँगा। कर्म एवं शम आदि के मध्य में वैराग्य ही कड़ी है। यह वैराग्य विवेक से उत्पन्न होता है। इसीलिये सर्वज्ञ शंकर ने इस मंत्र की भूमिका में कहा है कि **'एकान्ते परिदेवयान् चकार'** अर्थात् एकांत में जाकर के भली प्रकार चिंतन अर्थात् विवेक किया।

उत्तम शिष्य अथवा पुत्र अवसरानुकूल गुरु का इष्ट कार्य जानकर शुश्रूषा में प्रवृत्ति करता है। गुरु के आज्ञा देने पर करने वाला मध्यम होता है।

अतः यहाँ नचिकेता यह भी सोच रहा है कि में प्रायः तो अपनी बुद्धि से प्रथम वृत्ति में रहा हूँ, और कभी-कभी मध्यम वृत्ति से। परन्तु आज तक आज्ञा के परिपालन न करने रूपी अधम वृत्ति का मैंने कभी आश्रयण नहीं किया। इस पक्ष में बहूनां का अर्थ है, बहुत से शिष्य और पुत्रों के बीच में मैं प्रथम वृत्ति से अथवा मध्यम वृत्ति से जाता हूँ। यह भी संकेत है कि मैंने कभी भी ऐसा कार्य नहीं किया जिससे पिता मेरी अप्रवृत्ति से क्रुद्ध हों, अतः आज भी पिता ने क्रुद्ध होकर यह कहा हो, यह मैं क्यों समझूं? अथवा जब आज तक पिता को क्रोध का अवसर नहीं दिया तो आज भी पिता की बात का पालन करके ही दिखाऊँगा। मैं हीन वृत्ति से रहित हूँ एवं प्रथम या मध्यम शिष्य गुणों से सदा ही सम्पन्न रहता हूँ, तथापि मुझ पुत्र को यदि पिता ने यम के प्रति दिया है तो अवश्य ही वह मेरे द्वारा कोई कार्य कराना चाहते हैं। अथवा किसी भी कार्य को बताया नहीं है, अतः सम्भवतः कोई कार्य न होने पर भी बिना प्रयोजन के ही क्रोध के कारण पिता ने ऐसा कह दिया हो, तब भी पिता का वह वचन झूठा न रहे, यह भी तो मेरा ही कर्तव्य है। यह सब उसके चिंतन का प्रकार है। वैराग्य दृष्टि से भी ये सब सम्भावनायें बनती हैं। उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार से वैराग्य तीन प्रकार का शास्त्रों में प्रतिपादित है। ज्ञान से विचार करने पर जो वैराग्य होता हैं, वह उत्तम वैराग्य है। संसार के भोगों को भोगने पर उनमें क्षयिष्णुता की दृष्टि से जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वह मध्यम वैराग्य है। दुःखभोग करने पर जो पदार्थों से वितृष्णा होती है, वह अधम वैराग्य है। नचिकेता सोचता है कि अधिकतर तो मैं ज्ञान से उत्पन्न वैराग्य रूप ही हूँ। जीवन के अनेक क्षणों में सुख भोग काल में क्षयिष्णुता आदि दोषों को देखकर भी मेरे में वैराग्य कभी-कभी रहा है। परन्तु किसी भी चीज की न्यूनता या दुःख के कारण उत्पन्न वैराग्य मैं कभी नहीं हुआ। फिर वह कौन सा फल है जो मैं यमों के द्वारा प्राप्त कर सकूँ। तात्पर्य है कि संसार के भोगों में वितृष्णा उत्पन्न करने के लिये वेदों में अनेक प्रकरण हैं, उनसे मेरा प्रयोजन नहीं। वस्तुतः यम के द्वारा तरह-तरह के प्रलोभन दिखाये जाने पर नचिकेता उनमें अपने वैराग्य को स्फुटतर प्रकट करेगा। अतः केवल आत्म-तत्व के प्रतिपादक वाक्यों का विचार ही मेरे द्वारा उपयुक्त कर्त्तव्य है। नचिकेता अपने लिये करण विभक्ति का प्रयोग करके यह बताना चाहता

है कि वैराग्य महद् उद्देश्य के लिये एक साधन मात्र है, साध्य नहीं। इस प्रकार का वैराग्य शुष्क वैराग्य न रहकर आनंद वाला वैराग्य बन जाता है। यद्यपि 'अद्य' सामान्यतः अधुना के अर्थ में यहां प्रयुक्त है तथापि अद्य में जो आज का अर्थ है, वह यह बताने के लिये है कि वैराग्य होने पर सद्यः श्रवण आदि में लग जाना चाहिये। **'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत'** अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन शम आदि से युक्त होकर सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक श्रवण मनन में लग जाये, इत्यादि जाबाल उपनिषद् आदि श्रुतियां यहां ध्वनित की गई हैं। यद्यपि एमि का मुख्य अर्थ जाना होता है परन्तु गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक होने के कारण मेरे पहले बहुतों को ज्ञान हुआ है और मेरे बाद भी बहुतों को ज्ञान होगा, इस प्रकार ज्ञान की अविच्छिन्न परम्परा का संकेत किया जा रहा है। **'त्वं-पदार्थ-विवेकाय संन्यासः सर्व-कर्मणाम्। श्रुत्या विधीयते यस्मात् तत्त्यागी पतितो भवेत्।'** प्रत्यगात्मा के शोधन के लिये ही सर्व कर्मों का संन्यास किया जाता है। अतः यदि उसे कर्त्तव्य रूप से न किया जाये तो संन्यासी पतित हो जाता है। यद्यपि अपूर्व विधि का आचार्य शंकर ने परमहंस के लिये खण्डन किया है, परन्तु नियम और परिसंख्यान विधि तो उनको इष्ट है ही। यहां का कर्त्तव्य शब्द इन दोनों में से किसी भी एक विधि में ले लेना चाहिये।

: ६ :

इस प्रकार चिंतन करके जब नचिकेता ने यम के पास जाने का निश्चय किया और जाने के पूर्व पिता का अभिवादन करने के लिये पिता की तरफ देखा, तो पाया कि क्रोध से अपने मुख से निकले हुए वाक्य के कारण उनके मन में अत्यंत शोक है। अतः उनके शोक को शांत करने की दृष्टि से कहता है :—

> **अनु पश्य यथा पूर्वे प्रति पश्य तथा अपरे।**
> **सस्यं इव मर्त्यः पच्यते सस्यं इव आजायते पुनः ॥**

यथा = जैसा	सस्यं = अनाज की
पूर्वे = पूर्वजों ने	इव = तरह
अनु = अनुसरण किया (उसको)	मर्त्यः = मनुष्य

पश्य = देखो,	पच्यते = बढ़ता है,
तथा = तथा	पुन: = फिर
अपरे = समकालीनों ने	सस्यं = अनाज की
प्रति = (तुम्हारे) सामने अनुसरण किया (उसको)	इव = तरह
पश्य = देखो।	आजायते = दूसरी जगह पैदा हो जाता है।

मनुष्य को असदाचार की प्रवृत्ति से रोकने के लिये पूर्वजों के चरित्र एवं समकालीन साधु पुरुषों के चरित्रों पर पुन: पुन: दृष्टिपात करना चाहिये, यह यहां श्रुति स्पष्ट निर्देश कर रही है। इस वेद वाक्य का ही मानों रामायण, महाभारत बाह्य विस्तार है। आदर्श पुरुषों के जीवन को इसीलिये विस्तार से वर्णित किया गया है कि हम राम, कृष्ण आदि की तरह आचरण कर पायें। परवर्ती इतिहास का भी इसी दृष्टि से अध्ययन करना चाहिये कि हम उससे श्रेष्ठ पुरुषों के आदर्शों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके अपने जीवन का निर्माण कर सकें। आजकल इतिहास की एक पाश्चात्य दृष्टि चली है जो केवल राजा अथवा राजकीय अधिकारियों के वंश विस्तार का वर्णन करने के साथ-साथ उनके कार्यों का वर्णन करके इतिहास की परिसमाप्ति समझ लेती है। परन्तु इतिहास से केवल राजा के कार्यों का वर्णन वैदिक दृष्टि नहीं मानती है। पाश्चात्य देश रोम की विचारधारा से प्रभावित राजा को ही देश का सर्वस्व समझते हैं, एवं इसीलिये वे किसी भी राजा की जीवनी को पढ़कर उस देश की जीवनी को पढ़ लिया, ऐसा मानते हैं। वहां भी ईसा पूर्व के इतिहास को जब हम बाइबिल में देखते हैं तो पाते हैं कि राजा की अपेक्षा महापुरुषों (Prophets) के जीवन का वर्णन ही विस्तार से किया गया है। चूंकि हमने इस प्रकार राजवंशों की परम्परा का वर्णन नहीं रखा, इसलिये अनेक कूपमण्डूक यह कह देते हैं कि भारतीयों की ऐतिहासिक दृष्टि नहीं ही थी। भारतीय इतिहास धर्मनीतिज्ञों का इतिहास है, राजनीतिज्ञों का नहीं। इस दृष्टि से हमें तो लगता है कि पाश्चात्य संस्कृति ने गत दो हजार वर्षों में अपने इतिहास को प्राय: नहीं सा रखा है। यह सत्य है कि भारत में मध्यकाल में कई बार महापुरुषों के जीवन की गलतियों को देवलीला का रूप देने का प्रयत्न किया गया। परन्तु यदि इतने मात्र से उसे

इतिहास न माना जाय तो इस प्रकार का प्रयत्न तो राजाओं की भूलों को भी उनकी परिस्थितियों के कारण बताकर राजनीति के इतिहासकार भी करते ही हैं। इतने मात्र से वह इतिहास नहीं रहा, यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वेद हमें इतिहास का एक मूल मंत्र बता देता है कि हमें अपने पूर्वज और वर्तमानकालीन साधु पुरुषों का वही रूप याद रखना चाहिये जो हमें श्रेष्ठ क्रिया करने में प्रेरक हो।

नचिकेता यहां पिता से यह कहने का प्रयत्न कर रहा है कि पहले के महापुरुषों ने कभी भी अपनी बात को मिथ्या नहीं किया। जब मनुष्य अनजान में कही हुई बात को भी जीवन में सत्य करने का प्रयत्न करता है तो उसके वचन में एक सिद्धि आ जाती है। सत्य की प्रतिष्ठा में क्रिया-आश्रयता योगियों का अनुभव है। इसी प्रकार छांदोग्य उपनिषद् भी बताती है कि उस युग के राजा यह कहने में समर्थ थे कि मेरे यहां कोई असत्य बोलने वाला नहीं है। सत्य निरुक्त के अनुसार सप्त मर्यादाओं में अन्यतम है। जिस प्रकार ईसाई बाइबिल की कसम खाता है और मुसलमान कुरान की, उसी प्रकार वैदिक तो सत्येन शपे ही कहता है। उसका तो यहां तक निश्चय है कि सत्येन आत्मानं अन्तर्धाय सः न दह्यते (छांदोग्य ६-१६)। जो अपने को सत्य से युक्त कर लेता है, वह गरम फरसे को छू कर भी जलने से बच जाता है। तात्पर्य है कि बड़ी से बड़ी भूल करके भी सत्य का सहारा लेने वाला उस पाप से बच जाता है। वर्तमान काल में महात्मा गांधी ने सत्य के सहारे से भारत में कितना बड़ा परिवर्तन सफलतापूर्वक किया, यह हम लोगों को प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

यद्यपि पूर्वकालीन महापुरुषों से हमें बहुत कुछ मार्गनिर्देशन मिलता है, परन्तु देश, काल और परिस्थितियों के परिर्तवन से जो परिवर्तन होते हैं उन्हें समझकर धर्म का अतिदेश करना भी सबका काम नहीं हुआ करता। अत: समकालीन महापुरुषों के प्रति हमारी आदर दृष्टि होनी चाहिये, एवं उन्होंने जिस प्रकार के आचरण किये हैं, उसका अनुसरण भी करना हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये। वर्तमान सनातन धर्मियों में पूर्व पुरुषों के प्रति यद्यपि आदर दृष्टि देखी जाती है, परन्तु प्रायश: समकालीन महापुरुषों में दोष-दृष्टि करने का हमारा स्वभाव हो गया है। और कभी-कभी तो हमें प्रतीत होता है कि मानों मरने के बाद ही कोई व्यक्ति सनातन धर्म में महापुरुष

माना जा सकता है । इस दृष्टि से हम अपने समकालीन महापुरुषों के धर्माचरण को अपने जीवन में नहीं ला पाते, और हमेशा ही साँप के निकलने के बाद लकीर को पीटते रहते हैं अर्थात् परिस्थितियों के निकल जाने के बाद उन परिस्थितियों में जो आचरण किया गया था, उनकी नकल करना प्रारंभ करते हैं । एक बार सावरकर ने कहा था कि उसने जो सन् २८ में लिखा, वह सन् ५८ में लोगों को युक्तिसंगत लग रहा है और जो सन् ५८ में वह कह रहा है, वह सम्भवतः सन् ८८ में लोगों को सत्य लगेगा । नानक, कबीर आदि ने अपने काल में जो प्रयास किया था, वह उस देश, काल, परिस्थितियों के संदर्भ में आदर्श कार्य था । पर हम उनकी चतुर्थ अथवा सप्तम शताब्दी का उत्सव मनाकर उन्हीं बातों का अनुकरण अब करने को तैयार हो पा रहे हैं । वेद का तो कहना है कि उन अतीत आदर्शों को सामान्य रूप से, एवं वर्तमान कालीन महापुरुषों के आदर्शों को विशेष रूप से हमें जीवन में लाना चाहिये । परन्तु आदर्शों को जीवन में लाने के पहले पश्य अर्थात् विचार करो । सर्वज्ञ शंकर इसका अर्थ करते हैं 'आलोचय निभालय' अर्थात् उनकी आलोचना करो, तथा दीर्घ काल तक उन पर विचार करो । किसी भी महापुरुष के किसी भी कार्य की नकल करना इष्ट नहीं हो सकता । वरन् उन परिस्थितियों के ऊपर विचार करके वेद की किस आज्ञा के अनुसार उन्होंने यह किया, इस बात को समझकर जब वह हमें पूर्ण रूप से सत्य प्रतीत होने लग जाये, तभी उसका जीवन में परिपालन करना चाहिये । आध्यात्मिक जीवन नकलचियों के लिये नहीं है, क्योंकि फिर तो वह एक रूढ़िवादी रीतिमात्र रह जाती है । उसमें जीवन का स्पन्द समाप्त हो जाता है । जब कृष्ण की बात हमें ऐसी जँच जाये कि वह हमारी बात हो जाये, तभी उसका पालन पूर्ण रूप से हो सकता है । किसी महापुरुष ने कहा है कि इतिहास की पुनरावृत्ति इसीलिये होती है कि हम इतिहास से शिक्षा नहीं लेते । वस्तुतः इतिहास की परिस्थिति को हम पूरी तरह से नहीं समझकर गलती करते हैं । इसीलिये यहाँ पर श्रुति भगवती कहती है कि अपने समकालीन हों, चाहे पूर्व पुरुष हों, उन्होंने जो कार्य किया है, उनकी आलोचना गौर से करनी चाहिये एवं सर्वज्ञ शंकर के शब्दों में उनके वृत्त अर्थात् चरित्र पर आस्था अर्थात् निष्ठा उत्पन्न हो जानी चाहिये । हमें उनके चरित्र को इस दृष्टि से नहीं देखना चाहिये कि उसमें हम क्या दोष निकाल सकें,

बल्कि इस दृष्टि से कि उनके कार्यों के प्रति हम आस्था उत्पन्न कर सकें; और यह आस्था तभी आयेगी, जब हम परिस्थितियों का सहृदयता से विचार करेंगे। भाष्य यह स्पष्ट करता है कि समकालीनों में जो साधु अर्थात् सत् पुरुष हो गये, उन्हीं के वर्ताव का विचार करना चाहिये, असाधु पुरुषों का नहीं। यद्यपि भाष्यकार पूर्व पुरुषों में क्रम से (अनु-क्रमेण) पिता, दादा आदियों के वर्तावों का आलोचन करने को कहते हैं परन्तु वहां भी इसी दृष्टि से कि प्रत्येक कुल में आदर्शों की एकरूपता हुआ करती है। अतः जितना प्रत्यक्ष लाभ हमें अपने जीवन में उनसे मिल सकता है, उतना भिन्न कुल वालों से नहीं। वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय कुल की परम्परा का विचार उतना उपयोगी नहीं हो सकता है जितना ब्राह्मण कुल की परम्परा का। परन्तु आचार्यपाद वहां पर भी आर्ष पद के द्वारा यह बता देते हैं कि केवल अपने कुल में ही उसे सीमित रखना आवश्यक नहीं है। आज जब वर्ण व्यवस्था केवल नाममात्र को रह गई है तब तो हमें कुल की जगह पर हम जिस प्रकार के वर्तावों में लगे हुए हैं, उसी प्रकार के बर्तावों में लगे हुए पूर्वजों के चरित्रों पर विचार करना आवश्यक हो गया है। एक दुकानदार ब्राह्मण वैश्य के वृत्त का पर्यालोचन करके जितना संगत निर्देश प्राप्त कर सकेगा, उतना ब्राह्मण के चरित्र का आलोचन करके नहीं। परन्तु भाष्य में जो क्रम की दृष्टि दी गई है, वह तो आज भी अत्यंत सत्य है क्योंकि जो काल में जितना नज़दीक होगा, उसके चरित्रों से हमें उतना ही अधिक निर्देश प्राप्त हो सकेगा। इसका कारण तो स्पष्ट ही यह है कि वह हमारी परिस्थितियों से उतना दूर नहीं हो गया है जितना दूर उससे और पहले का महापुरुष। आज प्रायः हम इन बातों पर ध्यान न देकर के वही भूल करना चाहते हैं जो ईसाई १६०० साल के पूर्व हुए महापुरुष अथवा मुसलमान १३०० साल के पूर्व हुए महापुरुष के काल में मानों समय को जकड़ कर करता है। जो काल एवं परिस्थितियों के प्रवाह को नहीं समझते, एक बड़ी भूल करते हैं। वेद इस प्रकार इतिहास को किसी एक जगह प्रतिबद्ध करने में विश्वास नहीं करता। नचिकेता कहता है कि जिस प्रकार पूर्वों ने मृषा आचरण नहीं किया, उसी प्रकार वर्तमान महापुरुष भी मिथ्याचरण करते हुए नहीं देखे जा रहे हैं। एवं असत् पुरुषों में पहले भी झूठ का प्रयोग देखा गया था

और आज भी देखा जा रहा है। अतः उसका पालन करना अथवा उस पर आस्था करना आपके योग्य नहीं है। यदि कहा जाये कि झूठ का आलंबन नहीं करने से जीवन में अनेक कष्ट आते हैं, तो सबसे बड़े कष्ट वृद्धावस्था और मरण झूठ बोलने से भी नहीं बचाये जा सकते। रोग, पुत्र-मृत्यु, आग लगना, बिजली गिरना, मोटर से दबना आदि भी झूठ बोलने से नहीं बचाये जा सकते हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि झूठ बोलने से मन में जो तनाव पैदा होता है, और नित्य झूठ के पता लगने का जो भय होता है, वह प्रत्यक्ष नरकाग्नि ही है। इतना ही नहीं, झूठ से आगे आने वाले जन्म मृत्यु की चक्र से कोई नहीं बच सकता, जबकि सत्य का पालन करने वाला अंततोगत्वा सत्य ब्रह्म में प्रतिष्ठा प्राप्त करके जन्म मरण के बंधन से छूट जाता है। यदि आपने झूठ का सहारा लेकर पुत्र वियोग से भय खाकर मुझे यमलोक जाने से रोक भी लिया, तो भी कब काल आयेगा, इसका ठिकाना नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी कब मृत्यु के कराल गाल में चला जाये, यह नहीं कहा जा सकता। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि अपरिहार्य मृत्यु की चिंता न करके मुझे आप अपने सत्य का पालन कराने के लिये यमलोक को जाने ही दें।' बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक नचिकेता का कथन है कि अनाज की तरह ही मनुष्य बड़ा होता है, बुड्ढा होता है और मर जाता है, एवं बिना आत्मज्ञान के मरा हुआ व्यक्ति पुनः अनाज की तरह कहीं न कहीं प्रादुर्भूत हो ही जाता है। गीता में भी इसी मंत्र को 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।' कहकर स्पष्ट किया है। मरने मात्र से आत्मा नष्ट नहीं होती, और शरीर का नाश बचाया नहीं जा सकता। इसलिये इसको बचाने के लिये धर्म का त्याग करना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। जिस प्रकार जब तक जल खींचने की सामर्थ्य रहती है, तब तक अनाज पृथ्वी पर खड़ा रहता है और उस सामर्थ्य के समाप्त हो जाने पर वह गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक प्रारब्ध वेग के कारण भोग्य पदार्थों को भोगने में समर्थ होता है तब तक जीवित रहता है, और प्रारब्ध की समाप्ति में भोग्य सामर्थ्य भी समाप्त होकर वह मर जाता है। अतः मिथ्या के सहारे से बचना असम्भव है। तात्पर्य है कि मिथ्या का सहारा लेना निष्प्रयोजन है। अतः अपने सत्य का पालन करते हुए मुझे यम के यहां भेज दो।

इस मंत्र का यह तात्पर्य भी हो सकता है कि नचिकेता पिता से यह कहना चाहता है कि हमारे पूर्वज भी मृत्यु को प्राप्त कर गये, एवं वर्तमान काल में भी लोग मृत्यु को प्राप्त कर रहे हैं, इसलिये मृत्यु की अवश्यंभाविता को हटाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार तत्तद् अनाज का बीज नष्ट होता है, परन्तु अनाज जाति का प्रवाह बना रहता है, क्योंकि बीज से उत्पन्न सौ बीजों में से पुनः एक बीज भी बो दिया गया तो मानो प्रथम बीज उस बीज के द्वारा जीवित ही है; उसी प्रकार तत्तद् व्यक्ति मानो समाप्त होने पर भी प्रवाह रूप से मानव जाति एवं तत्तत् कुल विद्यमान रहते हैं। आधुनिक अनेक विचारकों ने भी अमरता का विचार करते हुए प्राणी की अमरता को वंश की अमरता के साथ एक करके अमरता को स्वीकार किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी यह मानना ही पड़ता है कि प्रत्येक प्राणी प्रायः संतति की कामना करता है, और उसमें ही अपनी अमरता को देखता है। यदि किसी व्यक्ति का धन उसके पुत्र के पास बना रहता है तो वह समझता है कि सम्पत्ति व्यक्तिगत है, एवं किसी दूसरे के पुत्र के पास चला जाता है तो समझता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त हो गई। विचारक जानते हैं कि मरने पर व्यक्तिगत सम्पत्ति तो समाप्त हो ही गई, चाहे अपने पुत्र को मिले, चाहे दूसरे के पुत्र को। परन्तु पुत्र में अपने व्यक्तित्व को देखकर जो व्यक्तिगतपने की भावना होती है, वह इसी दृष्टि से अमरता है, यही यहाँ नचिकेता का निर्देश है।

नचिकेता त्याग का प्रतीक है। जब यम के प्रति उस त्याग को अर्पण करने का निर्देश दे भी दिया, तब भी प्राचीन वासना वेग से पुनः मानो इसी सर्व त्याग से वाजश्रवस् घबरा गया; और जिस प्रकार अर्जुन कहता है कि '**कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति**' में कहीं समग्र कर्म और कर्मफलों का त्याग करने से फल से भी जाऊँ, एवं श्रवण, मनन का फल ज्ञान नहीं मिल पाया तो उधर से भी जाऊँ, इस प्रकार दोनों तरफ से नष्ट न हो जाऊँ; उसी प्रकार वाजश्रवस् के मन में भी यह भय आया कि मैंने जितने भी शुभ कर्म किये, उनके कर्मफल का त्याग भी कर दिया, संन्यास के द्वारा आगे के कर्म का त्याग भी कर दिया, और कहीं श्रवण मनन के द्वारा ज्ञान भी उपलब्ध नहीं हुआ, तो कहीं सर्वथा नष्ट न हो जाऊँ।

तब वैराग्य का प्रतीक नचिकेता वैराग्य की तीव्रता की तरफ निर्देश करता है। जब हमारे पूर्व के महापुरुषों ने भी इस प्रकार के त्याग के द्वारा परम शान्ति को प्राप्त किया, एवं हमारे समकालीन लोगों ने भी तत्वज्ञान को प्राप्त किया, तब कोई कारण नहीं कि हम न कर सकें। सर्वज्ञ शंकर पितृ, पितामह इत्यादि शब्दों के द्वारा यह ध्वनित करना चाहते हैं कि हमारी गुरु परम्परा में भी लोग ब्रह्मवेत्ता थे, एवं हमारे सतीर्थ्यों में भी ब्रह्मवेत्ता हैं। यदि पुत्र परम्परा को स्वीकार किया जाये तब भी छांदोग्य में प्रोक्त 'न तस्य कुले अब्रह्मविद् भवति' इत्यादि वाक्यों के सहारे से हम जब ब्रह्मवेत्ता के कुल में उत्पन्न हुए हैं तो हमें ब्रह्मज्ञान न हो, यह सम्भव ही नहीं है। दूसरी तरफ न जाने अनाज की तरह हम कितनी बार जन्म मृत्यु के चक्र में आ चुके हैं। अतः यदि इस आत्मज्ञान के मार्ग में सफलता नहीं भी मिली तो कोई बहुत बड़ा नुकसान होने वाला नहीं है, क्योंकि जो अनाज न कर्म करता है और न कर्मफल का अधिकारी है, वह भी अंततोगत्वा समाप्त नहीं होता है, और जन्म मृत्यु के चक्र में लगा ही रहता है तो उससे खराब गति तो हमारी हो, यह सम्भव ही नहीं है। गीता में भगवान कृष्ण यद्यपि अर्जुन को बहुत बड़ा साहस देते हैं कि योग से भ्रष्ट होने वाला व्यक्ति सद्गति को ही प्राप्त होता है, परन्तु यहां नचिकेता का उत्तर अधिक युक्तिसंगत है। तात्पर्य है कि यदि इस असफलता से कुछ भी नहीं मिला तो भी दुःखी होने की जरूरत नहीं है। आज के जीवन में यह उत्तर जीवन के अनेक आदर्शों को अनुप्राणित करने के लिये आवश्यक है। धर्म का वर्णन करते समय तुरंत प्रश्न आता है कि हमें इह लौकिक नुकसान होता है। समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है। एक, गीता की दृष्टि से कि यहां पर यद्यपि हमें सफलता नहीं मिलेगी परन्तु आगे इसका फल अच्छा ही होगा। दूसरा, कठमहर्षि के मत से कि न जाने कितने जीवनों में अधर्म का आचरण करके तो देख ही चुके हैं, उससे कोई सुख और आनंद की प्राप्ति नहीं हुई, तो इस बार धर्म करके देख लो, क्योंकि जिस दशा में हम अभी हैं, उससे और बुरी दशा में जाना तो सम्भव ही नहीं है। यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न प्रकृति वालों को इनमें से कोई एक उत्तर अधिक संगत लगेगा, परन्तु विचारक को दूसरे उत्तर में जितनी तर्क-संगतता लगती है, उतनी प्रथम उत्तर में नहीं।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से पता लगता है कि प्रथम उत्तर से जिसका संदेह निवृत्त हो ? संतोष होता है, उसे वस्तुतः पुण्य के फल के प्रति कुछ न कुछ आसक्ति ही हुआ करती है, एवं इसीलिये उसे संन्यास का अनधिकारी ही कहा जायेगा। जो वास्तविक संन्यासी हैं, वे तो तीन लोकों के राज्यों से भी अपने आपको दुःखी ही अनुभव करते हैं। अतः उनको आगे किसी सुख की प्राप्ति का लोभ ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त नहीं -करा सकता। अतः कठ ऋषि का कहा हुआ समाधान ही संन्यासी का वास्तविक समाधान है। संसार में सब लोग मिथ्या और अधर्म का आश्रयण करके प्रवृत्ति कर रहे हैं, और अनाज की तरह पैदा हो रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं, उससे उन्हें क्या लाभ हो रहा है ? यह उसके विचार का प्रकार है। अधर्म और मिथ्या से जो पदार्थ मिलते जा रहे हैं, वे भी तो वस्तुतः दुःख रूप ही हैं। ऐसा जिसका निश्चय है वही तत्वज्ञान के मार्ग में अबाध चल सकता है। यही पर-वैराग्य के नाम से शास्त्रों में कहा गया है। **'संसारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः'** संसार के समग्र स्वरूप को ही सार रहित जान करके, केवल एकमात्र सार का साक्षात् करने की दृष्टि से परम वैराग्य का आश्रयण करने वाले विवाह से उपलक्षित किसी भी प्रकार के भोग में प्रवृत्त हुए बिना ही उन सबका त्याग कर देते हैं, इत्यादि स्मृति वाक्य इसमें प्रमाण है।

यहां कुछ यह भी संकेतित करने का प्रयास है कि शायद नचिकेता ही स्वयं यह देखना चाहता है कि पूर्वज किस प्रकार से मरकर के गये, एवं जो उसके समकालीन हैं, वे भी मृत्यु के बाद कहां गये ? नचिकेता के यम के प्रति पूछे हुए प्रश्नों में भी यह प्रश्न महत्वपूर्ण ढंग से रखा गया है। **'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके (१-१-२०)** में यह बात और भी विस्तार रूप से बताई जायेगी। नचिकेता का भाव है कि यदि पुनर्जन्म को स्वीकार न किया जाये तो फिर तो मनुष्य का जीवन अनाज की तरह ही वृथा सिद्ध हो जायेगा। किसी किसी ग्रंथकार ने 'इव जायते' पाठ स्वीकार किया है। उसमें यह अर्थ और भी स्फुट हो जाता है। तात्पर्य हुआ कि यमाचार्य के पास वह इस तत्वज्ञान को समझने के लिये ही जाना चाहता है, यही वह अपने पिता को बताना चाहता है। पूर्व श्लोक में 'बहूनां' का विशेष्य **'पुत्राणां शिष्याणां वा'** स्वीकार करके

सर्वज्ञ शंकर यही बताते हैं कि जिस प्रकार अनाज के एक दाने के नष्ट होने पर भी वंश की अमरता अखण्ड रहती है, उसी प्रकार मेरे एक के चले जाने पर भी विद्या दृष्टि से शिष्य के द्वारा, अथवा देह दृष्टि से पुत्र के द्वारा वाजश्रवस् की अमरता बनी ही रहेगी। अतः उसका शोक करना व्यर्थ है। वस्तुतस्तु पुनर्जन्मवाद नचिकेता को स्वीकृत ही है। अतः मानव जीवन को वह एक क्षणिक साधन मानता है। प्राणिधर्मों की एकता को समझने वाला कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह देखेगा कि पेड़, पौधे ऋतु के अनुसार पैदा होते हैं, बढ़ते हैं, सड़ते हैं, मरते हैं, और पुनः बीजों से पैदा होते हैं। वैसा ही प्राण सामान्य होने के कारण मानव में भी स्वीकार करना चाहिये। पुनर्जन्म अनंत अमरता में जाने का मार्ग नहीं है। समष्टि से एकता की प्राप्ति न होने तक पुनर्जन्म की ही अमरता निश्चित है।

अथर्ववेद में यम को मरकर पहले गया हुआ मानव स्वीकार किया गया है। इसीलिये पुराणों में यम को वहां का राजा स्वीकार किया गया है। अध्यात्म दृष्टि से यम अर्थात् मन का नियंत्रण ही परलोक में जाने का प्रथम सोपान है। जिसने मन का नियंत्रण प्राप्त नहीं कर लिया, वह अध्यात्म में प्रवेश का अधिकारी नहीं। इस दृष्टि से इसको परमात्म-राज्य का प्रवेश द्वार भी माना जा सकता है, एवं परमार्थ मार्ग का राजा भी। यमाचार्य के पास इसीलिये नचिकेता जाना चाहता है कि बिना उसके तत्वज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। पिता सम्भवतः इसलिये आनाकानी कर रहा है कि ब्राह्मण के लिये भी आचार्य के घर जाने के लिये **'अष्टवर्षं ब्राह्मणं उपनयीत'** के द्वारा ८ वर्ष की अवस्था स्वीकार की गयी है। अतः पांच वर्ष के दुधमुंहे बच्चे को वह आचार्य के घर भेजने में संकोच कर रहा है। उसकी बात को सुनकर पहले उसको उसे वहां भेजने के लिये योग्य समझ भी लिया था, पर विचारने पर असंगतता प्रतीत हुई। यह कई बार होता है कि अपने बच्चे को किसी जगह योग्यता के कारण भेजने को तैयार हो करके भी बाद में मोहवशात् माता-पिता आनाकानी कर जाते हैं। अतः मानो वाजश्रवस् का यहां कहना है कि तीन वर्ष के बाद चले जाना। परन्तु नचिकेता का कहना है कि **'ब्रह्मवर्चस्कामस्तु पंचहायनः'** के द्वारा शास्त्र ने पांच वर्ष की उमर में भी गुरु-गृह में जाने की अनुज्ञा उस अवस्था में दी है जब बालक को ब्रह्मतेज की प्राप्ति कराने का उद्देश्य

हो। 'कुमारः पंचहायनः' के द्वारा नचिकेता को पांच वर्ष का तो पहले भी बता ही आये हैं। अतः नचिकेता यह कहता प्रतीत होता है कि मैं सामान्य मनुष्यों की तरह अनाज के जैसे जन्म मरण का जीवन व्यतीत करना नहीं चाहता, बल्कि ब्रह्मतेज की प्राप्ति करना चाहता हूं। अतः आप मुझे न रोककर आचार्य गृह जाने की अपनी आज्ञा को सफल बनायें। नचिकेता मानो इस शास्त्र वाक्य का प्रत्यक्ष उदाहरण बनना चाहता है। इस पक्ष में पूर्व का तात्पर्य हो जायेगा कि पूर्व में भी जिन्होंने अल्पायु में ब्रह्मविद्या का अभ्यास प्रारंभ किया है, वे ही तत्त्वनिष्ठा को प्राप्त कर पाये हैं। समकालीन ब्रह्मवेत्ताओं में भी अल्प उमर वालों ने ही सफलता पाई है, ऐसा आप देख रहे हैं। फिर मेरे विषय में आप क्यों संकोच करते हैं। बहुत कुछ इसी प्रकार की परिस्थिति ऐतिहासिक युग में शंकर के जीवन में मिलती है। जब मगर ने उनका पैर पकड़ लिया, और उन्होंने अपना मरण काल सन्निहित देखकर संन्यास की आज्ञा मांगी तो माता ने दे दी। जैसे यहां नचिकेता अपने आपको देना चाहता है, और उसके आग्रह के कारण पिता पहले उसको यम को देने के लिये कह देते हैं, बहुत कुछ उसी प्रकार का वहां भी प्रसंग है। यहां भी नचिकेता दूसरी, तीसरी बार यही पूछता है कि आप मुझे किसके भरोसे छोड़ेंगे। यहां भी शंकर कहते हैं कि अब तो मृत्यु का काल समीप है, मुझे अपने भरोसे से हटाकर ईश्वर के भरोसे पर छोड़ दे। संन्यास का अर्थ ही अन्य सब सहारों को छोड़कर ईश्वर का सहारा लेना है। 'गतिरन्या न विद्यते' ही तो संन्यास है। माता उस परिस्थिति में आज्ञा दे देती है लेकिन जब मगर छोड़ देता है, और शंकर जीवित रह जाते हैं, तो वह आनाकानी करने लगती है कि अभी तो तू बहुत ही छोटा बच्चा है। परन्तु नचिकेता की तरह शंकर भी उसे यही समझाते हैं कि न जाने कितनी बार तुमने पुत्रों का लालन पालन कर लिया होगा, न जाने कितनी बार मैंने विवाह कर लिया होगा, परन्तु इस प्रकार का सामान्य जीवन अब मुझे अपनी तरफ आकृष्ट नहीं कर रहा है, और तू सत्य का अवलम्बन करके मुझे संन्यास ग्रहण की आज्ञा दे ही दे। हमारे पूर्वजों ने जिस ब्रह्मविद्या को प्राप्त किया है, मुझे उसी तरफ जाने दे। इसी प्रकार अनेक महापुरुषों के जीवन में जिस बारे में तीव्रता होती है उनमें नचिकेता की तरह ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

यद्यपि पिता आज्ञा दे चुके हैं एवं नचिकेता सीधे ही यमाचार्य के यहां जा सकता है, परन्तु फिर भी वह जाने के पहले पिता का अभिवादन कर अनुज्ञा लेना चाहता है। यह भारतीय शिष्टाचार है। बड़ों से हमारा व्यवहार इस प्रकार का नहीं होना चाहिये कि उन्होंने कोई बात कह भी दी तो उसे पकड़कर उनका हम ख्याल करना ही छोड़ दें। सर्वज्ञ शंकर इसीलिये **'प्रेषय मां यमाय'** कहते हैं। अर्थात् मुझे आप यम के प्रति जाने की सहर्ष आज्ञा दें, केवल क्रोध वाली बात न रहे।

नचिकेता यम के घर में

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार नचिकेता को आकाशवाणी सुनाई दी थी और वह उसी के अनुसार यम के घर पहुंचा था। वह वहां तीन रात तक रहा क्योंकि यम कहीं बाहर गये हुए थे। भाष्यकार आकाशवाणी और पिता की आज्ञा को एक मानकर कहते हैं कि पुत्र के यह कहने पर पिता ने नचिकेता को सत्य पालन के निमित्त यम के घर भेज दिया। पुराणों में कहीं कहीं यह भी कहा है कि यम उसकी परीक्षा लेने के लिये जानबूझकर तीन दिन के लिये कहीं चला गया था। जब उन्होंने देखा कि नचिकेता ने पिता के द्वारा यम को दे दिये जाने के कारण बिना यम की आज्ञा के अन्न, दुग्ध आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया, तब उसकी सत्य निष्ठा, तप और त्याग की वृत्ति की परीक्षा करके उसमें उत्तीर्ण देखकर वापिस आये। स्वयं श्रुति तो 'यम गये थे या नहीं गये थे' इस विषय में कुछ स्पष्ट निर्देश नहीं करती। परन्तु इतना निश्चित है कि यम वहां विद्यमान नहीं थे। वस्तुतस्तु यह तीन रात्रि का निवास वैराग्य से श्रवण आदि की तरफ जाने पर उस दशा की प्राप्ति को बताता है जिसमें न तो ईश्वर प्राप्ति या गुरु प्राप्ति का ही आनंद मनुष्य को मिलता है, और न विषय भोगों के द्वारा ही कोई सुख की प्रतीति रह जाती है। पाश्चात्य इसे ही आत्मा की अंधेरी रात (The dark night of the soul) कहते हैं। वस्तुतः वैदिक सिद्धान्त में गुरु ईश्वर का ही मूर्त रूप है। अतः चाहे ध्यान इत्यादि के द्वारा मानस रूप में किसी मूर्ति विशेष का दर्शन हो, अथवा श्रद्धा की अतिशयता से खुले चक्षुओं से गुरु में ईश्वर दर्शन हो, दोनों एक ही बात है। परन्तु चाहे ध्यान का अंधेरा काल हो, चाहे गुरु के अन्वेषण में श्रद्धा की अंधेरे का काल हो, वह मुमुक्षु के लिये एक असह्य यंत्रणा का

काल होता है। यदि उस यंत्रणा को न सह पाकर के वह पुनः पूर्व भोगों में प्रवृत्ति करता है, तो फिर ईश्वर या गुरु की प्राप्ति असम्भव हो जाती है। परन्तु जहां वैराग्य पूर्ण है, पिछला सम्बन्ध सर्वथा छोड़ दिया गया है (Burnt his bridges), वहां उधर तो जाना हो ही नहीं सकता। यह तीव्र वेदना ही तप का रूप लेकर ईश्वर और गुरु की प्राप्ति करा देती है। कथानक में तीन वरदान के दार्ष्टान्त के कारण तीन रात्रियों को कहा गया है। संस्कृत भाषा में कम से कम तीन होने पर ही बहुवचन बनता है। अतः यहां तीन रात्रि का अर्थ बहुत काल है, केवल तीन की परिगणना ही नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि यह यंत्रणा विविदिषा संन्यास में ही होती है। विद्वत् संन्यास में तो ज्ञान हो जाने के कारण इस अग्नि परीक्षा में से निकलने का मौका ही नहीं मिलता। नचिकेता की अवस्था को विविदिषु संन्यास की अवस्था बताने के लिये ही यहां यह कहा गया है। गुरु के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में तीन तरह की पुरुष बुद्धि का उदय हो जाता है। जब तक गुरु में पुरुष बुद्धि बनी रहती है, तब तक गुरु में ईश्वर का दर्शन नहीं होने से रात्रि काल ही है। अतः यह भी बताना इष्ट है कि जब तक इन तीनों दृष्टियों में से एक भी होती है, तब तक मानो गुरु ईश्वर रूप नहीं बन पाये हैं। अतः उनके घर में पहुँचने पर भी उनमें गुरु मूर्ति का दर्शन नहीं होता है। परंतु जैसे-जैसे उनके साथ रहते हैं, वैसे-वैसे सिद्धि प्राप्त होकर तीनों देहों की क्रियाओं से पुरुषबुद्धि निवृत्त होकर उनमें ईश्वर दर्शन हो जाता है, और यही मानो यम का वापिस आना है। यद्यपि भगवान शंकर भाष्य में 'प्रोषिते' शब्द का प्रयोग करते हैं, एवं प्र पूर्वक वस् धातु का अर्थ जाना होता ही है, परन्तु फिर भी वस् में जो रहने का भाव है, वह दूर नहीं होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वह यम के पास रहने पर भी चूंकि यम में पूर्ण श्रद्धा पूर्वक ईश्वर दृष्टि नहीं कर पाया अतः यम प्रोषित थे, और जब उसको वह दृष्टि प्राप्त हुई तब मानो वास्तविक यमाचार्य वापिस आ गये। वैराग्य रूपी नचिकेता के विविदिषा काल में गुरु गृहवास, एवं उसके बाद गुरु में ईश्वर दर्शन को बताने के लिये यह कहा गया। वैसे भी उपनिषदों में प्रजापतिविद्या, पैप्पलादविद्या, सत्यकाम विद्या, उपकोसलविद्या आदि अनेक विद्याओं में यह स्पष्ट ही है कि जब पहले पहल विद्या ग्रहण करने के लिये गुरु के यहां जाते थे तो ब्रह्मचर्य, गो-सेवा, अग्नि सेवा इत्यादि कार्यों में दीर्घ

काल के लिये गुरु शिष्य को लगा देते थे। एवं जब उससे शिष्य की परि-शुद्धि हो जाती थी तभी उसको विद्या का उपदेश देते थे। यहां का तीन रात्रि का वास भी इसी प्रकार परिशुद्धि के लिये ही समझा जाना चाहिये।

इदानीं काल में इस प्रकार की परिशुद्धि की साधना के अभाव के कारण ही दी हुई विद्या नपुंसक रह जाती है।

: ७ :

यद्यपि स्वयं श्रुति ने यह सब यहाँ नहीं कहा है लेकिन कथा के इस अंश का ब्राह्मण ग्रंथ भागों से हमने अध्याहार कर लिया है। आचार्य शंकर के अनुसार जब यम वापिस आ गये तब उसके मंत्री या भार्या उसे अपने कर्त्तव्य का उद्‌बोधन कराते हुए कहते हैं :—

वैश्वानरः प्रविशति अतिथिः ब्राह्मणः गृहान् ।
तस्य एतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वत उदकम् ॥

वैश्वानरः	=	अग्नि	एतां	=	इस (जल दान आदिरूप)
अतिथिः	=	अतिथि होकर	शांतिम्	=	शान्ति को
ब्राह्मणः	=	ब्राह्मण रूप से	कुर्वन्ति	=	करते हैं।
गृहान्	=	घरों में	वैवस्वत	=	हे सूर्यपुत्र !
प्रविशति	=	प्रवेश करता है।	उदकम्	=	जल
तस्य	=	उसकी	हर	=	लाओ।

भाष्य दृष्टि से यह वचन मंत्री या पत्नी का है। अध्यात्म दृष्टि से मन मंत्री है और बुद्धि पत्नी। अतः तात्पर्य हुआ कि जब शिष्य पूर्ण रूप से श्रद्धा वाला बन जाता है और परीक्षा में खरा उतर जाता है तब यम रूप आचार्य के मन में यह संकल्प उठता है, अथवा बुद्धि निश्चय करती है कि अब यह शिष्य आत्मज्ञान प्राप्ति के योग्य हो गया। वैराग्य पूर्वक शम, दम आदि के अभ्यास का फल श्रद्धा, और शिष्य के प्रति "यह मेरे द्वारा शिक्षण के योग्य है या यह मेरा है", इस प्रकार की भावना गुरु की बन जाना है। जैसे ही गुरु के मन में शिष्य के प्रति यह भावना आई, वैसे ही गुरु का अनुग्रह हुआ, और उसके बाद शिष्य का कल्याण निस्संदेह हो ही जाता है। जब शिष्य गुरु को ईश्वर दृष्टि से ग्रह अर्थात् पकड़ लेता है, तो फिर उसके अनु अर्थात् बाद में जो गुरु की उस पर दृष्टि होती है वही अनुग्रह कहा जाता है। उसके मन में यही संकल्प होता है कि ब्रह्मजिज्ञासु (ब्राह्मण) जो

मेरे सामने आया है वह वस्तुतः वैश्वानर अर्थात् समष्टि का प्रतीक होकर अतिथि रूप से आया है। **'विश्वश्चासौ नरश्च इति विश्वानरः विश्वानर एव वैश्वानरः'** की व्युत्पत्ति से स्पष्ट ही सिद्ध हो रहा है कि जो समष्टि का प्रतीक है और जिसने विषयों में रमण करना छोड़ दिया है, वही वैश्वानर है। जाग्रत के समष्टि अभिमानी को भी वैश्वानर ही कहा है। अतः आत्मज्ञानी की जो जाग्रत अवस्था है उसमें सभी चीजों का बाध करने पर भी ब्रह्मजिज्ञासु के लिये उपदेश देने की वृत्ति तो कर्त्तव्य है ही। जिस प्रकार अतिथि का कोई आश्रय नहीं होता, इसीलिये वह पूज्य होता है, इसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासु भी सभी आश्रयों को छोड़ चुका होता है। अतः उसे अतिथि नाम से कहा गया। इसीलिये यदि उसे उपदेश नहीं दिया जाता, तो आत्मज्ञानी का भी कर्त्तव्य पूरा नहीं होता। सर्व कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर भी भगवान भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं कि **'आचार्यस्याप्ययन्नियमो यन्न्यायप्राप्तसच्छिष्य-निस्तारणं'** (मुण्डक १-२-१३) आचार्य के लिये भी यह नियम है कि जो शास्त्र विधि से योग्य शिष्य आवे उसे अवश्य संसार समुद्र से तारे। योग्य शिष्य का गुरु तारण न कर सके, यह सम्भव ही नहीं है। उसके मन या बुद्धि में अवश्य ही वृत्ति उत्पन्न हो जायेगी, एवं न उत्पन्न होने पर उसे भी दोष का भागी बनना पड़ेगा। प्रश्न के उत्तर के द्वारा यम नचिकेता को संसार समुद्र से पार करवा देते हैं। यह बात स्वयं श्रुति अंत में कहेंगी **'ब्रह्मप्राप्तो विरजो अभूत् विमृत्युः नाचिकेतः'** नचिकेता धर्माधर्म, कामना एवं अविद्या से रहित होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर गया। यही वस्तुतः विविदिषु संन्यासी को शांत करना है। सर्वज्ञ शंकर ने जो भार्या और मंत्री का विकल्प रखा है वह शिष्य की दो प्रकार की वृत्ति को लेकर के है। कोई मुमुक्षु भावना प्रधान होता है, एवं कोई विचार प्रधान। भावना प्रधान वाले के प्रति गुरु के मन में जो प्रेम होता है वह भार्या शब्द से कहा, एवं विचार प्रधान के प्रति जो दृष्टि बनती है उसे अमात्य शब्द से कहा। फल तो दोनों का एक ही है।

गृहान् में बहुवचन विद्याओं की अनेकता को बताने के लिये है, अर्थात् यद्यपि आत्मज्ञान का स्वरूप एक ही है तथापि पंचकोष, अवस्थात्रय, शरीरत्रय कार्य कारण भाव, प्रेमास्पदता, लक्षण की एकता आदि अनेक प्रकार से उसकी प्राप्ति सम्भव होती है। अथवा सगुण ब्रह्म की दृष्टि से देखा जाये तो सूर्य

रूप, ओंकार रूप, आकाश रूप, सुख रूप, पंचाग्नि रूप, शांडिल्य रूप, पंच छिद्र रूप इत्यादि अनेक प्रकार से उपासनाओं का भी भेद है। इन भिन्नताओं को ही गृहान् के बहुवचन के द्वारा बताया गया है। गुरु शिष्य को योग्यता के अनुसार शनैः शनैः अनेक उपाय और उपासनाओं के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति करावे, क्योंकि ये उपासनायें और ये प्रकार तभी सफल होते हैं जब कोई मुमुक्षु इनका साधन करे। जिस प्रकार कर्म कर्त्ता की अपेक्षा रखता है, एवं पुस्तक में लिखा हुआ अश्वमेध जब तक किसी के द्वारा अनुष्ठित न किया जाये तब तक अश्वमेध नहीं हो पाता, उसी प्रकार ज्ञान और उपासना भी कर्त्ता की अपेक्षा रखते हैं जिसके बिना वे सार्थक नहीं हो पाते।

नचिकेता को वैराग्य स्वीकार करने पर वैराग्य का यम के गृह में जा कर उसे अतिथि रूप से जलाना इस बात का द्योतक है कि वैराग्य की तीव्रता यदि यम् के द्वारा ज्ञान का साधन नहीं बनती तो वे यम भी व्यर्थ हो जाते हैं। यदि वैराग्य का अंतिम फल बोध उत्पन्न नहीं होता तो सभी उपासनायें और सभी उपाय निष्फल ही कहे जायेंगे। इस पक्ष में वैराग्य का फल परब्रह्म और अपरब्रह्म की प्राप्ति से दो प्रकार का होता है। अतः भार्या और अमात्य से इन दोनों का ग्रहण करना होगा। जैसे भार्या भर्त्ता से अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने पर भी वस्तुतः अभिन्न ही है। यह परब्रह्म का ज्ञान हुआ, क्योंकि यहाँ ब्रह्माकार वृत्ति साक्षात् ब्रह्म की भार्या है। अपर ब्रह्म की प्राप्ति में भेद का अनुवर्तन रह जाता है, अतः उसे अमात्य के द्वारा कहा गया है। यद्यपि अमात्य राजा के अत्यधिक समीप होता है, परन्तु अभिन्न नहीं। इसी प्रकार अपरब्रह्म (Personal God) वस्तुतः ब्रह्म रूप होने पर भी किसी न किसी उपाधि का आवरण होने के कारण कुछ द्वैत का अनुवर्तन रह ही जाता है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि जब तक ब्रह्माकार वृत्ति है, तब तक भी एक उपाधि है। अतः अमात्य के द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति का ग्रहण करना है और जब वृत्ति भी समाप्त हो जाती है तब जो स्थिति है, वह भार्या वाली स्थिति है। हर हालत में परब्रह्म या अपरब्रह्म की प्राप्ति के द्वारा ही वैराग्य की अग्नि शान्त हुआ करती है। वैराग्य की तीव्रता में यह कह पायें 'इहासने **शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु। अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां**

नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति ।।' वटवृक्ष के नीचे से मेरा यह शरीर तब तक नहीं हटेगा जब तक अनेक कल्पों में भी जिसका मिलना दुर्लभ है, वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो जायेगा, चाहे चमड़ा, हड्डी और मांस यहीं खतम हो जायं और शरीर सूख करके गिर जाये । यह वैराग्य की तीव्रता है ।

सामान्य दृष्टि से ब्राह्मण जब किसी के घर आता है तो मानो उसके घर साक्षात् परमेश्वर ही आ गया है, यह दृष्टि गृहस्थ को करनी चाहिये । यदि वह ब्राह्मण अतिथि हो तो फिर तो कहना ही क्या है । उस ब्राह्मण को पाद्य, अर्घ्य इत्यादि देकर उसके मार्गकष्ट की शान्ति करनी चाहिये, यह यहाँ पर बताया जा रहा है । वैदिक दर्शन में 'पुरुषान्नपरं किंचित्' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर मनुष्य को परमेश्वर का सर्वोत्तम प्रतीक माना है । मनुष्यों में भी जो शास्त्रज्ञ हो, वह और भी श्रेष्ठ माना गया है । इसी दृष्टि से ब्राह्मण का वैशिष्ट्य है । ब्राह्मण का सारा जीवन परमात्मज्ञान की प्राप्ति और उसके वितरण के लिये ही है । जहाँ इस प्रकार की दृष्टि नहीं है, वहाँ तो केवल ब्राह्मणबंधुता मानी गई है, वास्तविक ब्राह्मणता नहीं । श्रुति में 'ब्राह्मणः' और 'अतिथिः' ये दोनों अलग अलग पद भी स्वीकार किये जा सकते हैं । अतः तात्पर्य है कि जो ब्राह्मण न हो, ऐसा कोई पुरुष भी उस दिन यदि आश्रय से रहित हो तो उसे परमेश्वर का स्वरूप मानकर के ही उसकी आवभगत करनी चाहिये । वैश्वानर शब्द के द्वारा यही ध्वनि कर रहे हैं कि संसार के प्रत्येक प्राणी ही अतिथि होने के अधिकारी हैं । घर में कोई अतिथि या ब्राह्मण आये और उसका स्वागत न किया जाये तो मानो साक्षात् अग्नि और परमात्मा का ही अपमान किया गया है, क्योंकि कठ ऋषि ने सगुण ब्रह्म को अग्नि नाम से ही कहा है । यही नचिकेता के प्रथम प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट किया जायेगा । अतः अतिथि या ब्राह्मण का अपमान साक्षात् परमात्मा का ही अपमान मानना पड़ेगा । स्मृतियों तथा पुराणों में कहा गया है कि मार्ग में जो भी चींटी इत्यादि मरती हैं, यदि आये हुए अतिथि की आवभगत नहीं की जाती तो उस सबका पाप गृहस्थ को लगता है । यह इसी श्रुति को सरल ढंग से समझाने का एक तरीका है । प्राप्त मानव की सेवा का आदर्श वैदिकों में इसीलिये प्रधान स्थान वाला रहा है । मीमांसा की दृष्टि से एक प्रश्न उठ सकता है कि अतिथि की पूजा क्या इष्ट प्राप्ति के लिये होती है या अनिष्ट निवृत्ति के लिये । अथर्ववेद की मुण्डकोपनिषत् में यह स्पष्ट कहा गया है कि

जो व्यक्ति अग्निहोत्र कर्म को अतिथि पूजा से रहित होकर के करता है, वह अपने तीन ऊपर के कुल और तीन नीचे के कुलों को नष्ट कर देता है। **'आसप्तमान् तस्य लोकान् हिनस्ति'** (मुण्डक १–२–३)। अग्नि और परमात्मा की आराधना अतिथि पूजन के बिना निष्फल जाती है, यह इस श्रुति से स्पष्ट ही है। अतः नित्य कर्म न करने की तरह परमात्मा की पूजा करने वाले को अतिथि पूजा न करने से प्रत्यवाय की प्राप्ति होती है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों के मत में तो न करने से प्रत्यवाय, एवं करने से अभ्युदय हेतुता भी मानी गई है। वस्तुतस्तु अतिथि मानो सभी प्राणियों की आधारभूत एकता का प्रतीक बनकर के सामने उपस्थित होता है। अतः उसमें वेदांत दृष्टि वाले को स्वाभाविक रूप से समष्टि रूप ईश्वर का दर्शन हो जाता है। वैश्वानर वह सर्वव्यापक अग्नि है जो प्रत्येक के पेट में रहकर चारों प्रकार के पदार्थों का पचन करती है। **'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः. . . .पचाम्यन्नं चतुर्विधं'** इत्यादि गीता वाक्य इसमें प्रमाण हैं। अतः जब हम किसी अतिथि को अन्न पान आदि देते हैं तो साक्षात् परमेश्वर को ही आहुति देते हैं। जैसे अग्नि जल से शांत होती है, ऐसे ही अंदर की अग्नि को शांत करने वाला यही पदार्थ है। यहां पर 'उदक' शब्द का प्रयोग कर्मफल को बताने के लिये है। तात्पर्य है कि प्रत्येक प्राणी का प्रारब्ध भोग ही उसके लिये अन्नपान आदि का रूप धारण करता है। देने वाला तो केवल एक साधन मात्र है। जिस प्रकार जल अनायास प्राप्त होता है उसी प्रकार से जिस किसी प्राणी को हम अन्न आदि देते हैं, वह अन्न आदि भी उसके प्रारब्ध भोग के लिये हमको अनायास प्राप्त हो जाते हैं। मध्य काल के किसी कवि ने कहा भी है कि देने से कभी भी हमारे अपने प्रारब्ध भोग में न्यूनता नहीं आ सकती। इसी बात को उदक शब्द के द्वारा यहाँ श्रुति कह रही है। हृ धातु से निष्पन्न हर शब्द में आहार की ध्वनि तो स्पष्ट ही है। अतः यहां केवल जल को न समझ कर अन्न आदि का ग्रहण कर लेना चाहिये। सर्वज्ञ शंकर ने तो स्पष्टार्थता के लिये हर का अर्थ ही आहर कर दिया है।

यम का तीसरा सम्बोधन यहाँ वैवस्वत किया गया है। वैवस्वत अर्थात् विवस्वान् का पुत्र। विवस्वान् सूर्य को कहते हैं। सूर्य भी अग्नि का ही रूप है। ऋग्वेद में देवों का स्वरूप बताते हुए कहा है कि आकाश की अग्नि सूर्य है, अंतरिक्ष की अग्नि बिजली है, एवं पृथ्वी की अग्नि आग है। इस प्रकार यहां

शुद्ध अग्नि गुरु की है, एवं पार्थिव अंश से युक्त होने के कारण अशुद्ध अग्नि शिष्य की है। नचिकेता लोभ आदि से युक्त वाजश्रवस् का पुत्र है। अथवा वैराग्य रूप नचिकेता सकाम कर्म आदि से उत्पन्न हुआ है। उधर यम शुद्ध सूर्य से उत्पन्न हुआ है। अतः ब्रह्मज्ञान के द्वारा उत्पन्न गुरु का आत्मभाव है। विवस् का अर्थ अनाच्छादित होना है। जिसका कभी भी आच्छादन नहीं होता, वही विवस्वान् है। सूर्य के ऊपर जब बादल आच्छादन करता हुआ भी प्रतीत होता है तब भी वस्तुतः तो सूर्य निरावृत ही रहता है। इसी प्रकार स्वरूप से ब्रह्म अनावृत ही रहता है। जब अविद्या के कारण वह नहीं सा प्रतीत होता है उस काल में भी स्वरूप से उसमें आवरण नहीं होता। गुरु का रूप ब्रह्मज्ञान ही है। ब्रह्मज्ञान कहने का मतलब ही वृत्ति की स्थिति है। परन्तु वहां वृत्ति व्याप्ति होने पर भी फलव्याप्ति का अभाव होने से शुद्धरूपता है। शिष्य में अभी अविद्या का भाव होने से यह स्थिति नहीं हो पाई है। परन्तु इतने पर भी गुरु इस बात को जानते हैं कि शिष्य भी मेरा ही रूप है। इस एकता को ध्वनित करने के लिये ही यहां यह सम्बोधन किया गया है। गुरु जब शिष्य को उपदेश करता है तो कुछ इस प्रकार से नहीं कि शिष्य दूसरा हो, वरन् इस प्रकार से कि शिष्य मेरा ही स्वरूप है। यदि गुरु में द्वैत दर्शन हो जायगा तो शिष्य को तत्त्वमसि का उपदेश देना उसके लिये असम्भव हो जायेगा। शंका हो सकती है कि शुद्ध और अशुद्ध का भेद होने पर यदि यम को गुरु स्वीकार किया जाये और नचिकेता को शिष्य तब भी गुरु का शिष्य को पाद्य आदि देना अथवा आगे के दूसरे मंत्र में नचिकेता को नमस्यः, नमस्ते इत्यादि कहना नहीं बन सकता। परन्तु यह केवल शास्त्र विधि की अनभिज्ञता के कारण है। परमहंस संन्यास पद्धति में जब गुरु शिष्य को प्रेषोच्चारण करवा देता है तब उसके बाद गुरु स्वयं ही शिष्य को दण्डवत् प्रणाम करता है क्योंकि उस समय शिष्य भी नारायण रूप ही हो जाता है। इसलिये परमहंस सम्प्रदाय में बिना किसी भेद भाव के गुरु शिष्य या कोई भी आपस में मिलने पर एक दूसरे को ॐ नमो नारायणाय कहकर समानता को बताते हैं। यद्यपि यह पद्धति परमहंस से भिन्न दण्डी इत्यादि सम्प्रदायों में नहीं देखी जाती लेकिन उसका कारण उनका स्मार्त संन्यास पद्धति से सम्बन्धित होना है। वैदिक दृष्टि से तो जिस क्षण शिष्य ने वैराग्य को पूर्ण कर लिया, उसी

क्षण वह नारायण रूप हो गया। अतः यहां पर जो नमस्यः और नमस्ते शब्दों का प्रयोग है, वह इस श्रौत संन्यास पद्धति का मूल है।

वैश्वानरः का ब्राह्मणः से इस दृष्टि से भी सम्बन्ध है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि मैं 'अग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवत् ब्राह्मणः मनुष्येषु' इत्यादि के द्वारा परब्रह्म ही देवों में अग्नि रूप से बना एवं मनुष्यों में ब्राह्मण रूप से। अतः जिस प्रकार यज्ञ में आहुति दी जाती है उसी प्रकार श्राद्ध आदि में ब्राह्मण में ही आहुति देने का विधान है। अतः यहां वैश्वानर अग्नि के साथ ब्राह्मण की एकवाक्यता इस दृष्टि से भी बताई गई है। वस्तुतस्तु भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं कि 'अथ यदेतदक्षरं विदित्वा अस्माल्लोकात्प्रैति सः ब्राह्मणः।' इस श्रुति के अनुसार जो अक्षर परब्रह्म परमात्मा को जानकर के भोग्य पदार्थों के साथ-साथ देहाध्यास को भी छोड़ देता है वही ब्राह्मण कहा जाता है। अतः ऐसे ब्राह्मण में निरंतर ज्ञानाग्नि जलती रहती है। अतः वह अग्नि रूप है। इसीलिये उसकी सेवा करने से सकामी की कामना पूर्ण होती है एवं निष्काम को ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह कब हमारे सामने आ जाये, इसका कोई निश्चय न होने से वही अतिथि है। सर्वथा ईश्वर के संकल्प के अधीन उसके जीवन का प्रतिक्षण होने से वह कभी भी किसी भी कार्य को तिथि में निश्चित नहीं कर सकता। अन्यत्र अतिथि में यद्यपि जिसके घर गया है, उसके लिये अनिश्चितता है, लेकिन स्वयं जाने वाले के संकल्प में तो निश्चितता है ही। केवल ज्ञानी ही सर्वथा सभी संकल्पों से रहित होने से अतिथि पद का मुख्यार्थ है। ऐसे ब्राह्मण अतिथि की सेवा करने का मौका प्राप्त होने पर भी यदि सेवा नहीं कर सका तो यह एक प्रकार से अपने जीवन का सबसे बड़ा नुक्सान होने से ही भगवान भाष्यकार 'दहन्निव' शब्द का प्रयोग करते हैं। मानो सारा जीवन ही जल गया अर्थात् व्यर्थ हो गया। आज भी लोक में कह दिया जाता है कि मेरा तो सर्वस्व स्वाहा हो गया। उसी दृष्टि से यहां भी समझना चाहिये। द्वितीयार्द्ध में श्रुति कहती है कि उसकी शान्ति के लिये कोई बहुत बड़ा कार्य आवश्यक नहीं, वरन् उदक मात्र से अर्थात् केवल जल पिला देने से भी आत्मज्ञानी के हृदय में संतोष उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार शंकर का पूजन करने के लिये केवल साधारण जल ही पर्याप्त होता है परन्तु उससे मोक्ष एवं लक्ष्मी दोनों की प्राप्ति हो जाती है। उसी प्रकार आत्मज्ञानी के विषय में भी

समझना चाहिये। आत्मज्ञानी साक्षात् शिवस्वरूप ही है। जैसे शिव, जो चीज उन्हें चढ़ाई जाये, उसकी तरफ दृष्टि न करके चढ़ाने वाले के भाव की तरफ दृष्टि करते हैं, उसी प्रकार से आत्मज्ञानी भी भाव की दृष्टि ही करता है। यह उदकं के द्वारा स्पष्ट किया गया। यद्यपि हर क्रियावाचक माना गया है परन्तु इसे सम्बोधनात्मक भी माना जा सकता है। हर हालत में सम्बोधनात्मक ध्वनि तो स्वीकार की ही जा सकती है। अत: हर और वैवस्वत ये दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित होकर आत्मज्ञानी यम को हर अर्थात् भगवान शंकर का ही एक रूप बता रहे हैं।

यद्यपि यम को एक घोर प्राणी माना जाता है तथापि अथर्ववेद (१९-९-४) का उद्घोष है कि **'येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तुन:'** जिस भगवान शंकर के द्वारा घोर अर्थात् इस संसार की सृष्टि होती है, उसी भगवान शंकर के द्वारा हमें मोक्ष रूप से शान्ति की भी प्राप्ति होती है। तात्पर्य है कि जब तक हम परमेश्वर से दूर जाते हैं एवं अपनी इच्छा की पूर्ति चाहते हैं तब तक हमें घोर संसार की प्राप्ति होती है एवं जब हम अपने संकल्पों को छोड़कर परमेश्वर की तरफ चल देते हैं, तब हमें शान्ति की प्राप्ति होती है। यहाँ उदकं कर्म का प्रतीक है। अत: जो कर्म कामना पूर्वक किया जाता है, वह घोर संसार रूप फल देता है क्योंकि स्वर्ग लोक, ब्रह्मलोक आदि सभी संसार ही है। वे ही कर्म जब परमेश्वर की तरफ किये जाते हैं तब इसी घोर संसार को शांत कर देते हैं, **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा: विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन'** इत्यादि श्रुतियाँ इस बात का प्रतिपादन कर रही हैं। परमेश्वर प्राप्ति के साधन रूपी कर्म संसार प्राप्ति के साधन रूपी कर्मों से भिन्न नहीं हैं, परन्तु करने के उद्देश्यों में भेद है। उपर्युक्त बृहदारण्यक उपनिषद् के मंत्र में यज्ञ, दान इत्यादि को समग्र भाव से विविदिषा में विनियुक्त करके यही बताया गया है। भगवान सुरेश्वर भी यही लिखते हैं **'काम्येपि शुद्धिरस्त्येव'** काम्य कर्म भी शुद्धि के प्रयोजक हो जाते हैं। इस कर्मफल त्याग को ही यहां पर 'एतां' के द्वारा द्योतित किया गया है। वस्तुत: साधक स्वयं तो कर्म फल त्याग कर ही आया है, यह प्रथम मंत्र में ही बता आये हैं। परन्तु यहां जो अपने दैनंदिन कर्म हैं, वे भी गुरु की आज्ञा मात्र से किये जाते हैं। यह वैशिष्ट्य यहाँ प्रतिपादित है। **'हे वैवस्वत ! उदकं हर'** का

तात्पर्य है कि गुरु रूप से हे यम ! अब तुम ही हमारे कर्मों का आहरण करो अर्थात् चलाओ। शिष्य के अहं भाव की निवृत्ति की यह पराकाष्ठा है। यजुर्वेद में इसीलिये कहा गया है 'शान्तिरेव शान्तिः सामा शांतिरेधि।' शांति भी शांत हो जाये ऐसी शान्ति की मुझे प्राप्ति हो। महाभारत भी यही कहता है कि सत्य, अनृत, धर्म, अधर्म सब छोड़कर जिस संकल्प के द्वारा इनको छोड़ते हो, वह संकल्प भी छोड़ दो अर्थात् मैं उन्हें छोड़ूं, या न छोड़ूं इन दोनों संकल्पों से रहित हो जाओ। 'यंत्रः तिष्ठति केवलः' मैं केवल गुरु की आज्ञा का एक यंत्र मात्र रह जाऊं। शिष्य ऐसा ढोल बन जाये जिसमें से आवाज आती हुई प्रतीत हो लेकिन वस्तुतः वह आवाज गुरु के हाथ की चोट का असर हो, स्वयं शिष्य का कुछ नहीं। प्राचीन काल से वेदांत सम्प्रदाय में बड़े से बड़े आचार्यों ने यही कहा है कि हमें जिस ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति गुरु कृपा से प्राप्त हुई, वह ही इस ज्ञान निष्ठा के एकमात्र कर्त्ता हैं, हम नहीं। अद्वैत सम्प्रदाय के सबसे बड़े आचार्य गौड़ ब्रह्मानंद सरस्वती अपने मूर्धन्य ग्रन्थ लघुचन्द्रिका में लिखते हैं—"**शिवरामाख्य वर्णिनः एतद् ग्रन्थस्य कर्तारो लेखकाः केवला वयं**" मेरे गुरु शिवराम ही इस ग्रन्थ के बनाने वाले हैं। मैं तो केवल लिपिकार मात्र हूं। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में जैसी गुरु निष्ठा अद्वैत सम्प्रदाय में रही है, वैसी और कहीं भी उपलब्ध नहीं होती, इसका मूलभूत कारण भी यही है कि शिष्य अपने अहं का सर्वथा त्याग कर पाता है। अन्य सब सम्प्रदाय अपने गुरु का विरोध करके ही उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि कथानकों में कहा जाता है कि उन्हें अपने गुरु के उपदेशों से शांति नहीं मिली, इसलिए उन्होंने नया सम्प्रदाय चलाया, परन्तु तात्पर्य तो यही आ जाता है कि वह अपने अहं को छोड़कर गुरु से एक दृष्टि वाले नहीं बन पाये। अद्वैत सम्प्रदाय में एक भी ऐसा व्यक्ति मान्य नहीं हो पाया जिसने इस प्रकार साक्षात् या संकेत से भी गुरु का विरोध किया हो। आचार्य मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रकाण्ड सर्वतंत्र स्वतंत्र गूढ़ार्थ दीपिका में कहीं-कहीं यदि भाष्य से भिन्न अपना अभिप्राय प्रकट भी कर देते हैं तो तुरंत ही फिर कहते हैं कि कृष्ण के हृदय को तो भाष्यकार ही समझ सकते हैं, हम बेचारे गरीब कहाँ से उस अभिप्राय को समझ सकते हैं। '**के वयं वराकाः**' जब तक इस प्रकार की दृष्टि सर्वथा नहीं बन जाती तब तक न तो गुरु तत्त्वमसि का उपदेश ही दे

पाते हैं और न शिष्य के हृदय में ज्ञान का प्रकाश ही आ पाता है। ठीक ही है क्योंकि अनादि काल से चले आये हुए अज्ञान और तत्कार्य में भेद की ही प्रतीति रही है। इस भेद का नाश श्रद्धा की पूर्णता के बिना असम्भव है। यदि गुरु की किसी सामान्य बात पर भी मनुष्य को श्रद्धा का अभाव हो तो इतनी बड़ी बात पर कहां से श्रद्धा उत्पन्न होगी कि यह विश्व तीनों कालों में उत्पन्न ही नहीं हुआ, प्रतीत भी नहीं हुआ और न ज्ञान के द्वारा इसका बाध होता है।

उदक को कर्म का प्रतीक मानने पर यह अर्थ भी सम्भव है कि 'हे गुरु रूप वैवस्वत ! तुम शिष्य के समग्र कर्मों का क्षय करो।' 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' ज्ञान के द्वारा ही समग्र कर्मों का क्षय सम्भव है। अतः यम की भार्या या अमात्य यह कह रहे हैं कि यह ब्राह्मण अन्दर वैराग्य की अग्नि से पूर्ण रूप से जल रहा है। इसने तपस्या के द्वारा अपने को परम पवित्र भी कर लिया है। अब इसकी शान्ति, इसके समग्र कर्मों का क्षय, आत्मज्ञान के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इसलिये तुम उसे आत्मज्ञान देकर उसके समग्र कर्मों का क्षय कर दो। कर्मों के हरण करने का तात्पर्य यही है कि जब गुरु का ज्ञान शिष्य के हृदय में प्रकाशित होता है तो शिष्य को यह निश्चय हो जाता है कि मैंने यह कर्म कभी किया ही नहीं। वास्तविकता भी यही है क्योंकि आत्मा में कभी भी कर्तृत्व सम्भव नहीं है। जिस मिथ्या ज्ञान के निमित्त से कर्तृत्व की प्रतीति होती है, तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से वह कर्तृत्व जैसे ही निवृत्त हो गया, वैसे ही स्वरूप में स्थिति हो जाती है और परम शान्ति का लाभ हो जाता है। यही यहाँ वैवस्वत को कहा जा रहा है।

: ८ :

अतिथि को भोजन न देने के पाप का फल बताते हैं :—

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशून् च सर्वान्।
एतत्वृङ्क्ते पुरुषस्य अल्पमेधसः
यस्य अनश्नन् वसति ब्राह्मणः गृहे ॥

यस्य	=	जिस	पुरुषस्य	=	पुरुष के
अल्पमेधसः	=	अल्पबुद्धि वाले	गृहे	=	घर में

ब्राह्मणः	=	ब्राह्मण	च	=	और
अनश्नन्	=	नहीं खाते हुए	इष्टापूर्ते	=	इष्ट, पूर्त
वसति	=	रहता है,	च	=	और
(तस्य)	=	(उसके)	सर्वान्	=	सभी
आशाप्रतीक्षे	=	आशा, प्रतीक्षा,	पुत्रपशून्	=	पुत्र पशु आदि
संगतं	=	योग,	एतत्	=	इनको
सूनृतां	=	मीठा बोल,	वृङ्क्ते	=	नष्ट करता है।

इसे चाहे श्रुति का अपना वाक्य समझा जाये अथवा यम के सहयोगियों का। दोनों ही प्रकार से यहां अतिथि पूजा की प्रशंसा की जा रही है, क्योंकि यह एक विशिष्ट कर्म है। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में तो एक-एक फल बताते हुए कहा है "किं प्रथमां रात्रिम् अश्ना इति ? प्रजां इति······द्वितीयां·········पशून·····तृतीयान्·······साधुकृत्यां। पहली रात्रि को क्या खा लेता है ? तो कहा—उसकी प्रजाओं को। दूसरी रात्रि को क्या खाता है ? उसके पशुओं को। एवं तीसरी रात्रि को क्या खाता है ? तो उसके किये हुए शुभ कर्मों को। इस प्रकार से स्पष्टतः तीनों रात्रियों का अलग-अलग फल भी बताया है। जहां इष्ट, पूर्त, मीठा बोल, आदि कर्म कहे गये हैं, वहां इन कर्मों का फल समझना चाहिये, क्योंकि किया हुआ कर्म तो नष्ट नही हो सकता, उनका फल ही नष्ट हो सकता है। किंच, यदि फल नष्ट न हो तो कर्म नाश से अनिष्ट प्राप्ति भी नहीं होगी। यद्यपि वैदिक संहिताओं में सूनृत शब्द का अर्थ हर्ष किया गया है एवं उसको भी यहां स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु भाष्य अनुरोध से एवं परवर्ती ग्रन्थों के अनुरोध से हमने यहां मीठा बोल अर्थ किया है। वस्तुतः मीठा बोलने का फल हर्ष होने से दोनों का साधन-साध्य रूप से अभेद समझ लेना चाहिये अन्यथा केवल मीठा बोलने के फल की आकांक्षा रह ही जायेगी। भाष्यकारों ने सभी पुण्य कर्मों का फल हर्ष होने के कारण किसी वैशिष्ट्य का अभाव देखकर ही रूढ़ि के बल से यहाँ सूनृत का अर्थ 'प्रियावाक्' किया है। श्रुति के अनुरोध से इसका फल हर्ष कर लेना चाहिये।

जिस इष्ट पदार्थ की प्राप्ति का कोई निश्चित ज्ञान न हो परन्तु प्राप्त करने की इच्छा अवश्य हो, उसे आशा कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे Hope

कहते हैं। जिस प्राप्त होने वाले पदार्थ का निश्चित रूप से ज्ञान हो कि वह मिलने वाला है, उसकी प्रतीक्षा हुआ करती है। इसे अंग्रेजी में Expectation कहते हैं। गोपालेन्द्र की दृष्टि से तो जो अत्यंत अज्ञात सोने के पर्वत या क्षीर समुद्र आदि प्राप्त करने के योग्य पदार्थ हैं, वह मुझे प्राप्त हों इस इच्छा का नाम आशा है; एवं प्रत्यक्ष आदि से सुतरां ज्ञात जो राज्य आदि हैं, वे मेरे हों, इस इच्छा का नाम प्रतीक्षा है। दोनों ही प्रकारों में अनिर्ज्ञात और ज्ञात का भेद तो एक जैसा ही है। तात्पर्य यह हुआ कि वह व्यक्ति जिन-जिन चीजों की आशा करता है, वे भी उसे नहीं मिल पातीं एवं जिन चीजों की प्रतीक्षा होती है, वे भी नहीं मिल पातीं। आधुनिक दृष्टि से कहा जाये तो आशा के नष्ट होने का मतलब है कि जो पदोन्नति (Promotion) होने वाली हो, वह न हो, एवं प्रतीक्षा के नष्ट होने का मतलब है कि किसी कारण से वार्षिक वृद्धि (Increment) ही रुक जाये। यदि यहां आशा, प्रतीक्षा को सभी प्रकार के फलों की उपलक्षणा के लिये समाहारद्वन्द्व स्वीकार किया जाये तो द्विवचन आशा और प्रतीक्षा की एक ही स्त्रीलिंगता को लेकर संगत कर लेना चाहिये। अन्यथा सभी कार्यों के फल अलग-अलग लेने में भी कोई दोष नहीं है। इस दृष्टि से पुत्रपशून् में भी समाहार द्वन्द्व मान लेना चाहिये, जिससे तात्पर्य हो जायेगा कि केवल पुत्र पशु ही नहीं वरन् सब प्रकार की सम्पत्ति इससे इष्ट है। पत्नी, मकान, धन, जमीन, जायदाद आदि सभी का संग्रह इससे आ जायेगा। तब भाव हो गया कि पुत्रपशून् से प्राप्त पदार्थों का संग्रह है एवं आशा प्रतीक्षा से प्राप्य पदार्थों का। अतः अतिथि का स्वागत न करने पर जो प्राप्त पदार्थ हैं, वे भी चले जाते हैं एवं जो भविष्य में प्राप्त होने वाले होते हैं, वे भी प्राप्त नहीं हो पाते।

जिस पक्ष में नचिकेता को वैराग्य का प्रतीक माना गया, वहां तो वैराग्य से होने वाले ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति आशा से एवं ब्रह्मज्ञान अथवा शांति की प्राप्ति प्रतीक्षा से ली जायेगी। अथवा परब्रह्म आशा का विषय होगा एवं अपर ब्रह्म प्रतीक्षा का विषय। वैराग्य पूर्वक वेदांत श्रवण में जाने वाले को ईश्वर दर्शन तो अवश्यंभावी ही है, यदि किसी कारण से उसका परब्रह्म में अवस्थान प्रतिबद्ध हो जाये तो भी। अतः ये आशा और प्रतीक्षा के विषय हो गये। यदि यमों के द्वारा श्रवण आदि की प्राप्ति न हो पाई तो यही आशा प्रतीक्षा का नष्ट हो जाना हो जायेगा। यम

अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि, यदि वैराग्यहीन द्वारा की जाती है तो उसे आशा प्रतीक्षा की प्राप्ति नहीं करा पाती, यह भाव है। प्रश्न होता है कि इस प्रकार के धारणा, ध्यान, समाधि (यम) का क्या कोई फल है? उसके उत्तर में श्रुति ने संगत शब्द का प्रयोग किया है। भाष्यकार संगतं का अर्थ तत् संयोगजं फलं करते हैं। अर्थात् बिना वैराग्य के धारणा, ध्यान, समाधि का फल सम्यक् प्रकार से किये जाने पर भी नहीं हो पाता। महर्षि पतंजलि भी अभ्यास के साथ वैराग्य को भी सहकारी कारण मानते हैं। अथवा भाष्य में आये संयोग का अर्थ प्रारब्ध के संयोग से प्राप्त भी किया जा सकता है। तब तत् का अर्थ हो जायेगा, उस जीव के द्वारा कृत प्रारब्ध का संयोग। अर्थात् यदि मनुष्य प्राप्त ब्राह्मण को भोजन आदि नहीं देता तो जो प्रारब्ध का निश्चित भोग होता है, उसमें भी प्रतिबंधक आ जाता है। अध्यात्म दृष्टि से तो कृत कर्मों का फल गुरु की प्राप्ति है। परन्तु यदि ब्राह्मण की तरफ दृष्टि हट जाती है तो गुरु प्राप्ति भी असम्भव हो जाती है। शंका की जा सकती है कि यहाँ प्रकरण केवल अतिथि की पूजा का है, फिर इसे गुरु प्राप्ति में क्यों लगाया जाये? विचार करने से प्रतीत होता है कि श्रुति अतिथि के अपमान करने वाले पुरुष का अल्पमेधसः विशेषण दे रही है। अतः केवल सामान्य व्यक्ति को न लेकर के अल्पमेधा से, अल्प अर्थात् परिछिन्न पदार्थों में जिसकी मेधा अर्थात् बुद्धि जाती है, उसको बता रही है। ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भी पदार्थों की प्राप्ति है, वह सब परिच्छिन्न एवं विनाशी है। इसे सामवेद की छांदोग्य उपनिषद् में 'यदल्पं तन्मर्त्यं' के द्वारा बताया गया है। विनाशी पदार्थों की इच्छा वाला ही ब्रह्म विविदिषुओं अर्थात् ब्रह्मज्ञों के प्रति उपेक्षा बुद्धि कर सकता है। अतः यह विशेषण ही श्रुति के तात्पर्य का गम्भीर अर्थ द्योतित करता है। यदि नचिकेता का यमाचार्य के यहाँ गुरुकुल की दृष्टि से जाना स्वीकार किया जाये तो भी जैसे उपकोशल कामलायन ने बारह वर्ष तक जब अग्नि का परिचरण कर लिया एवं उसके सभी साथियों का सत्यकाम जाबाल ने समावर्तन कर दिया तब सत्यकाम की पत्नी ने कहा कि इस ब्रह्मचारी ने तपस्या पूर्वक अग्नि की परिचर्या की है, इसे भी आत्मज्ञान का उपदेश देवें। अन्यथा 'मा त्वा अग्नयः परिप्रवोचन्' कहीं अग्नि तुम्हारा नुक्सान न कर दे। उसी प्रकार का यहां अर्थ समझना

चाहिये। तात्पर्य है कि यमाचार्य की पत्नी कहती हैं कि इसने बिना किसी अपनी कामना को पूरा किये हुए (अनश्नन्) तुम्हारी सेवा की है एवं यदि इसे आत्मज्ञान का उपदेश नहीं दोगे तो अवश्य ही इस उपेक्षा के फलस्वरूप तुम्हें नुक्सान उठाना पड़ेगा। ब्रह्मवेत्ता को यद्यपि कोई नुक्सान सम्भव नहीं है लेकिन भार्या का यह वचन सामान्य दृष्टि से उसे लोक संग्रह दृष्टि से सबको उपदेश देने के लिये समझ लेना चाहिये।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में तो 'संगच्छस्व पितृभिः' कहा गया है। अतः अपने पूर्वजों के भाव को प्राप्त करना ही संगत शब्द का अर्थ बन जाता है। इस दृष्टि से संगत का अर्थ पैतृक सम्पत्ति (Inheritance) समझ लेना चाहिये, फिर चाहे वह विद्या रूप हो, शील रूप हो, आचार रूप हो अथवा सम्पत्ति रूप हो। तात्पर्य है कि जो व्यक्ति अतिथि की तरफ से उपेक्षा रखेगा, उसकी पैतृक सम्पत्ति भी उसे सुख नहीं पहुँचा पायेगी। अथवा पितृ परम्परा से प्राप्त होने वाले ज्ञान से वह वंचित रह जाता है, या उसका शील दूर हो जाता है।

इह लोक में यदि मनुष्य को कोई चीज सर्वाधिक प्रिय बनाती है तो वह मीठा बोल ही है। भाषा में कहा भी है कि न कोयल किसी को कुछ देती है और न कौआ किसी से कुछ लेता है। परन्तु मिष्ट भाषण के कारण ही एक को लोग चाहते हैं और दूसरे को भगाते हैं। ब्राह्मण के अपमान से मनुष्य का यह सद्गुण नष्ट हो जाता है। नतीजा उससे होने वाला जो लोगों से प्रेम मिलना है, वह नहीं मिल पाता। अन्य लोगों का प्रेम ही सबसे बड़ा हर्ष है। मिष्ट भाषण शास्त्र के अनुसार परलोक में भी सुफल देता है। अतः उसका भी संग्रह कर लेना चाहिये। यदि गुरु सच्छिष्य को उपदेश नहीं देता है तो उसकी वाणी व्यर्थ हो जाती है, एवं शिष्य के हृदय में ज्ञानाग्नि की दीप्ति देखने का जो हर्ष हो सकता है, वह भी प्रतिबद्ध हो जाता है। इसी प्रकार वैराग्य भी मधुर भाषण के अभाव में एक प्रकार का पाखण्ड या दर्प बन जाता है। प्राय. देखा जाता है कि वैराग्यवान व्यक्ति अपने वैराग्य के घमण्ड के कारण दूसरों का कटु भाषण से अपमान करने में देरी नहीं करता। यह वैराग्य का फल नहीं वरन् कुफल है। प्रायशः संन्यासी में यह देखा जाता है कि वह इस भाव से ग्रस्त हो जाता है कि मुझे दुनिया में किसी की क्या चिंता है। इस प्रकार

का विचार या दर्प होता है या पाखण्ड, एवं दोनों ही अध्यात्म मार्ग के पथिक के लिये हानिप्रद ही सिद्ध होते हैं। दूसरे, ब्राह्मण और अतिथि के प्रति प्रेम का न होना ही इस प्रकार के फल को उत्पन्न करता है। अतः श्रुति कहती है कि जब हम दूसरों के प्रति मिष्ट भाषण का प्रयोग करते हैं तो उसे केवल खुशामद का रूप नहीं समझना चाहिये, वरन् सबमें जो शास्त्र द्वारा कहा गया आत्म दर्शन है, उसको करने के अभ्यास का फल ही समझना चाहिये।

श्रुति में कहे हुए हवनों का नाम इष्ट कर्म है जिनका फल स्वर्ग आदि की प्राप्ति है। इनका उद्देश्य अपने लिये किसी सुफल को उत्पन्न करना है। जो समाज के कल्याण के लिये बगीचा एवं बावड़ी इत्यादि बनाये जाते हैं उसे पूर्त कर्म कहते हैं। ये कर्म अपने स्वार्थ के लिये नहीं किये जाते। यद्यपि इनसे भी करने वाले को फल तो मिलता ही है, परन्तु उद्देश्य भेद से एक संकल्प में ही अपने लिये है और दूसरा समाज के लिये। मुण्डक भाष्य में सर्वज्ञ शंकर के द्वारा श्रौत कर्मों को इष्ट कहा गया है, एवं स्मार्त कर्मों को पूर्त। वहाँ तात्पर्य है कि जिन कर्मों में श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है, वे कर्म इष्ट हैं क्योंकि उनके विषय में किसी भी प्रकार की युक्ति से चिंतन नहीं किया जा सकता है। परन्तु जो समाज सेवा के कर्म हैं, उन्हें अपनी बुद्धि से विचारपूर्वक समझा जा सकता है। अतः देश, काल परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन लाया जा सकता है। अतः वहाँ केवल किसी शास्त्र आज्ञा को ही आंख मूंदकर नहीं मानना है, वरन् फल, उपाय, प्राप्त करने वाले पर उसका प्रभाव, समाज कल्याण की दृष्टि से उसका प्रभाव इत्यादि सभी बातों को सोचकर अधिकतर लोगों का जिसमें कल्याण हो, उसे करना पूर्त कर्म है। वैसे पूर्त शब्द पूरे धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ दूसरे की कमी को भरना अथवा संतुष्ट करना है। तात्पर्य है कि जिस कर्म से दूसरे की कमी को पूर्ण किया जाये, अथवा दूसरे को संतुष्ट किया जाये, वही पूर्त कर्म है। इसमें केवल मानवों की ही कमी अथवा संतुष्टि का संग्रह नहीं समझना चाहिये, वरन् पशु-पक्षियों की संतुष्टि के साथ-साथ समाज की कमी को भरना भी समझना चाहिये। जो वैज्ञानिक या तकनीकी लोग (Technicians) इस प्रकार के आविष्कारों से जन कल्याण में लगे रहते हैं, वे भी पूर्त कर्म ही

कर रहे हैं । पूर्त कर्मों को करते हुए उन्हें किंचित् वेतन आदि मिल जाता है तो वह प्रासंगिक है, अतः उनकी पूर्त कर्मता को खण्डित करने वाला नहीं है। समाज की कमी को दूर करने के लिये जो प्रयत्न में लगे रहते हैं एवं समाज को ठीक रास्ते पर लाने के लिये अपनी वाणी, शरीर इत्यादि का प्रयोग करते हैं, वे सभी पूर्त कर्म के अंतर्गत हैं। इस प्रकार इष्ट पूर्त कर्म की दृष्टि व्यापक दृष्टि है। अथवा इष्ट और पूर्त कर्मों से सभी शास्त्रीय एवं विहित कर्मों का समाहार द्वन्द्व से ग्रहण कर लेना चाहिये। इस पक्ष में भी प्रतीक्षा की तरह ही द्विवचन इष्ट और पूर्त दोनों के लिये है। नपुंसक लिंग वाला होने के कारण संगत हो जायेगा। तब दान, स्वाध्याय, तप आदि का संग्रह सरलता से हो जायेगा। यह भी इष्ट और पूर्त का फल ही समझना चाहिये। स्मृतियों में कहे हुए **'वापीकूपतड़ागादिदेवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते।'** परिसंख्यान के लिये न समझकर उपलक्षणा के लिये समझने चाहिये। जैसे वापी, कूप, तड़ाग आदि आज के युग में बड़े बांध बनाने में, नहर निकालने में अथवा किसी के घर में नल लगाने में गतार्थ हो जायेंगे। ऊंचे भावों में बिकने वाले आवश्यक अन्न, वस्त्र आदि को कम दामों पर गरीबों को देना भी अन्न प्रदान के अंतर्गत ही माना जायेगा। दूसरी तरफ भिखारियों को भीख देने की दृष्टि से उनके आत्म-सम्मान को घटाना, अथवा प्रमादी और आलसियों को समाज में बढ़ाना वस्तुतः समाज की दृष्टि से और व्यक्ति की दृष्टि से हेय होने के कारण इस युग में धर्म का कार्य नहीं माना जा सकता। जो लोग ग्रहण के दिन एक-एक पैसा अनेक भिखारियों को देंगे, वही अपने यहाँ काम करने वाले की तन्खा बढ़ाने के समय अधिक से अधिक संकोच करेंगे। वे यह नहीं समझ पाते कि काम करने वाले को हम उसके आत्म सम्मान की रक्षा करके यदि परिश्रम से अधिक भी देते हैं तो यह भी एक पूर्त कार्य ही है। वेदांत दृष्टि में मनुष्य जीव भाव में होने पर भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः दूसरे के सम्मान को अधिक से अधिक प्रश्रय देना वेदांत की मर्यादा है। कुछ वर्ष पूर्व तक जब आटे की चक्कियां नहीं आई थीं तो विवाह आदि काल में अपने मित्र और संबंधियों के पास गेहूं आदि भेज दिया जाता था जिससे वे अपने घर में पीस-पीसकर शादी वाले घर में पहुँचा देते थे। किसी धनी रिश्तेदार या मित्र के घर लोग इसलिये गेहू

नहीं भेजते थे कि वह कैसे पीसेंगे । परन्तु बुद्धिमान धनी घर की स्त्रियाँ स्वयं जाकर उनसे गेहूं मांग लाती थीं और कहती थीं कि क्या हम तुम्हारे रिश्तेदार या मित्र इतने गये बीते हैं कि पीसने का काम नहीं कर सकते । फिर वह गेहूं को चाहे अपने नौकर से पिसवाते थे और उसमें ५-१० अशर्फियां डालकर भिजवा देते थे । आटे के बड़े बोरों में वह आटा सीधा पड़ जाता था और किसी को पता भी नहीं लग पाता था कि कौन दे गये । यह वेदांत की दृष्टि से किसी को देना है । प्रायः जिसकी मदद की जाती है, वह आज के युग में विरोधी इसीलिये बन जाते हैं कि मदद करने वाला अपने को उच्च समझता है एवं यथासम्भव दूसरे को इस बात का बोध कराना चाहता है कि उसका कितना उपकार किया गया है। उसी के फलस्वरूप दूसरे में हीन भावना का निर्माण होता है जिसे वह काल आने पर प्रकट करता है। वेदांत की दृष्टि से दान करने वाला चूंकि दूसरे में कभी भी अपनी उपकारिता का स्पन्द नहीं डालता, अतः सामने वाले के हृदय में भी दुर्भावना की उत्पत्ति नहीं हो पाती ।

यद्यपि वृञ्ज धातु का अर्थ वर्जन करना होता है जिसका अभिप्राय छोड़ना और त्यागना दोनों ही होता है परन्तु यहाँ आवर्जन या विनाश अर्थ ही भाष्यकारों ने लिया है क्योंकि कर्त्ता ब्राह्मण है एवं वह ब्राह्मण छोड़ता या त्यागता नहीं है। इस प्रकार अगतिक ही यह अन्तर्हित णिजन्त मानना पड़ता है । यद्यपि रुधादिगण में एक अन्य वृज् धातु है जिसका अर्थ हटाना या चोट पहुँचाना हो सकता है, परन्तु वह परस्मैपदी है । अतः या तो छांदस प्रयोग मानकर के इसका निवारण हो सकता है, अथवा धातु की अनेकार्थता का न्याय होने से इस अदादि गण के वृञ्ज धातु को ही चोट पहुंचाने के अर्थ में ग्रहण कर लेना चाहिये । हर हालत में अर्थ तो यही है कि आये हुए अतिथि ब्राह्मण गृहपति के उपर्युक्त सभी कर्म फलों को उससे हटा देते हैं या चोट पहुँचा देते हैं। निष्काम भाव से गुरु सेवा करने वाला भी यहाँ पर संगृहीत है। क्योंकि मंत्र में यहाँ अतिथि शब्द कहीं पर भी पठित नहीं है। तात्पर्य होगा कि यदि कोई अल्पमेधा अर्थात् अब्रह्ममेधा वाला नहीं है एवं ब्रह्म विविदिषु से इस प्रकार की सेवा कराते हुए उसको रखते हैं एवं उसकी आशा को पूर्ण नहीं कर पाते तो उसके सभी उपर्युक्त कर्म फलों का नाश हो जाता है । तब श्रौत तात्पर्य होगा कि जो ब्रह्मज्ञान की अभिलाषा

वाला व्यक्ति है उसे कभी भी यह मेरी सेवा या काम करेगा इस भावना से 'ब्रह्मज्ञान दूंगा' ऐसा झूठा दिलासा देकर भूल कर भी सेवा में नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि वह अग्नि की तरह इस प्रकार के झूठे आश्वासन देने वाले के सारे ही शुभ कर्मों को नष्ट कर देंगे। अनशन के द्वारा यह तो स्पष्ट ही कर दिया गया कि जो आत्मज्ञान का इच्छुक ब्राह्मण है, वह कभी भी किसी भी कामना से प्रयुक्त होकर कर्म नहीं करेगा। भगवान भाष्यकार ने इसीलिये कामनाओं के अनशन को ही वास्तविक अनशन माना है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी कामना का अनशन करने वाले से हमेशा ही भय करना चाहिये क्योंकि जो अपनी कामनाओं को छोड़ देता है, उसकी परमात्मा सदा ही रक्षा करता है। लौकिक दृष्टि से तो आचार्यपाद समग्र श्लोक का अर्थ बताते हैं 'सर्वावस्थासु अपि अनुपेक्षणीयः अतिथिः' भीषण विपत्ति काल में भी अतिथि की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

जीवन में कई बार परिस्थितियों में छोटे-छोटे वैराग्य उत्पन्न होते हैं। यह वैराग्य एक प्रकार से तत्कालीन अतिथि ही है क्योंकि हम निरंतर राग के घर में रह रहे हैं। इन वैराग्य के क्षणों की उपेक्षा न करके जो इनको आदर की दृष्टि से देखता है, अर्थात् यह दृष्टि करता है कि ये वैराग्य के क्षण ही सचमुच उपादेय क्षण हैं, वह तो कभी न कभी आत्मज्ञान के रास्ते में चल ही देता है। इससे विपरीत जो इस वैराग्य के क्षणों को अपनी कमजोरी मान बैठता है, उनकी तरफ उपेक्षा की दृष्टि रखता है और अपने राग के क्षणों को ही वास्तविक क्षण समझता है, उसके जीवन में आत्मज्ञान का मार्ग खुल नहीं पाता। इसलिये मानो उसका मनुष्य जीवन में आने का जो भी उत्तम फल था, वह नष्ट हो जाता है। इस नाश के प्रकार में ही आशा, प्रतीक्षा इत्यादियों का अन्वय कर लेना चाहिये।

: ६ :

इस प्रकार समझाये जाने पर वैवस्वत् मृत्यु नचिकेता के पास पूजन सामग्री लेकर के गये और कहा :—

तिस्रः रात्रीः यत् अवात्सीः गृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिः नमस्यः।
नमः ते अस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मे अस्तु
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥

ब्रह्मन् = हे ब्राह्मण !
नमस्य: = नमन के योग्य
अतिथि: = अतिथि होकर
अनश्नन् = बिना खाये हुए
मे = मेरे
गृहे = घर में
तिस्र: = तीन
रात्री: = रातें
यत् = जिस कारण से
अवात्सी: = रहे,
तस्मात् = इसलिये
ब्रह्मन् = हे ब्राह्मण !
ते = आपको
नम: = नमन
अस्तु = है;
मे = मेरा
स्वस्ति = कल्याण
अस्तु = हो ।
त्रीन् = तीन
वरान् = वरों को ।
प्रति = वदले में
वृणीष्व = चुनकर मांग लो ।

आया हुआ अतिथि हमेशा ही नमस्कार के योग्य माना गया है। यद्यपि आज की समाज रचना में अतिथि में भी वर्ण, वय, कुल, अभिजात, धन, पद आश्रम आदि के भेदों को स्वीकार करके नमस्कार की योग्यता मानी जाती है परन्तु यह वैदिक विधि नहीं है। योरोप की संस्कृति में अभी भी यह परम्परा अक्षुण्ण है एवं जो भी अतिथि आता है, गृह पति दरवाजे पर जाकर पहले अपना हाथ बढ़ाकर उसका अभिवादन करता है एवं अपने नाम, गोत्र आदि का उच्चारण करता है। जब यहां वाइसराय रहा करता था एवं विशिष्ट अवसरों पर भोज देता था तो स्वयं वाइसराय और वाइसरीन दरवाजे पर खड़े होकर प्रत्येक अतिथि का स्वागत करते थे। महारानी एलिज़ाबेथ जब गद्दीनशीन हुई तो जितने लोग आते थे उन सबसे हाथ मिलाना पड़ता था और कहा जाता है कि सैकड़ों की संख्या में हाथ मिलाने में समर्थ न होने के कारण उसके पीछे एक दाई को खड़ा कर दिया गया था जो उसकी बगल से हाथ निकालकर सबसे हाथ मिलाती थी। यह कितना ही हास्यास्पद क्यों न लगे परन्तु परम्परा के सन्मान की दृष्टि से बुद्धिमान तो इसकी प्रशंसा ही करेगा। 'अतिथि: नमस्य:' का आंतरिक भाव यही है कि जब अतिथि समष्टि का प्रतीक बनकर के आया है और उसमें ईश्वर दृष्टि की जा रही है तो जैसे संगमरमर के एक

टुकड़े में विष्णु दृष्टि कर देने पर ब्राह्मण के द्वारा भी पूज्यता आ जाती है तो जीवित व्यक्ति में वह क्यों नहीं आ सकती। आध्यात्मिक दृष्टि से तो पहले कहा ही था कि शिष्य भी गुरु का नमस्य हो जाता है। किंच मनुष्य में जिस क्षण भी वैराग्य का उदय होता है, वह वैराग्य का प्रतीक बनकर उस समय से नमस्य हो जाता है। आज का अतिथि कल का गृहपति हो सकता है और उस समय यह नमस्य नहीं रहेगा। उसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति के अन्दर अन्य काल में उस वैराग्य का अभाव हो जाता है तो फिर वह नमस्य नहीं रह जाता लेकिन वैराग्य के क्षण में तो नमस्य है ही। आज समाज एक भ्रांत धारणा से आक्रान्त रहता है कि जब तक जीवन के अंतिम क्षण तक और प्रत्येक पदार्थ के प्रति किसी का वैराग्य न हो, तब तक जिन क्षणों में अथवा जिन पदार्थों में वैराग्य नहीं है, उन्हीं को सामने करके उसके वैराग्य वाले क्षणों की हेयता सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय। परन्तु यह वास्तविक दृष्टि नहीं है। यदि किसी व्यक्ति की किसी विषय में वैराग्य की दृष्टि है तो उस दृष्टि से वह नमस्य भी है एवं जिस चीज में उसे राग है, उस दृष्टि से वह नमस्य नहीं भी है। काल में भी इसी प्रकार भेद समझ लेना चाहिये। जब हम वैराग्य को इस प्रकार हमेशा नमस्य मानेंगे तब लोगों के जीवन में वैराग्य की अधिकता आने लगेगी। जिस प्रकार वर्ण व्यवस्था में माना जाता है कि ब्राह्मण बड़ा वह होता है जो ज्ञान में बड़ा हो। क्षत्रिय बल से एवं वैश्य धन से तथा शूद्र उमर से बड़ा बनता है। उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि वेदांत की दृष्टि में जो जितना वैराग्य से बड़ा है, उसे उतना ही बड़ा माना जायेगा। कई बार लोग कहते हैं कि वैराग्यवान को पूज्य दृष्टि से देखने पर समाज में अनेक लोग वैराग्यवान बनने का पाखण्ड रचने लगते हैं, यद्यपि उनके हृदय में वैराग्य नहीं होता। वेदांत का कहना है कि जब धन आदि पदार्थों को हम पूज्य दृष्टि से देखते हैं तो वहाँ भी तो कम धन होने पर भी तो कर्जा लेकर विवाह शादी में खर्च करके अथवा अपने बूते से अधिक के वस्त्र आदि पहनकर पाखण्ड रचा ही जाता है। परन्तु इस प्रकार के राग के पाखण्ड से पाखण्ड करने वाला न केवल अपना बल्कि अपने बाल-बच्चों का भी नुकसान करता रहता है और समाज की भी हानि

करता है। वैराग्य का पाखण्ड करने वाला अपनी आत्मा का जितना भी अकल्याण कर रहा हो, कम से कम अपने घर वालों और समाज के लोगों को तो कोई नुक्सान नहीं पहुंचाता। अतः जब राग को अथवा वैराग्य को पूज्य दृष्टि से देखने में पाखण्ड की सम्भावना एक जैसी है और राग के पाखंड में और भी दूसरे नुकसान हैं, तब कैसे कोई बुद्धिमान वैराग्य की दृष्टि से समाज को हटाने का प्रयास कर सकता है।

यदि यम को गुरु रूप माना जाये तो भी उसका कहना बन ही जाता है कि उपदेश काल में हम दोनों एक दूसरे के प्रति कल्याण दृष्टि से प्रवृत्त हों। गुरु शिष्य को जो आत्मज्ञान का उपदेश देता है, वह एक प्रकार से शिष्य का वरण ही तो है। आत्म ज्ञान का उपदेश गुरु स्वतंत्र होकर के ही देता है और जब देख लेता है कि शिष्य इसी वरदान को चाहता है, तभी देता है। यह आगे की कथा में यम नचिकेता को प्रलोभन देकर भी परीक्षण के द्वारा और भी स्पष्टतः सिद्ध करेंगे। गुरु और शिष्य दोनों साथ ही साथ तो विद्या के लिये वैराग्यवान् बनते हैं। शिष्य का वैराग्य ही गुरु का कल्याण करता है क्योंकि यदि शिष्य में वैराग्य नहीं है तो गुरु की वही गति हो जाती है जो उस सांप की होती है जो विषधर मेंढक को पकड़ लेता है। प्रसिद्धि है कि फणधर सर्प यदि किसी भी मेंढक को पकड़ लेता है तो अपने एक दंश मात्र से उसको मार डालता है। परन्तु अन्य सर्पों का विष इतना तीक्ष्ण नहीं होता। वह जब विष वाले मेंढक को पकड़ता है तो प्रथम दंश में नहीं मार सकने के कारण यदि उसको छोड़ता है तो मेंढक जाते हुए विष की बौछार करता है जो सर्प को अंधा कर देती है, और यदि सर्प उसको निगल लेता है तो स्वयं मर जाता है। इसी प्रकार यदि वैराग्य की कमी वाला शिष्य हुआ तो उसको छोड़ने पर भी वेदांत की बदनामी होती है कि हमने वेदांत का अध्ययन भी किया और फिर भी हमारा दुःख दूर नहीं हुआ, और यदि उस शिष्य को आत्मसात् करने का प्रयत्न करता है तो वैराग्य की कमी के कारण वह जितने भी दोष, पाप आदि करता है, उस सबको गुरु को ही भोगना पड़ता है। अथवा वेदांत शास्त्र की बदनामी होती है कि वेदांत का अनुभव करने वाला भी इस प्रकार की दुःशीलता का परिचय देता है। अतः वैराग्य वाले शिष्य को देखकर यमाचार्य का यह कहना

ठीक ही है कि तुम्हारे जैसे योग्य शिष्य से मेरा भी कल्याण (स्वस्ति) ही होगा।

यम कहता है कि यद्यपि आपके अनुग्रह मात्र से ही मुझे सारे कल्याणों की प्राप्ति हो जायेगी तथापि आप अधिक प्रसन्न हों, इसलिये एक-एक भूखी रात के बदले में एक-एक वर देता हूं जिससे जो भी आपके अभिप्रेत पदार्थ हों, उसको मेरे से ले लेवें। तात्पर्य है कि वैराग्य यद्यपि गुरु अथवा शास्त्र में किसी भी प्रकार का दोष नहीं आने देगा परन्तु यदि वह आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेगा तो अधिक उत्तम दीखेगा एवं शिष्य का भी समग्र अंतःकरण संशयों आदि से दूर होकर अत्यधिक शान्त और प्रसन्न दिखाई देगा। बिना ज्ञान के वैराग्य की पूर्णता नहीं हो सकती, यह तो पहले ही प्रतिपादित कर आये हैं।

: १० :

नचिकेता उत्तर देता है:—

शांतसंकल्पः सुमनाः यथा स्यात् वीतमन्युः* गौतमः मा अभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं मा अभिवदेत प्रतीत्ः एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥

मृत्यो = हे मृत्यु !	त्वत्प्रसृष्टं = आप द्वारा भेजा जाकर
मा = मेरी	मा = मेरे को
अभि = ओर	प्रतीतः = पहचान कर
गौतमः = गौतम	अभिवदेत् = अच्छी तरह से बोले।
यथा = जिस किसी प्रकार से	त्रयाणां = तीनों में से
शांतसंकल्पः = शांत संकल्प,	एतत् = यह
सुमनाः = प्रसन्न मन वाला,	प्रथमं = पहला
वीतमन्युः = रोष रहित	वरं = वर
स्यात् = हो जावे।	वृणे = चुनता हूं।

नचिकेता सर्वप्रथम अपने पिता की शान्ति को मांगता है क्योंकि मानव स्वभाव है कि किये पर पछताता है। यद्यपि वाजश्रवस ने उसको सत्य

---

*'गौतमो ममाभि मृत्यो' इति वा पाठभेदः।

संरक्षण के लिये मृत्यु के मुख में भेज तो दिया परन्तु वह अवश्य अपने हृदय में अशान्ति और शोक का अनुभव कर रहे थे। कुछ रोष का अंश भी बचा होगा कि न नचिकेता इस प्रकार जिद्द करता और न मेरा पुत्र से वियोग होता। इसके द्वारा यह बताया कि जिस किसी को हमारे किसी भी कार्य से, किसी भी प्रकार की अशांति या शोक की प्राप्ति हुई हो, हमारा परम कर्त्तव्य उसके उस शोक को शान्त करना है। जीवन में यह एक बहुत अच्छा नियम होता है कि किसी को यदि हमने कोई भी बात कह दी हो या ऐसा कार्य कर दिया हो जिससे अशान्ति उत्पन्न हुई हो तो उसी दिन या जितना शीघ्र हो सके, उसके पास जाकर हम क्षमा माँग लें अथवा दु:ख प्रकट करें कि हमको ऐसा करने के लिये बाध्य होना पड़ा अथवा कम से कम उसके पास जाकर संवेदन का निवेदन करें। एक बार पं० मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य दल के अध्यक्ष होने के नाते अपने से मिलने आये हुए सेठ गोविन्ददास को बहुत बुरा भला कह दिया क्योंकि वह कांग्रेस के समर्थक थे। यद्यपि वे उमर और स्थिति में मोतीलाल जी से काफी छोटे थे, तथापि कुछ दिन बाद वह उनके घर स्वयं गये और दु:ख प्रकट किया कि मैंने तुम्हें इस प्रकार डांट दिया क्योंकि तुम्हें भी उतना ही विचार स्वातंत्र्य है जितना मुझे। आजकल इस प्रकार की घटना न केवल राजनीति के क्षेत्र में वरन् धर्म, नीति तथा घर में भी असम्भव सी हो गई है। पिता इस बात को समझ भी लेते हैं कि मैंने पुत्र को गलत तरीके से डांटा, तब भी कभी अपने पुत्र के सामने दु:ख प्रकट नहीं करेंगे कि मैंने गलती की। अंग्रेज लोग चाहे जबान से ही सही, कम से कम शोक (Sorry) प्रकट तो करते हैं।

अध्यात्म दृष्टि से एक गूढ़ रहस्य यहां बता रहे हैं। वैराग्य की तीव्रता में जब समाज एवं सभी सम्बन्धों को काट दिया जाता है तो समाज में एक प्रकार का रोष और अशान्ति का वातावरण छूट जाता है। यदि आत्मज्ञान की प्राप्ति करने वाला आत्मज्ञान की प्राप्ति करने पर सर्वप्रथम लोक संग्रह दृष्टि से समाज के कल्याण की तरफ जाता है तब तो यह रोष शान्त बना रहता है परन्तु यदि किसी समाज में इस प्रकार का विकिरण होता रहे और उसके बदले में पुनः समाज को कुछ प्राप्त न हो तो शनैः शनैः समाज का आत्मज्ञान के प्रति रोष इतना ज्यादा बढ़ जाता है कि वैराग्य समाज में हीन दृष्टि से देखा जाने लगता है। आज की वर्तमान स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही है।

मध्यकालीन संत परम्परा वैराग्य के अभावात्मक रूप को तो ले लेती थी लेकिन आत्म ज्ञान या तो वैदिक परम्पराओं से दूर होने के कारण उनको प्राप्त ही नहीं होता था अथवा जहाँ कहीं थोड़ा-बहुत प्राप्त हो जाता था, वह वापिस समाज की सेवा लोक संग्रह दृष्टि से नहीं कर पाता था। अतः समाज में वैराग्य के प्रति एक हीन भावना का संचार हो गया और समग्र वेदांत की दृष्टि के प्रति ही लोगों में छिपा रोष बना रहता है। जो जहां से उठा है, पुनः वहीं की जड़ों को पुष्ट करना उसका एक प्रकार से कर्त्तव्य बन जाता है। जिस मानव समाज से हम उठे, उस मानव समाज की जड़ों को यदि हमारा आत्मज्ञान पुष्ट न कर सके तो वह वैसा ही होगा कि समाज के द्वारा वैराग्य तक पहुंचने के हमने जो लाभ उठाये, उसके प्रति हमारे अन्दर किसी भी प्रकार की कृतज्ञता नहीं रह गई है। कृतघ्नता एक बहुत बड़ा अभिशाप माना गया है। गीता में जिस प्रकार श्री कृष्ण ने लोक संग्रह की बात को बार-बार कहा है, यहां भी इस मंत्र के द्वारा श्रुति उसी लोक संग्रह के भाव को बता रही है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वैराग्य पूर्णता को प्राप्त करके जब वापिस लौटे तो इस प्रकार से लौटे कि जिन सकाम कर्म आदि के द्वारा वैराग्य उत्पन्न हुआ था, उन्हीं कर्मों का पुनः पोषण करे। अद्वैत में परिनिष्ठित होने के बाद भी आचार्य मधुसूदन सरस्वती यदि 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने' कहते हैं तो उसका वस्तुतः यही दृष्टिकोण है कि जिस सगुण भक्ति के द्वारा हमने यह परब्रह्म निष्ठा प्राप्त की है, अब हमारे जीवन से वही सगुण भक्ति पुष्ट होती रहेगी। सभी कर्म और उपासनाओं के विषय में यही बात समझ लेनी चाहिये। अनेक आधुनिक लोग इस मर्यादा को न समझने के कारण अद्वैत निष्ठा की तरफ जाकर जिन कर्म उपासना के पालन से वैराग्य उत्पन्न हुआ था, उनको अद्वैत ज्ञान के द्वारा पुष्ट न करके उनके खण्डन में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह कठोपनिषद् की इस पंक्ति को न समझने का ही फल है। जैसा कि अगले श्लोक में कहेंगे नचिकेता तथा वाजश्रवस को एक बताने के लिये ही यहां गौतम शब्द का प्रयोग है। जैसे यहां नचिकेता अपने पिता को गौतम शब्द से कह रहे हैं, उसी प्रकार दूसरे अध्याय की दूसरे वल्ली के छठे मंत्र में यमराज नचिकेता को 'आत्मा भवति गौतमः' कहकर गौतम शब्द से सम्बोधित करेंगे। इसी आधार पर हम शुरू से ही वाजश्रवस एवं नचिकेता को एक ही आत्मा के दो सोपान मानकर स्पष्टीकरण करते आये हैं। फरक केवल इतना ही है कि

वह सकाम कर्मों के द्वारा वैराग्य तक पहुंचने वाली इन्द्रियों की (गौ) श्रेष्ठ अवस्था (तम) है, जबकि नचिकेता ज्ञान (गौ) की वृत्ति दृष्टि से श्रेष्ठता (तम) वाली अवस्था है। अत: इस दृष्टि से तात्पर्य यह है कि जब आत्मज्ञान की पूर्णता होकर पुन: व्यवहार काल में इस कार्य करण संघात में प्रविष्ट हो गया तो यह कार्य करण संघात मेरे अनुकूल चलें एवं लोक संग्रह में प्रवृत्त हुए मेरे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि शांत भाव से कार्य करें। मेरा प्रारब्ध मुझे ऐसे दु:ख की अवस्थाओं को प्राप्त न कराये कि मैं लोकसंग्रह करने में असमर्थ रहूं। यद्यपि ज्ञान के अभ्यास काल में कार्य करण संघात का बाध करना पड़ता है एवं उसके प्रति बहुत कुछ उपेक्षा दृष्टि बनानी पड़ती है परन्तु पुन: ज्ञानोत्तर काल में इसी कार्य करण संघात से व्यवहार भी करना पड़ता है। अत: यह उसके लायक रहे और मेरे ऊपर विश्वास करे अर्थात् मेरा इसके ऊपर अधिकार पूर्ण रहे, यह प्रथम वर का गुह्य रहस्य है। ज्ञान के अभ्यास काल में भी इसीलिये **'वाक् प्राण: चक्षु: श्रोत्रं मन: बलं इन्द्रियाणि च सर्वाणि'** आदि से प्रार्थना करते हैं कि हमारे ये सभी अंग-प्रत्यंग ज्ञानोत्तर काल में लोकसंग्रह कार्य के लिये स्वस्थ एवं सबल बने रहें।

यमाचार्य के यहां नचिकेता का वास्तविक गमन मानने पर भी नचिकेता का यह कहना ठीक ही है कि अत्यंत बचपने के काल में मैं आपके पास आ गया हूं। अत: वह निश्चित हो जायें कि मेरा पुत्र ठीक जगह पर पहुंच गया है और जब मैं वापिस जाऊं तो यह न समझें कि यह कुछ दूसरा बनकर आ गया है। अथवा मेरा व्यवहार श्वेतकेतु की तरह घमण्ड वाला न बन जाये। जैसा मैं पहले उनके प्रति विनय वाला था, वैसा ही बना रहूं। नचिकेता की वास्तविक मृत्यु के द्वारा लोकान्तर गमन के मानने पर तो जैसा कहा है वैसा कहना बिल्कुल संगत ही लगता है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि लोकान्तर गमन की कुछ भी ध्वनि श्रुति ने नहीं दी है। न नचिकेता की मृत देह के विषय में ही कोई संकेत दिया है और जिस ढंग से यहां नचिकेता कह रहा है कि मेरे वापिस जाने पर वह मेरे से प्रेम से बोलें, वह कहना संगत नहीं है क्योंकि मरकर लौटना एक बड़ा भारी आश्चर्य होता है और उस हालत में पहला वरदान तो यही मांगा जाता कि मैं वापिस मनुष्य लोक को जा सकूं। पुराणों ने जो इसका यथाश्रुत अर्थ करके विस्तार किया है वह तो सामान्य लोगों में जो एक प्रकार की चामत्कारिक घटनाओं के प्रति आकर्षण की दृष्टि

है, उसको पुष्ट करने के लिये है। यह मानना कि प्रथम वर से उसने अपने मनुष्य लोक को जाना, पुनः उसी तरह के शरीर की प्राप्ति का होना जिससे पिता पहचान लें अथवा इतने दिनों तक उस मृत देह का न सड़ना एवं पिता की शान्ति, ये सभी वरदान एक के अंतर्गत ही मांग लिये, नचिकेता को अत्यंत रागी सिद्ध कर देगा और यहां नचिकेता उदात्त नायक बताया गया है। अतः यह सब असंगत सा लगेगा। कुछ अन्य विचारकों ने वाजश्रवस ने अपने तपोवल से नचिकेता को सशरीर यम लोक भेजा था, ऐसी कल्पना भी की है। परन्तु यदि ऐसा होता तो नचिकेता का यह कहना कि वह निश्चित हो जायें, व्यर्थ होगा क्योंकि जब तपोवल से भेजा गया है तो फिर चिंता का कोई कारण ही नहीं है। सशरीर स्वर्ग गमन तो वैसे भी अतिशयोक्ति ही माननी पड़ती है। यह निश्चित है कि श्रुति यहां कवि भाषा का प्रयोग कर रही है, परंतु वास्तविकता स्पष्ट है।

यम के पास जाकर मेरा पुत्र कैसा होगा ? इस प्रकार का जो पिता के मन में चिंता रूपी संकल्प है, वह उपशांत हो जाये, यह शांत संकल्प का भाव है। अध्यात्म दृष्टि से जब वापिस कार्यकरण संघात में लौटा जाये तो फिर अपना संकल्प ऐसा शांत रहे कि ईश्वर से अतिरिक्त और कोई संकल्प उसमें प्रविष्ट ही न हो पाये। तात्पर्य है कि सकाम कर्म रूप वाजश्रवस के अन्दर पुनः वासना वेग से सकाम संकल्प अंतःकरण में उत्पन्न होने की सम्भावना तो रहती ही है। परन्तु ऐसा न होकर केवल ईश्वर संकल्प ही बना रहे। गुरु के घर जाकर वापिस जाने पर मनुष्य के मन में एक संघर्ष आ सकता है क्योंकि एक तरफ पिता यह चाहता है कि पुत्र मेरे अनुरूप बने और दूसरी तरफ शिष्य का सर्वस्व दान गुरु के प्रति हो चुका होता है। शिष्य बनाते समय गुरु कहता ही यह है कि मेरा व्रत तेरे में प्रविष्ट हो जाये और तेरा चित्त हमेशा मेरा अनुगामी बना रहे। अतः शिष्य रूपी नचिकेता को स्वीकार करने पर शांत संकल्प का अर्थ है कि मुझे इस प्रकार का संघर्ष न करना पड़े। पिता के हृदय में अब मेरे विषय में कोई भी भविष्य रूप रेखा न रहे। मैं आपके संकल्प के अनुसार ही अपने जीवन को बिता सकूं।

सुमनाः का अर्थ प्रसन्न मन वाला है। चिंता शांत होकर पिता के हृदय में प्रसन्नता भी रहे, यह भाव है। दूसरी तरफ केवल मेरा संकल्प ही शांत न रहे वरन् जब मैं ज्ञान के बाद पुनः लोक संग्रह में प्रवृत्त होऊं तब लोक संग्रह की प्रवृत्ति करने पर मेरे सामने जो बड़े से बड़े कष्ट या दुःख की घटनायें

आयें उन सबमें मेरा मन प्रसन्न बना रहे। यम को आचार्य स्वीकार करने पर मैं आपकी आज्ञा के अनुसार जीवन का जो भी रूप बनाऊँ उनमें पिता को प्रसन्नता का बोध हो। ऐसी प्रतीति न हो कि लड़का हाथ से निकल गया। वीतमन्युः अर्थात् रोष रहित का भी इसी प्रकार सभी विकल्पों में तात्पर्य समझना चाहिये।

यद्यपि प्रसृष्टं का अर्थ छूटना किया है परन्तु यह तो निश्चित ही है कि प्र पूर्वक सृष्ट होने से इसका आंतरिक भाव पुनर्निर्माण ही है। कहा भी है कि पिता मरणधर्मा शरीर को उत्पन्न करता है एवं गुरु अमरणधर्मा शरीर को। अतः सारा ही जीवन ज्ञान के बाद एक तरह से नित्य ही सृष्ट अर्थात् निर्मित हो जाता है, और चूंकि यह पूर्णता की तरफ ले जाने वाला होता है अतः पूर्णता के कार्यों को करने वाला ही कार्यकरण संघात हो जाता है। अतः इसे प्र अर्थात् प्रकर्ष रूप से सृष्ट अर्थात् निर्मित मानना ही पड़ेगा। वस्तुतस्तु आगे योगाभ्यास का वर्णन भी यम नचिकेता को करेंगे और योग के द्वारा सारा ही कार्य करण संघात नवीन बन जाता है। शरीर के रंग तक पर इसका असर आ जाता है। अतः ऐसा व्यक्ति बाद में पहचानने में भी लोगों को न आये, यह स्वाभाविक है। रामकृष्ण परमहंस पहले सांवले थे पर योगाभ्यास करने पर वह कहा करते थे कि मेरा रंग सोने की तरह दमकने वाला हो गया था। परन्तु उससे सामान्य लोगों को उनकी तरफ भौतिक आकर्षण होने लगा, यह देखकर उन्होंने पुनः प्रार्थना की कि मेरा यह हैम रंग बदल जाये। इस प्रकार शरीर के एवं मन के सभी अंगप्रत्यंग प्रसृष्ट हो जाते हैं। यह सभी अभ्यासियों का अनुभव है। अतः त्वत्प्रसृष्टं के द्वारा नचिकेता यही कहना चाहता है कि अब मेरा नया निर्माण हो जायेगा। पुराना जो कुछ है वह सब समाप्त हो जायेगा। यमाचार्य की दृष्टि से तो इसका अर्थ इतना ही होगा कि इतने वर्षों तक आपके पास रहकर मैं बाहर से ही नहीं बल्कि अपने शील से भी बदल जाऊंगा। अतः पिता को यह न लगे कि यह कौन सा बच्चा आ गया। वैराग्य की दृष्टि से विचार करने पर गुरु के द्वारा श्रवण, मनन प्राप्त करके वैराग्य वीतराग का रूप धारण कर लेता है जिसमें राग और वैराग्य दोनों में मनुष्य का आग्रह नहीं रह जाता। अनेक बार ऐसी अवस्था को देखकर जिन्होंने उसे वैराग्य की तीव्र अवस्था में देखा है, वे सोचते हैं कि यह मनुष्य मानो पुनः राग की तरफ चला गया है। लेकिन विवेकी जानता है कि ऐसा नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर तो जो जीव अंतःकरण

की अहंकारात्मिका वृत्ति में अपने को अभिन्न मानता था, वह धारणा, ध्यान, समाधि रूपी यम के द्वारा वेदांत वाक्यों का श्रवण करके उस अहं के साक्षी में स्थिर हो जाता है और पुनः उस अहं के साथ कभी भी एकता को अनुभव नहीं करता। यही उसका प्रकर्षेण सृष्टत्व अर्थात् नव निर्माण है। भगवान गौड-पादाचार्य कहते हैं 'चलाचलनिकेतश्च यतिः' अर्थात् कार्य करण संघात में एवं अधिष्ठित ब्रह्म में उसका एक समान घर रहता है। प्रतीतः के द्वारा यह बताया जा रहा है कि ऐसा प्रसृष्ट हो जाने पर भी पुनः लब्धस्मृति हो, अर्थात् कार्य करण संघात इस साक्षी को अपने पूर्व स्वरूप में अहं से जो एकता का अनुभव करता था, उसी रूप से जाने। बहुत से लोग समझते हैं कि आत्मज्ञान होने पर मानो शरीर में भूत की तरह रहता होगा लेकिन ऐसी कोई बात नहीं है। प्रतिबिम्ब को देखने मात्र से बिम्ब को अवश्य ही प्रतिबिम्ब में आत्मत्व का भ्रम हो, यह कहीं देखा नहीं गया है। अतः प्रतीति मात्र रहेगी, अध्यास नहीं। इसे बताने के लिये प्रतीत शब्द का प्रयोग किया। भगवान भाष्यकार तो प्रत्यभिज्ञा करे 'प्रत्यभिजानन्' कहकर इसको अत्यंत स्फुट करते हैं कि जो मैं जीव था, जो मैं शुद्ध था, वही मैं उन दोनों भावों में था, हूं और रहूंगा। इस प्रकार की प्रतीति ही वास्तविक तात्पर्य है। इस प्रकार सकाम कर्म एवं उपासना भी आत्मज्ञानी को अपने ही ढंग से अपना ही पोषक समझे, यह भी तात्पर्य है। यद्यपि ज्ञानी स्वभाव से वेदों के सभी मंत्रों को ज्ञानपरक दृष्टि से देखता रहता है परन्तु फिर भी समयानुसार एवं अधिकारी के अनुरूप उनका कर्म और उपासना में विनियोग भी बताता रहता है और यथायथ विकल्प भी बताता रहता है। यही वेद के द्वारा ज्ञान का प्रतीत होना है। इस प्रकार पिता के परितोषण रूपी प्रथम वरदान को नचिकेता ने मांगा।

: ११ :

नचिकेता को यह वरदान देते हुए मृत्यु ने कहा :—

यथा पुरस्तात् भविता प्रतीतः
औद्दालकिः आरुणिः *मत्प्रसृष्टः।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युः
त्वां† दर्शिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तं।

---

*मत्प्रसृष्टं, मत्प्रसृष्टे।

†त्वां ददृशिवान्।

पुरस्तात् = पहले
यथा = की तरह
मत्प्रसृष्टः = मेरे द्वारा छोड़ा गया
औद्दालकिः = औद्दालकि
आरुणिः = आरुणि
प्रतीतः = प्रतीत
भविता = होगा ।
वीतमन्युः = रोषरहित
रात्रीः = रातें
सुखं = सुखपूर्वक
शयिता = सोयेगा ।
मृत्युमुखात् = मृत्यु के मुख से
प्रमुक्तं = छूटे हुए
त्वां = तेरे को
दर्शिवान् = देखने वाला है ।

नचिकेता के वरदान को 'तथास्तु' करते हुए वैवस्वत कहते हैं कि जैसे तुम्हारा पिता तुम्हें पहले स्नेह से युक्त होकर देखता था, वैसे ही स्नेह से अब भी तुम्हारी तरफ उसकी दृष्टि होगी, यद्यपि तुम मेरे पास आकर के वहां जाओगे । भाव यह है कि यमराज के पास जाकर के आया हुआ है, अतः भूत प्रेत आदि न बन गया हो, इस भय से तुम्हारी उपेक्षा नहीं करेगा । लोक में प्रसिद्ध है कि मरा हुआ प्रेत वापिस आने पर अपना प्रियतम हो तो भी लोग उससे बचने का प्रयत्न करते हैं । जब स्नेहपूर्वक देखेगा तो पहचानेगा, इसमें तो कहना ही क्या है । किंच, उसके मन की समग्र रोष की भावनायें भी हट जायेंगी, तथा प्रसन्न मन हुआ हुआ रहेगा । जब तक तू नहीं रहेगा, तब तक रात्रियों में सुख से सोयेगा । जब तू लौटकर जायेगा तब तेरे को मृत्यु के मुख से छूटा हुआ देखकर अत्यंत सुखी होगा । पिता को सौमनस्य प्राप्ति का वर मिल गया । वीतमन्यु का तात्पर्य यहां यह भी हो सकता है कि मेरे द्वारा यम के पास भेजा गया कहीं मेरे वचन का उल्लंघन करके बीच से ही तो नहीं लौट आया है, इस भाव से उसमें क्रोध की सम्भावना हो सकती है, वह नहीं होगी ।

उशन् वाजश्रवस को यहां औद्दालकि आरुणि कहा है । उद्दालक ही औद्दालकि है, ऐसा सर्वज्ञ शंकर का कथन है । अरुण का पुत्र होने से आरुणि है । यदि उद्दालक एवं औद्दालकिः इस प्रकार स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय न स्वीकारा जाये तो आचार्यपादों ने विकल्प में उसे द्व्यामुष्यायण अर्थात् दो गोत्र वाला माना है । तात्पर्य है कि उद्दालक और अरुण दोनों ने उसे अपना गोत्र प्रदान किया था । वेद में अनेक ऋषि इस प्रकार दो गोत्र वाले हैं क्योंकि गुरु और पिता दोनों के गोत्र स्वीकार किये गये हैं । आज

भी संन्यासी गुरु के गोत्र वाला बन जाता है। देह दृष्ट्या पिता का गोत्र तो बना ही रहेगा। इसी प्रकार दो परम्पराओं को प्राप्त करने पर भी द्व्यामुष्यायण बन सकता है। किसी किसी आचार्य के मत में तो दत्तक पुत्र होने पर एक पिता का गोत्र और एक दत्तक लेने वाले का गोत्र इस प्रकार भी दो गोत्र बन सकते हैं। परन्तु मुख्य दृष्टि से तो उद्दालक उसका नाम और अरुण उसके पिता का नाम, यही अधिक रुचिकर लगता है। उद्दालक श्वेतकेतु के पिता का भी नाम है यह पहले कह ही आये हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट ही 'याज्ञवल्क्य उद्दालकात् उद्दालकोऽरुणात्' कहकर अरुण का शिष्य उद्दालक को बताया गया है। इसीलिये यह अर्थ अधिक संगत लगता है। उधर छांदोग्य में श्वेतकेतु को आरुणेय अर्थात् अरुण का पुत्र बताया गया है। अतः उसके पिता भी आरुणि ही हुए। आगे चलकर छांदोग्य में 'उद्दालको आरुणिः श्वतेकेतुं पुत्रं' स्पष्ट ही कहा है। अतः यहां पर भी उद्दालक नाम और अरुण का पुत्र आरुणि संगततर है। वस्तुतस्तु वेदों में आख्यायिका प्ररोचनार्थं या स्तुत्यर्थं होती है। उत् ब्रह्म का नाम है। 'तस्य उत् इति नाम'। दल् धातु से दालक शब्द बनेगा, जैसे चल से चालक बनता है। दल् धातु का अर्थ विशरण होता है अर्थात् ढीला पड़ना, फटना या फैलना। षद्लृ धातु का अर्थ भी विशरण होता है। अतः उपनिषद् और दालक प्रायः एकार्थक हो जाते हैं। ब्रह्मविद्या की तरफ जाने से संसार बंधन शिथिल हो जाता है, इसलिये उसे उपनिषद् कहा गया। इसी प्रकार उत् ब्रह्म की तरफ जाने वाले को जो संसार बंधन शिथिल करने की सामर्थ्य वाला है, उस स्थिति को उद्दालक कहते हैं। तात्पर्य है कि उद्दालक सकाम कर्म व उपासना के फलस्वरूप वह विवेक है जो संसार बंधन को शिथिल कर देता है, एवं यही ब्रह्म रूपी सविता के उदय होने के पूर्व का अरुण काल है। अरुण से जो प्रकाश उत्पन्न हुआ वह आरुणि है। अरुणोदय वेला में न तो अंधकार पूरा नष्ट हुआ होता है एवं न पूर्ण रूप से अंधकार की उपस्थिति ही होती है। इसी प्रकार सत्य असत्य, नित्य अनित्य, जीव ईश्वर आदि का विवेक कर लेने के बाद जो एक तरह का परोक्षज्ञान होता है उसको न अज्ञानांधकार की स्थिति कहा जा सकता है और न वह ब्रह्म ज्ञान ही है। अतः यहां अरुण वेला में उत्पन्न ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान अर्थात् सगुण ब्रह्म का ज्ञान है। यहां श्रुति ने उद्दालक न कहकर जो औद्दालकि शब्द का प्रयोग किया, वह भी इसी दृष्टि से कि विवेकजन्य

जो ज्ञान है, वह वस्तुतः विवेक का पुत्र ही है । अतः द्व्यामुष्यायण के द्वारा भी यही बताया जा सकेगा कि जो ज्ञान युक्ति आदि के आधार पर नित्य अनित्य, सत्य असत्य, जीव ईश्वर आदि स्वरूपों का विवेचन करके उत्पन्न होता है, वही शास्त्र के वाक्यों के द्वारा भी उत्पन्न होता है। जैसा कि भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि धर्म की तरह ब्रह्म के विषय में केवल श्रुति ही प्रमाण नहीं है वरन् युक्ति, अनुभव, तर्क आदि प्रमाण भी इसमें लगते ही हैं। अतः यह अरुणोदय ज्ञान मानो दो तरह से उत्पन्न होने वाला हो करके द्व्यामुष्यायण है । अपरोक्ष ज्ञान तो एकमात्र वेदांत श्रवण से ही उत्पन्न होता है, यह निर्विवाद है ।

यह श्लोक व्याकरण की दृष्टि से एक कठिनाई को उत्पन्न करता है । पूर्व श्लोक में त्वत्प्रसृष्टं कहकर नचिकेता ने कहा है कि आपके द्वारा छोड़ा गया मैं एवं यहां वैवस्वत कहते हैं "मत्प्रसृष्टः औद्दालकिः आरुणिः" अर्थात् मेरे द्वारा छोड़ा हुआ औद्दालकि आरुणि । यथाश्रुत अर्थ लेने से औद्दालकि आरुणि का अर्थ नचिकेता लेना पड़ेगा। कारपेण्टर (Charpentur) ने तो यही अर्थ स्वीकार किया है। उसके अनुसार श्लोकार्थ' जैसा पहले, वैसा ही अब वह प्रसन्न होगा क्योंकि औद्दालकि आरुणि मेरे द्वारा छोड़ा गया है।' हिल ब्रांट (Hille Brandt) ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। (Indian antiquary 1878) उनकी दृष्टि में कुछ भेद है तो यही कि कारपेण्टर यह मानता है कि आरुणि उद्दालक का पुत्र आरुणि औद्दालकि एवं हिलब्रांट यह मानता है कि उद्दालक का पुत्र आरुणि। परन्तु दोनों हालत में यह नचिकेता का ही विशेषण है । डायसन (Deussen) तो यह मानता है कि औद्दालकि आरुणि पहले की तरह ही होगा । मेरे द्वारा वह अपने शब्दों से छूटा हुआ होकर प्रसन्न होगा। तात्पर्य होता है कि पुत्र को मृत्यु को देकर वह मानो अपने ही शब्दों में बंध गया है और जब मैं स्वयं ही उसके पुत्र को वापिस भेज दूंगा तो वह मानो अपने सत्य बंधन से छूट जायेगा । अतः मत्प्रसृष्टः का अर्थ मेरे द्वारा वचनबद्धता से छूट जायेगा। कहीं कहीं पाठांतर में तो मत्प्रसृष्टे अथवा मत्प्रसृष्टं भी मिलता है। तब तो तात्पर्य सीधा ही नचिकेता में चला जायेगा, एवं कोई कठिनाई नहीं रहेगी। परन्तु यह पाठ आचार्यपाद द्वारा स्वीकृत नहीं है।

अथवा मत्प्रसृष्टः का अर्थ मेरे अनुग्रह से सम्पन्न या मेरे द्वारा स्वीकृति पाकर भी किया जा सकता है। फिर इसका अन्वय दोनों तरफ हो सकता

हैं कि मेरे द्वारा स्वीकृति पाकर तुम्हें पहचान लेगा, अथवा मेरे द्वारा स्वीकृति पाकर वह सुख से सोयेगा। इस दृष्टि से यह तात्पर्य हो सकता है कि यमाचार्य के पास पिता ने भेज तो दिया लेकिन उनकी स्वीकृति नहीं ली गई थी। अब जब वह जान जायेगा कि मैंने तुम्हें शिष्य रूप से स्वीकार कर लिया तो चिंता निर्मुक्त होकर सोयेगा। तीन रात्रि तक तो मैं तुम्हें स्वीकार नहीं कर सका था। अतः उसकी चिंता स्वाभाविक ही थी।

अध्यात्म दृष्टि से औद्दालकि आरुणि कर्म और उपासना का अंतिम सोपान है और नचिकेता उसके आगे का। मोक्ष दृष्टि से औद्दालकि आरुणि प्रवृत्ति मार्ग से विविदिषा तक पहुंचा हुआ है, और विविदिषा से विद्वत् अवस्था तक का प्रतीक है। विविदिषा पर्यन्त कार्य करण संघात में जो संस्कार पड़ जाता है, वह तब तक सुखपूर्वक सोता रहता है, जब तक विविदिषा अवस्था वाला ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेता है। यही 'सुखं शयीत' का तात्पर्य है। चाहे मनुष्य संस्कृत का विद्वान् हो, न्यायशास्त्र का विद्वान् हो अथवा इंजिनियर या डाक्टर, विविदिषु काल में ये सब उसके लिये व्यर्थ है। वरन् यदि इनकी स्मृति जग जाती है तो वेदांत चिंतन में बाधक हो जाती हैं। विविदिषु काल में किसी भी प्रकार की लोक प्रवृत्ति मनुष्य को हानि ही पहुंचायेगी चाहे वह लोक कल्याण के लिये ही क्यों न हो। कहा भी है **'निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरपि विस्मृतेः। क्वचिन्नावसरं दत्वा कामादीनां मनागपि।'** भगवती श्रुति भी कहती है **'नानुध्यायेत् बहूनच्छब्दान्'** इत्यादि। अतः विविदिषा काल में जो कुछ भी उसके पूर्व प्राप्त किया है, वह सब जितना ही सुप्त हो जायेगा, उतना ही आत्मचिंतन के लिये लाभकारी है। ज्ञान के बाद वे सब चीजें लोक संग्रह के लिये लाभप्रद हो सकती हैं एवं उनके द्वारा आत्मज्ञान की सांसारिक दृष्टि से मर्यादा और शोभा भी बढ़ती ही है, क्योंकि जो संसार के सत्यत्व भ्रान्ति में फंसे हुए लोग हैं, वे आत्मज्ञानी में इन शक्तियों को देखकर आकृष्ट होते हैं। यह तो स्वाभाविक ही है कि आत्मज्ञानी जिस स्वार्थहीन दृष्टि से इन कार्यों में प्रवृत्त होगा, उसमें उसकी चित्त एकाग्रता एवं निर्मलता के कारण नव-नव ज्ञान का प्रादुर्भाव होता चला जायेगा। अतः इसके द्वारा ही सामान्य लोकों का आत्मज्ञान के प्रति भी आकर्षण हो जाता है। नचिकेता प्रारंभ से ही वापिस लौटने की दृष्टि को सामने रख रहा है, क्योंकि अनेक साधक सर्वथा अपनी

मुक्ति का विचार करते हुए लोक संग्रह की दृष्टि को छोड़ देते हैं। **'प्रायेण देवमुनयः सविमुक्तिकामाः मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः'**। प्रायः करके परमात्म मार्ग के साधक अपने मोक्ष की दृष्टि को सामने रखते हुए परार्थ कामना से शून्य हो जाते हैं। यह जैसे गीताकार को इष्ट नहीं, वैसे ही कठ ऋषि तथा नचिकेता को भी इष्ट नहीं है। अतः आत्मज्ञान की प्राप्ति के अनंतर उसने यही मांगा था और यम यही दे रहा है। या औद्दालकि आरुणि की अवस्था वैसी ही सुरक्षित रहेगी। यह नहीं कि तुम्हारे अंतःकरण में से वे संस्कार पुराने होकर सर्वथा नष्ट हो जायें जो तुम्हारे लोक संग्रह कार्य में किसी प्रकार की सहायता न कर सकें। पहले की तरह ही सभी कर्म और उपासना तथा प्रज्ञायें तुम्हें प्रतीत हो जायेंगी। यह स्वाभाविक है कि लोक संग्रह काल में भी विद्वान् विविदिषु की तरह ही आचरण करेगा। अतः औद्दालकि आरुणि रूप में हे नचिकेता! जैसे सब बातें तुम्हें पहले प्रतीत होती थीं, वैसे ही तुम्हें आगे भी होंगी। यही वरदान का भाव है क्योंकि दीर्घ काल तक किसी भी शक्ति का प्रयोग न करने पर विस्मृति स्वाभाविक है। वैवस्वत यह वर दे रहे हैं कि यह विस्मृति तुम्हें ग्रस्त नहीं करेगी। मत्प्रसृष्टः का मद् अनुज्ञातः अर्थ करके सर्वज्ञ शंकर यही ध्वनित कर रहे हैं। अथवा धारणा, ध्यान, समाधि रूपी यम में सभी पूर्व अनुभव समाप्त हो जाते हैं। परन्तु धारणा, ध्यान, समाधि के द्वारा प्रसृष्ट, अर्थात् छूटने पर, अर्थात् व्युत्थान काल में तुम्हारे पूर्व सभी ज्ञान एवं क्रियायें तुम्हें वैसी ही प्रतीत होंगी जैसी पहले होती थीं। ये सब मानो सुख से सोई हुई होंगी। एवं जिस प्रकार सो करके उठने पर अपनी पूर्व ज्ञान तथा क्रियायें लुप्त नहीं हो जातीं, विस्मृत नहीं हो जातीं, वरन् पहले से भी अधिक स्पष्ट रूप से उनका प्रयोग किया जा सकता है वैसा ही यहां भी होगा। थकावट के कारण मनुष्य जिन चीजों को जानता है उन्हें भी भूलने लगता है एवं जिन क्रियाओं को अच्छी प्रकार से कर सकता है, उन्हें भी गलत ढंग से करने लगता है। परन्तु सोकर उठने पर पुनः ताजा होकर पहले से भी अच्छी तरह से करता है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिये।

मन्यु शब्द परमात्मा के अविद्या उपाधि से दृष्ट जगत रूप को ही कहते हैं। इसीलिये वेदों में **'रुद्र ते मन्यवे नमः'** इत्यादि कहा गया है। इस अविद्या द्वारा दृष्ट जगत रूप में मानो परमात्मा का रोष प्रकट होता है एवं इसीलिए

वैराग्य काल में साधक भी इसके प्रति मन्यु या रोष भाव वाला हो जाता है। यही संसार में दोष दर्शन है। परन्तु अविद्या के नाश होने पर जिसको अब तक जगत समझा था, वह साक्षात् सच्चिदानंद शिव रूप प्रतीत होने लगता है और तब मन्यु का कोई स्थान नहीं रहता। अतः वीतमन्यु का तात्पर्य वह वीतरागावस्था है जहां राग और वैराग्य दोनों ही विस्मृति के गर्भ में जा चुके हैं एवं सर्वत्र एक रस, सम रस, शांत शिव सच्चिदानंद की ही प्रतीति है। वाजश्रवस की अवस्था में जो मन्यु उत्पन्न हुआ था, क्योंकि संसार का आकर्षण एक तरफ लें जा रहा था और पुत्र रूपी वैराग्य दूसरी तरफ, वह अब नष्ट हो जायेगा और लोक संग्रह काल में किसी प्रकार का बाधक नहीं रह जायेगा।

यद्यपि दर्शिवान् शब्द का प्रयोग प्रायः करके समास के अंत में ही आता है परन्तु यहां इसे आर्ष समझना चाहिये। वैसे तो विद्वस् शब्द का प्रयोग भी दर्शिवस् की तरह कहीं-कहीं पाया ही जाता है। छंद की दृष्टि से भी दर्शिवान् पाठ ही समीचीनतर लगता है। अर्थ तो ददृशिवान् और दर्दशिवान् का एक ही है। मृत्युमुखात्प्रमुक्तः कहकर एक तो मत्प्रसृष्टः का अर्थ केवल मृत्यु मुख से छूटना न किया जाये, इस दृष्टि से है और दूसरा ज्ञान का फल बताने की दृष्टि से है। बार बार जन्मना और मरना यही मृत्युमुख में प्रवेश है। यमराज कहते हैं कि अब तू मृत्यु के मुख से छूट जायेगा अर्थात् जन्म-मरण के बंधन से छूट जायेगा। अतः इस शुद्ध अवस्था को देखकर वाजश्रवस् प्रसन्न हो जायेगा। स्वयं अपना कार्यकरण संघात भी जब आत्मा को मुक्तावस्था में देखता है तो प्रसन्न हो जाता है क्योंकि वह कार्य करण संघात धन्य हो गया जिसने कृतकृत्यता प्राप्त कर ली। जीव का मानव देह में आने का एकमात्र उद्देश्य मृत्यु के मुख से छूटना ही है। अतः शरीर, इन्द्रिय आदि भी धन्य हो जाते हैं। सामान्य दृष्टि से भी देखा जाये तो आत्मज्ञानी समग्र संसार का पूज्य हो जाता है और वह पूजा तो उसके कार्य करण संघात को ही मिलती है तो क्यों न वह अपने आपको कृतार्थ अनुभव करे। यद्यपि यह कुछ अटपटा सा लगता है कि कार्य करण संघात आत्मा को देख ले, यह प्रयोग वैसा ही समझना चाहिये कि जैसे आइने में मुख देखने पर लगता है मानो आइना हमको देख रहा है। अथवा सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार सूर्य को प्रकाशित करता है अर्थात् सूर्य को दिखाता है, ऐसा कहा जाता है। यद्यपि

वस्तु स्थिति तो यही है कि कांच को सूर्य दिखा रहा है। बहुत कुछ इसी प्रकार का यहां प्रयोग समझना चाहिये। अंतःकरण में अविद्या का ग्रास समाप्त होने पर भी आत्मा का प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही है। अतः लगता है मानो अंतःकरण उसका प्रकाश कर रहा है। लोक दृष्टि से तो शरीर, इन्द्रिय और मन के द्वारा ही आत्मज्ञानी भी प्रकाशित होता है क्योंकि उसके आचरण को देखकर ही लोग आत्मज्ञान के विषय में कोई विचारधारा बनाते हैं, चाहे वह कितना ही भ्रान्त हो। अतः व्यवहार के द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश होता है। यह निस्संदिग्ध है। इसी को यहां श्रुति बता रही है। जैसा भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यदि यथेच्छ आचरण ही ज्ञान का फल माना जाता तब तो मानो ज्ञान एक प्रकार की सुअर की अवस्था की प्राप्ति हो जायेगी। **'को भेदोऽशुचिभक्षणे'** अशुद्ध चीज तो जैसे सुअर खाता है ऐसे ही ज्ञानी खाने लग जायेगा। इदानीं काल के अनेक भ्रान्त ज्ञानियों का यह कथन कि व्यवहार का ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है, उपहासास्पद है। श्रुति विरुद्ध एवं अमर्यादित, विश्रृंखलित, मानस रोगों का भण्डार बनना तो ज्ञान की आड़ में स्वयं भ्रान्त होकर अन्यों को भ्रान्त करने का ही प्रयत्न है। अतः यहां श्रुति तो स्पष्ट ही कहती है कि कार्य करण संघात के द्वारा ही आत्मज्ञान भी देखा जाता है।

: १२ :

अब नचिकेता दूसरा वर मांगता है :—

स्वर्गे लोके न भयं किंचन अस्ति न तत्र त्वं*† न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वा अशनाया-पिपासे शोकातिगः मोदते स्वर्गलोके ।।

स्वर्गे = स्वर्ग	अस्ति = है।
लोके = लोक में	तत्र = वहां
किंच्न = कोई भी	त्वं = तुम
भयं = डर	न = नहीं हो।
न = नहीं	जरया = बुढ़ापा

* न जरसः बिभेति (Limaye)
† न जरायाः बिभेति (Alsdorf)

न = नहीं
विभेति = डराता है।
अशनाया }
पिपासे } = भूख प्यास
उभे = दोनों से
तीर्त्वा = अतिक्रांत होकर
स्वर्गलोके = स्वर्ग लोक में
शोकातिगः = मानस दुःखों से अतीत होकर
मोदते = मुदित होता है।

पिता की शांति के बाद अब सगुण अथवा अपर ब्रह्म के ज्ञान की अथवा उपासना की प्रवृत्ति करके नचिकेता यह बताता है कि जब हमारे सन्निकट के वातावरण में शान्ति होती है तभी उपासना सम्भव होती है। वैसे विविदिषा की दृष्टि से तो जब कार्य करण संघात ऐसे अनुकूल वातावरण में रहे जहां भिक्षाटन आदि में कोई क्लेश न हो, अथवा रोग आदि की पीड़ा न हो, धातु वैषम्य न हो, राग द्वेष का वातावरण न हो, तभी परमेश्वर उपासना सम्भव है। योग शास्त्रों में भी इसीलिये जिस देश में दुर्भिक्ष पड़ रहा हो, जहां राज्य व्यवस्था गड़बड़ा रही हो, ऐसे स्थलों को छोड़कर **'सुभिक्षे धार्मिके देशे मठं कृत्वा'**, धन धान्य से पूर्ण धार्मिक राजा के देश में वास करे, इत्यादि कहा गया है। ज्ञानी के लिये तो यह और भी आवश्यक है। इदानीं काल में यह जो एक प्रवृत्ति होती है कि समाज कैसा भी रहे, व्यक्ति परमात्म-निष्ठा को प्राप्त कर ले, यह अव्यावहारिक ही नहीं, अशास्त्रीय भी है। ज्ञान की उत्तर भूमियों में यद्यपि मनुष्य बाह्य वातावरण से अप्रभावित रह सकता है, किन्तु ज्ञान के साधक से यह आशा करना दुराशा मात्र है। जब तक समाज ज्ञान के अनुकूल वातावरण वाला नहीं बन जाता, जिस समाज में स्थैर्य, शान्ति, संघर्ष की कमी नहीं हो, तथा नैतिक जीवन के पालन करने मात्र से अधिक से अधिक नुकसान होने की सम्भावना आदि दूर नहीं हो गये हैं वहां ज्ञान प्राप्ति असम्भव सी है। यदि अपवाद रूप से दो चार लोग अनेक जन्मों के पुण्यपुञ्ज के परिपाक से इसे प्राप्त भी कर लेते हैं तो उसे नियम नहीं माना जा सकता। वेदांतशास्त्र ज्ञान को कुछ लोगों की थाती नहीं बनाना चाहता, वरन् सभी धार्मिक पुरुषों को इसकी सुलभता हो, यही उसका आदर्श है। अतः समाज में जो लोग इस प्रकार का प्रयत्न करते हैं कि ज्ञानी के अनुकूल वातावरण बने, वे मानो उस ज्ञान की अत्यधिक रक्षा

करने के कारण ज्ञान साधना में प्रविष्ट होने पर अति शीघ्र उन्नति कर पाते हैं। समाज तथा राजनीति की रचना का वेदांत की दृष्टि से एकमात्र उद्देश्य यही है कि अधिक से अधिक लोग उस वातावरण में ज्ञान की प्राप्ति कर सकें। वर्ण आश्रम व्यवस्था, सदाचार आदि का इसीलिये प्रवर्तन वेदांताचार्यों ने किया एवं आज भी करते हैं। संसार की किसी भी अर्हा को वे वास्तविक नहीं मानते। परन्तु जिस असत्य मार्ग में स्थित होकर के सत्य का दर्शन कराया जा सके तो उस असत्य मार्ग में स्थित होना उन्हें प्रतिकूल नहीं लगता, और जो भी उनके नजदीक हो वह भी उसी असत्य मार्ग का अनुसरण कर सके जो सत्य का निर्देशक हो। सत्य ब्रह्म की प्राप्ति ही वह दिशा है जिसकी तरफ असत्य मार्ग से ही जाया जा सकता है। वस्तुतस्तु जितने भी मार्ग हो सकते हैं, वे सब असत्य रूप ही होंगे, यह ज्ञानी को स्फुट है।

धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास से अर्थात् यम के अनुग्रह से शरीर, इन्द्रिय और मनों में जो राग, क्लेश आदि की कुछ अनुवृत्ति रह जाती है, वह भी स्वतः दूर हो जाती है। आज का मनोविज्ञान भी यह मान चुका है कि हमारे जीवन के अनेक रोग मानसिक तनावों के कारण ही होते हैं एवं यम के अभ्यास से जब वे दूर हो जायेंगे तो यदि खाना-पीना, सोना उठना आदि सभी नियमपूर्वक किया जायेगा तो कोई कारण नहीं कि रोग आदि आकर हमें आत्म ज्ञान के मार्ग से दूर करें। अतः यदि शरीर में प्राणायाम आदि के द्वारा दूर करने के रोग हैं तो उन्हें दूर करने के बाद साधना में लगें, यह भी यहाँ बता दिया गया। वैराग्य की तीव्र अवस्था में जो धातु वैषम्य की स्थिति भी पैदा हो जाती है, वह भी सद्गुरु के साथ सन्मार्ग में स्थित होकर श्रवण के लिये प्रयत्नशील मनुष्य में से हटकर एक सहजावस्था आ जाती है जिसमें परब्रह्म का ज्ञान और अपर ब्रह्म की उपासना दोनों ही सम्भव होते हैं। अतः इस आध्यात्मिक दृष्टि से भी इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद ही उपासना का विषय छेड़ा गया है।

स्वर्ग का वर्णन स्वयं नचिकेता करके यह स्पष्ट कर रहा है कि स्वर्ग के विषय में उसको कोई संदेह नहीं है। किंच पुराण, स्मृति आदि में जो एक स्वर्ग का वर्णन है, वह इह लोक का ही अतिरंजित चित्र है एवं विद्वानों के लिये उपहासास्पद सा है। इतना ही नहीं, ईसाई, मुसलमान,

बौद्ध, जैन, वैष्णव, शाक्त आदि सभी का स्वर्ग अपनी-अपनी कल्पनाओं से प्रसूत होने के कारण यह प्रतीति करा देता है कि जिन जिन चीजों की अभिलाषायें उसके हृदय में रुद्ध (Suppressed) थीं, उन्हीं उन्हीं को वह स्वर्ग में भोगना चाहता है। प्राय: देखा जाता है कि जो सम्प्रदाय जितना ज्यादा यहां जिस चीज के त्याग का विधान करते हैं, स्वर्ग में वह उन्हीं चीजों की अधिकता को देखना चाहते हैं। परन्तु वैदिक स्वर्ग की इस प्रकार की अतिरंजित कल्पनाओं का कहीं कहीं उपयोग करने पर भी जब वस्तु स्थिति का विचार करते हैं तब उनसे दूर होकर स्वर्ग की वास्तविकता का प्रतिपादन करते हैं। किसी किसी आचार्य ने तो इसीलिये स्पष्टत: कहा है कि **'स्वर्गशब्दो मोक्षस्थानपर:'**। कुछ अन्यों ने **'स्वर्ग: परमपदप्राप्ति:'** ऐसा भी अर्थ किया है। तात्पर्य है कि जब तक परम पद या मोक्ष प्राप्त होने योग्य होता है तब तक वह अपर ब्रह्म ही है। अत: अपर ब्रह्म की प्राप्ति या अपर ब्रह्म में अवस्थान ही स्वर्ग पद का मुख्य वाच्य वेदों में बताया गया है। बृहदारण्यक (४-४-८) में स्पष्ट ही बताया है **'तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविद: स्वर्गं लोकं इत ऊर्ध्वं विमुक्ता:'** ब्रह्मवेत्ता लोग मुक्त होकर स्वर्ग लोक को जाते हैं। पूर्व मीमांसक भी स्वर्ग के स्थल विशेष या पौराणिक रूप को स्वीकार नहीं करते। तंत्र वार्तिक में आचार्य कुमारिल **'यन्नदु:खेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरं'** आदि के द्वारा स्वर्ग ऐसी अवस्था को मानते हैं जिसमें न बीच बीच में दु:ख हो और न जिसके अंत में दु:ख आये। इस प्रकार पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का स्वर्ग के विषय में मतभेद नहीं है। पूर्व मीमांसा में जो कर्म और उपासना का समुच्चय स्वीकार किया गया है, वह भी वस्तुत: अपर ब्रह्म उपासना ही समझनी चाहिये। मध्यकालीन कुछ मीमांसकों ने इस विषय को न समझकर जो मीमांसाद्वय में भेद उत्पन्न किया है, वह विचारकों को तो व्यर्थ सा ही लगता है। पूर्व मीमांसा अपरब्रह्म तक पहुंचाये और वहां से उत्तर मीमांसा परब्रह्म में पहुंचावे। यही समग्र वैदिक दर्शन की दृष्टि रखने वाले को स्पष्ट हो जाता है। अत: यहां इस अवस्था विशेष को ही स्वर्ग शब्द से ग्रहण करना चाहिये, किसी पौराणिक लोकांतर को नहीं। चूंकि इस अवस्था में रोग, आधिभौतिक, आधिदैविक, चोर आदि किसी भी प्रकार का भय मनुष्य को नहीं हो सकता, अत: कहा गया कि वहां किसी

प्रकार का भय नहीं है। बाह्य भयों के अभाव में भी यम का भय तो रह ही जाता है। स्वर्ग्य पुरुषों को धारणा, ध्यान, समाधि रूपी यम भी एक भय वाली चीज ही लगती है। किसी भी प्रकार का नियंत्रण, चाहे वह गुरु का हो, चाहे और किसी का भयप्रद प्रतीत होता है। अतः नचिकेता कहता है कि वहां यम भी नहीं है अर्थात् न धारणा, ध्यान, समाधि रूपी संयम का भय है, एवं न अपने से किसी बड़े (गुरु) का ही भय है क्योंकि ब्रह्मलोक में पहुंचकर सब एक जैसा हो जाता है। तात्पर्य है कि तादात्म्य के कारण जो एक प्रकार का भय या दुःख होता है, वह भी वहां नहीं है। पौराणिक स्वर्ग में ही नहीं, गो लोक में भी इस प्रकार का तारतम्य बना ही रहता है, क्योंकि राधा का स्थान अष्टसखियों का नहीं एवं जो अब जाते हैं, उनको तो अष्ट सखियों का स्थान भी प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु यहां इस प्रकार का कोई तारतम्य नहीं है। सर्वज्ञ शंकर का तो कहना है कि 'त्वं सहसा न प्रभवसि' अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि रूप यम भी सहसा अर्थात् जब ध्याता को पता ही नहीं हो तब अकस्मात् हो, ऐसा नहीं होता। तात्पर्य है कि साधना के प्रारंभ में कभी ध्यान करने बैठने पर भी लगता नहीं एवं सारा प्रयास निष्फल सा लगता है। परन्तु मनुष्य को यह पता ही नहीं चलता कि इसका कारण क्या है? जब अपर ब्रह्म उपासना में मनुष्य की स्थिति हो जाती है तो वह निश्चित रूप से अपने अंतःकरण का नियामक बन जाता है, इसलिये उसकी धारणा, ध्यान, समाधि जैसी वह चाहता है, वैसी ही होती है, अकारण या सहसा नहीं। न वहां कोई जरया अर्थात् बुढ़ापे से युक्त होता है। यहां सहार्थ में तृतीया समझनी चाहिये। कार्य करण संघात की जैसे जैसे जीर्ण अवस्था आती है, वैसे वैसे पहले जो आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि से युक्त होता है, वह भी उनके करने में असमर्थ होता है, ऐसा ईश्वरोपासक को नहीं होता। किंच श्रवण, मनन आदि में योग्य व्यक्तियों को भी अनेक बार इस देह आदि संघात की जीर्ण अवस्था में श्रवण, मनन करने में असमर्थता का अनुभव होता है। शिव उपासना करने वाले को यह भी नहीं होता। यही जरा से युक्त न होने का तात्पर्य है। अथवा अन्य उपासना और कर्म करने वाले को थकावट आ जाती है, परन्तु प्रपंचोपशम शांत शिव का जो ध्यान करता है, उसे इस प्रकार की थकावट कभी भी महसूस नहीं होती। भाष्य कहता है कि 'इहलोकवत्' जैसा इस लोक में, अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा जो पदार्थ प्रतीत होता

है, उनके साथ व्यवहार करने में जीर्णता आती है; ऐसी जीर्णता ईश्वर की उपासना में लगे हुए व्यक्ति में सम्भव नहीं है। आगे कहेंगे कि सारी ही इन्द्रियों का तेज क्षीण होता चला जाता है, वैसा शिवोपासना में नहीं होता, वरन् इन्द्रियों की तेजस्विता अभिवृद्ध होती चली जाती है। अनेक जगह उपनिषदों में इसीलिये कहा भी है कि ब्रह्मज्ञान के फलस्वरूप मनुष्य की अग्नि दीप्त हो जाती है, एवं चेहरे पर तेज आ जाता है और अति दीर्घ आयु तक मनुष्य स्वस्थ होकर जाता है। उसका भी यही कारण है। लौकिक दृष्टि से तो स्पष्ट ही है कि ब्रह्म लोक में न बुढ़ापा आ सकता है, और न मृत्यु ही क्योंकि कल्पांत में ब्रह्मा के साथ ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी को ब्रह्मसूत्रों में क्रम मुक्ति माना गया है। अपरब्रह्म शिवोपासना क्रम मुक्ति देती है, एवं शिव ज्ञान परब्रह्म रूप सद्यः मुक्ति को देता है। दोनों में मृत्यु का एवं वृद्धावस्था का भय सम्भव ही नहीं है।

नचिकेता को स्वयं गुरुगृह गमन की दृष्टि से देखा जाये तो भी इसका तात्पर्य यही है कि इस प्रकार के आत्मज्ञानी में अकाल वृद्धावस्था, भय आदि नहीं होते। जितना मनुष्य चिंता और तनावों में रहता है, उतना ही वृद्ध जल्दी होता है एवं संसार के प्रति जिसमें जितनी नास्तिक भावना होती है, उसमें भी वृद्धावस्था उतनी ही जल्दी आती है। जिसका दृष्टिकोण आस्तिक होता है वह जीवन के प्रति उत्साह वाला होने से जल्दी वृद्ध नहीं होता। अनेक पुराण अनुयायियों में जो निरंतर सृष्टि के बिगाड़ की ही तरफ दृष्टि बनती है, वह वैदिक दृष्टि में तो एक प्रकार की नास्तिकता ही है क्योंकि भविष्य के प्रति उनकी दृष्टि न अस्ति की बन जाती है। वेद की आस्तिकता में तो भूत भी महान् अस्ति, वर्तमान भी महान् अस्ति और भविष्य भी महान् अस्ति, इस प्रकार तीनों कालों में आस्तिक बुद्धि वाली दृष्टि ही है। भूख और प्यास का अर्थ सामान्य भूख प्यास भी लिया जा सकता है क्योंकि प्रारब्ध के अनुसार भूख, प्यास स्वतः ही निवृत्त होती रहती है। इसका तात्पर्य यह लेना तो सर्वथा अनिष्ट हो जायेगा कि उसको भूख और प्यास लगती ही नहीं क्योंकि फिर तो वह रोग विशेष हो जायेगा। अतः तात्पर्य यही हो सकता है कि उसे भूख या प्यास लगे और उसकी शान्ति का पदार्थ समय पर प्राप्त न हो, यह सम्भव नहीं। वैसे तो यह प्राणिमात्र के लिये सत्य है कि प्रारब्ध स्वतः ही, भूख प्यास की निवृत्ति का साधन उपस्थित कर देता है। परन्तु मनुष्य इस

बात को न जानने के कारण, शायद निवृत्ति नहीं हो पायेगी, इस चिंता से जो भूख प्यास में दुःख पाता रहता है, वह इस प्रकार के स्वर्ग लोक को प्राप्त करने के बाद नहीं रह जाता, यही तात्पर्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो कामनाओं की अपूर्ति ही भूख है, एवं कर्म करने की सम्भावनाओं की अपूर्ति ही प्यास है। अतः तात्पर्य हुआ कि काम और कर्म उसका नष्ट हो गया होता है। इसलिये उसमें अशना और पिपासा की सम्भावना नहीं रहती। अपर ब्रह्म की प्राप्ति के बाद अविद्या की तो अनुवृत्ति रह जाती है, लेकिन बाकी काम और कर्म तो समाप्त ही हो जाते हैं। इसी प्रकार शोक का अर्थ भी यहां सामान्य शोक न लेकर सर्वज्ञ शंकर ने मन के दुःखमात्र को ग्रहण किया है। तात्पर्य है कि उसे कभी भी किसी भी प्रकार का मानस दुःख नहीं होता। प्रारब्ध के कारण शरीर आदि में दुःख हो भी जाये तो भी जैसा पहले कह आये हैं, उसको उनसे भय नहीं होता। वह जानता है कि ईश्वरेच्छा के कारण यदि कोई दुःख वाला पदार्थ आया भी है तो स्वयं नष्ट हो जायेगा क्योंकि कोई भी सुख या दुःख का प्रारब्ध नित्य नहीं हुआ करता। उसकी चिंता व्यर्थ है। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि रोग आदि निमित्तों का भय नहीं होता, अर्थात् प्रारब्ध के अनुसार वह इस अवस्था पर आ जायेंगे, इस भय से आक्रांत होकर जो मनुष्य रोग आदि के अभाव में भी दुःखी होता रहता है, वह उसे नहीं होता। शोक के न होने का तात्पर्य मानस दुःख का न होना ही है क्योंकि प्रारब्ध अनुकूल देह आदि में तो दुःख की अनुवृत्ति आ ही जाती है। अतः दो चीजें स्पष्ट हैं, अनागत दुःख के भय की निवृत्ति जो एक मानस वृत्ति ही है, एवं दुःख के आगमन पर भी मन में किसी प्रकार का शोक न होना। यहां तक कि उपनिषद् के अनुसार उसके मन में यह भी नहीं होता कि मैंने अमुक गलत काम या अशुभ कर्म किया अतः मुझे इस दुःख की प्राप्ति हुई। अथवा मैंने अमुक शुभ कार्य, प्रायश्चित्त या ग्रह शान्ति इत्यादि क्यों नहीं की कि मुझे यह दुःख न होता। इस प्रकार की भावना भी नहीं बनती। अतः जो कुछ लोगों की यह मान्यता है कि ज्ञानी को देह आदि के विकारों का अनुभव नहीं होता, वह यहां श्रुति को मान्य नहीं।

मोदते कहकर श्रुति इस बात पर जोर देती है कि जो अनेक लोग दुःखाभाव को ही मोक्ष मानते हैं, वह वैदिक दृष्टि नहीं है। परब्रह्मरूपता

में तो आनंदरूपता की प्राप्ति है एवं अपर ब्रह्म की स्थिति में आनंद निरतिशय रूप से उपलब्ध होने की स्थिति है। अतः निरानंद मोक्ष वेदांतों में कहीं भी स्वीकृत नहीं किया गया है। यद्यपि प्रथम भाग में इस मंत्र ने दुःखाभाव को तो बता ही दिया था परन्तु उतने मात्र से श्रुति संतुष्ट न होकर के अंतिम भाग में 'मोदते' के ऊपर जोर देने के लिये स्वर्गलोके का पुनः कथन कर देती है। अतः स्वर्गलोके मोदते स्वर्ग लोक में आनंद का अनुभव होता है, यह भाव है। मोदते में आत्मनेपद का प्रयोग किया गया। यद्यपि इसका सामान्य कारण यह तो है ही कि मुद् धातु आत्मनेपदी है फिर भी चुरादिगण में पठित परस्मैपदी मुद् धातु का प्रयोग न करने का तात्पर्य यही है कि यहां सुख किसी विषय को लेकर नहीं है वल्कि स्वयं अपनी ही आत्मा के सुख का भोग है। वस्तुतः जीवन्मुक्त व्यवहार काल में इस स्वर्ग लोक में ही रहता है क्योंकि वह एक क्षण को भी अविद्या से ग्रस्त नहीं होता। सारी सृष्टि और स्वयं अपने शरीर को शुद्ध विद्या के प्रकाश में देखते हुए उन सबको ईश्वर रूप से ही देखता है। अत: यह वर्णन जीवन्मुक्त की दशा भी समझ लेनी चाहिये। नित्य निरंतर व्यवहार काल में अपर ब्रह्मानुभूति, एवं व्यवहार निवृत्ति काल में परब्रह्मानुभूति। इसी प्रकार सभी अवस्थाओं में एकरस, समरस शिव का प्रवाह ही जीवन्मुक्त की स्थिति है। स्वर्गलोके शब्द के दो बार प्रयोग का तात्पर्य यही है कि शिव ध्यान के द्वारा दोनों को जाता है। अपरब्रह्म लोक की प्राप्ति करने वाला भी इसी स्थिति को प्राप्त करता है, एवं जो परब्रह्म में स्थित हो गया है, वह भी व्यवहार काल में भी इसी स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है। इस प्रकार एक तो शरीर से छूटने के बाद इस स्थिति में जाता है और दूसरा अध्यास की निवृत्ति मात्र से शरीर से छूटकर शरीर में रहते हुए ही इस स्थिति को भोगता है। यही श्रुति के स्वर्गे लोके पद का एक ही श्लोक में दो बार प्रयोग करने का तात्पर्य है। इतना ही नहीं, पहले 'स्वर्गे लोके' इस प्रकार भिन्न-भिन्न सुप् (Case ending) का प्रयोग किया बाद में एक सुप् का। स्वर्गे लोके अर्थात् अनुभव का विषय है, और दूसरे में स्वर्गलोक से अभिन्न है। ज्ञान की दशा में यह अवस्था अपने से अभिन्न प्रतीत होती है और केवल ब्रह्मलोक को उपासना से प्राप्त करने वाले को द्वैत की अनुवृत्ति रह जाती है। इस दृष्टि से श्रुति ने यह तात्पर्य स्पष्ट कर दिया। भाष्यकारों ने भी इसीलिये अंतिम

स्वर्गलोके का अर्थ दिव्ये कर दिया। दिव्ये अर्थात् प्रकाशरूपता में। आत्म ज्ञान की प्रकाशरूपता में इस प्रकार का व्यवहार होता है, यह भाव है। पहले स्वर्ग लोके को उन्होंने यथाश्रुत ही छोड़ दिया है क्योंकि स्पष्टार्थ है। शोकातिगः का अर्थ यह भी हो सकता है कि शोकं अतीत्य गच्छति अर्थात् शोक को पीछे छोड़कर चला जाता है। तब तात्पर्य होगा कि शोक से उपलक्षित संसार भाव को छोड़ देता है। शोक मोह से ही संसार की उपलक्षणा अनेक स्थलों पर भाष्य में स्वीकार की गई है। गच्छति अर्थात् जानाति। अपने आपको विशोक रूप से जान लेता है, यह भाव है। ज्ञानी को तो अपनी असंसारिता का बोध अद्वैत दृष्टि से स्फुट ही है परन्तु शिव ध्यान करने वाले को भी परोक्ष अद्वैत ज्ञान है ही। ब्रह्म लोक की प्राप्ति अहंग्रहोपासना से ही मानी गई है। अन्य द्वैत उपासनायें तो तुच्छ फल देने वाली ही हैं। एवं इस दृष्टि से वह अपने को परमेश्वर का एक अंश समझता है और परमेश्वर के अंश में संसारिता असम्भव होने से वे दोनों ही अपने को संसारी जीव से सर्वथा भिन्न समझते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

: १३ :

स्वर्ग के स्वरूप को बताकर अब उसके साधन रूपी शिवज्ञान को पूछते हैं:—

स त्वं अग्निं स्वर्ग्यं अध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि *त्वं श्रद्दधानाय मह्यम ॥
स्वर्गलोकाः अमृतत्वं भजन्ते एतत् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥

सः = वह	मह्यम = मुझको
त्वं = आप	प्रब्रूहि = बतावें,
स्वर्ग्यं = स्वर्ग देने वाले	स्वर्गलोकाः = (जिससे) स्वर्गलोक को प्राप्त हुए
अग्निं = अग्नि को	अमृतत्वं = अमरता को
अध्येषि = जानते हैं।	भजन्ते = प्राप्त करते हैं।
मृत्यो = हे मृत्यु	एतत् = यह
त्वं = आप	द्वितीयेन = दूसरे
श्रद्दधानाय = श्रद्धावाले	वरेण = वरदान से
	वृणे = चुनकर मांगता हूं।

* तं श्रद्दधानाय भास्करः।

नचिकेता कहता है कि हे आचार्य रूपी मृत्यु ! आप स्वर्ग के साधन रूपी ईश्वर जिसका प्रतीक अग्नि है, उसको भली प्रकार सदा स्मरण करते हैं। यद्यपि अध्येषि का मतलब अध्ययन करते हैं परन्तु उसका भी मतलब यही है कि निरंतर उसका विचार करते रहते हैं। इसीलिये सर्वज्ञ शंकर ने अध्येषि का अर्थ ही स्मरसि किया है। परब्रह्म विद्या में निष्ठ होने पर भी व्यवहार काल होने से उन्हें अग्नि रूप परमात्मा का निरंतर स्मरण करने वाला यहां बताया है। पुनः नचिकेता कहता है कि आप मुझे इसलिये उसका प्रकर्ष से अर्थात् अच्छी तरह से उपदेश करें क्योंकि मैं श्रद्धा वाला हूं। श्रद्धा वाले पुरुष को ही शिव तत्व का उपदेश सम्भव है, यह अनेक जगह शास्त्रों में कहा गया है। बिना श्रद्धा के दिया हुआ उपदेश व्यर्थ हो जाता है। इस परमात्मरूप अग्नि को जान करके एवं उसकी उपासना करके लोग स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, अर्थात् स्वर्ग उनका लोक हो जाता है। तात्पर्य है कि वे इस स्वर्ग का ही अनुभव करते हैं। इस स्वर्ग लोक के द्वारा ही अपनी अमरणधर्मता का ज्ञान हो जाता है, एवं एक बार अपनी इस अमरण-धर्मता को जानकर अपरब्रह्म के उपासक फिर कभी और किसी दूसरी चीज का भजन अर्थात् सेवन नहीं करते। जब तक शिव को नहीं जाना तभी तक अशिव की उपासना बनती है। एक बार जहां शिव में मन लग गया, फिर कभी भी अशिव में न मन लगेगा, न अशिव का सेवन किया जा सकेगा। नचिकेता का यह द्वितीय वर इस प्रकार ब्रह्मलोक के साधन रूप अपरब्रह्म की उपासना विषयक ही सिद्ध होता है। इसको प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को देव भाव की प्राप्ति हो जाती है। भगवान शंकर तो इसी-लिये अमृतत्वं का अर्थ देवत्वं करते हैं। अर्थात् समग्र दैवी गुण उसको प्राप्त हो जाते हैं और वह समग्र दैवी गुणों का आश्रय बन जाता है। स्थिति हो जाने पर दवी सम्पत्ति स्वाभाविक हो जाती है और उसके पूर्व दैवी सम्पत्ति का वह भजन अर्थात् सेवन करता है, यह यहां तात्पर्य है।

अग्नि वेदों में परमात्मा का प्रतीक है। यतः प्रतिष्ठा जगतः साक्षात् अग्निरूपेणयः प्रभुः यतश्च कर्मणान् सिद्धिः विश्वनाथस्समे गतिः कहकर कठोपनिषद् का विचार करते हुए काशीशस्तोत्र में स्पष्ट किया गया है कि जो प्रभु साक्षात् अग्नि रूप से चराचरात्मक जगत के आश्रयभूत हैं

और सभी प्राणियों को कर्मफल देते हैं, वह विश्वनाथ ही अग्नि रूप से कहे गये हैं। समष्टि विराट् को अग्नि कहा गया है और समष्टि विराट् रूप से अग्नि जगत का आश्रय है। अन्यत्र भी स त्रेधा ग्रात्मानं व्याकुरुत अर्थात् विराट् अपने आपको नीचे अग्नि रूप से, अंतरिक्ष में वायु रूप से और आकाश में आदित्य रूप से विभक्त करके प्रतिष्ठित होता है। अतः यहां पर जो अग्नि है, वही विराट् रूप की प्रत्यक्ष मूर्ति है। सामान्य दृष्टि से अग्नि के द्वारा ही सारे कर्म वैदिक कर्मकाण्ड में किये जाते हैं और अग्नि ही देवता का हव्य लेकर के जाती है, और पुनः उसी को सभी कर्मों का फल देने वाला कहा गया है। परन्तु भगवान वेद व्यास ने ब्रह्मसूत्रों में '**फलमत उपपत्तेः**' में यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्तुतस्तु अग्नि आदित्य इत्यादि देवता नहीं, वरन् साक्षात् परमेश्वर ही सभी कर्मों का एकमात्र फल देने वाले हैं। जहां अग्नि इत्यादि से फल बताया है, वहां भी तात्पर्य अग्नि इत्यादि के द्वारा वही फल देता है, यह भाव है। जिस प्रकार लोक में भी सरकारी नौकर को तन्खा सम्बन्धित अधिकारी देता हुआ प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः उसके द्वारा राष्ट्रपति ही वेतन देता है। उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। अथवा प्रारब्ध के अनुसार कोई न कोई व्यक्ति ही अन्न वस्त्र आदि देता है परन्तु वस्तुतः उस व्यक्ति के माध्यम से प्रारब्ध ही फल दे रहा होता है। उसी प्रकार यहाँ समझ लेना चाहिये। तात्पर्य है कि सभी कर्म और उपासनाओं का फल एकमात्र परमेश्वर ही देता है। चाहे वह इंद्र, मित्र, वरुण, यम, ब्रह्मा, विष्णु आदि अधिदेव अधिकारियों के द्वारा दे, अथवा वायु, सूर्य, गंगा आदि भौतिक पदार्थों के द्वारा दे अथवा राजा आदि के द्वारा दे। देने वाला तो एकमात्र वही है। सामवेद के जैमिनीय ब्राह्मण में तो स्पष्ट ही कहा है '**अग्निर्वै भर्गः**' अग्नि शिव का ही रूप है। अन्यत्र भी कहा है कि अग्नि रुद्र का पार्थिव तनु है। अष्ट मूर्तियों में भी अग्नि शिव की ही मूर्ति है। यहां भी अग्नि के द्वारा उसका ही ग्रहण है। चौदहवें मंत्र में '**निहितं गुहायाम्**' '**अनंतलोकाप्तिम्**' '**प्रतिष्ठां**', पंद्रहवें मंत्र में '**लोकादिम्**' के द्वारा स्पष्ट ही यह द्योतित किया गया है कि यह अग्नि कोई सामान्य अग्नि नहीं है। परमेश्वर का लक्षण सृष्टि, स्थिति एवं लय करने वाला

है तथा यहाँ पर 'प्रतिष्ठां' और 'लोकादिम्' इसी को कह दिया गया। किंच, हृदय गुहा में निहित लौकिक अग्नि तो हो ही नहीं सकती। अतः जो यहां अग्नि विद्या से सामान्य अग्निहोत्र आदि का ग्रहण करना चाहते हैं, वह नहीं वनता। इतना ही नहीं, इस समग्र प्रकरण में यह कहीं नहीं कहा गया है कि यह अग्नि विद्या किस प्रकार की है। ब्राह्मण दृष्टि से तो सारे ही कर्म अग्निकर्म हैं। इतना भी निश्चित है कि नचिकेता ने इस अग्नि विद्या को जैसे प्राप्त किया था, वैसे ही जब सुना दिया तब आगे उसे कोई कार्य करना अवशिष्ट नहीं रहा एवं उस फल की भी उसको प्राप्ति हो गई। यदि यहां अग्नि विद्या से किसी कर्म का ग्रहण किया जाता तो यह भी नहीं बनता। इससे भी यही प्रतीत होता है कि यह अग्नि विद्या परमेश्वर की उपासना है, कोई कर्म या कर्म का अंग नहीं। सर्वज्ञ शंकर तो एवं **गुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतं अग्निं** कहकर यह स्पष्ट ही करते हैं कि अग्नि स्वयं ही यहां स्वर्ग लोक की प्राप्ति का साधन रूप है, अर्थात् किसी अग्नि कर्म रूप साधना का अंग न होकर के स्वतः ही साधन है। यह तभी वन सकता है जब यहां परमेश्वर का ध्यान माना जाये। ध्यान ही एक ऐसी क्रिया है जिसमें ज्ञान ही साधन हो जाता है। किंच, मृत्यु को भी यह नहीं कहा गया है कि वह इस कर्म को जानता है वरन् अध्येषि शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् स्मरण या ज्ञान ही अग्नि का मृत्यु को है। यदि अग्नि कर्म यहां इष्ट होता तो 'तुम कर्म करना जानते हो' अथवा तुमने यह कर्म किया है इत्यादि प्रकार की वाक्य रचना होती। भाष्य में जहाँ '**येन अग्निना चितेन**' कहा है, उसकी टीका में स्पष्ट किया गया है '**चितेन उपासितेन इत्यर्थः**' अर्थात् अग्नि को किस प्रकार से बाह्य चयन किया जाये, ऐसा नहीं वरन् उसकी उपासना से। अतः यहां अग्नि रूप परमात्मा की उपासना और विज्ञान की प्रार्थना की गई है।

अध्येषि पद यहां बहुत महत्त्व का है। अधि पूर्व इण् गतौ धातु का अर्थ किसी चीज का समझना, जानना, याद करना आदि होता है। प्रायः करके अधि पूर्व इण् धातु आत्मनेपद में प्रयुक्त होता है परन्तु यहां परस्मैपद का प्रयोग है। यद्यपि वेदों में सुप् तिङ पद आदि का बंधन स्वीकार नहीं किया गया है तथापि इस स्वातंत्र्य में किसी न किसी ध्वनि को करना इष्ट होता है।

परस्मैपदि का प्रयोग सिद्धान्ततः वहां किया जाता है जहां पर फल दूसरे को मिले एवं आत्मनेपदि का प्रयोग वहां किया जाता है जहां फल करने वाले को मिले। ज्ञान के बाद किसी भी कर्म का फल अपने लिये नहीं होता। इसलिये मृत्यु को भी जो सगुण ब्रह्म विद्या याद है, यां उसे वह नित्य स्मरण करते रहते हैं, वह दूसरों के कल्याण के लिये है। स्वयं अपने लाभ के लिये नहीं, यह कहना यहां इष्ट है। वस्तुतस्तु अध्येषि में जो स्मरण का भाव है उसके पीछे परमात्मा के प्रति एक प्रार्थना का भाव है। श्रौत साधनाओं में परमेश्वर की प्रार्थना एक प्रधान अंग रही है। वैसे तो सभी मत मतांतरों तथा मज़हबों में प्रार्थना ही एक साधना का प्रधान रूप है। वेद के स्वाध्याय अर्थात् पाठ को वैदिक साधनों में एक प्रधान स्थान इसलिये दिया गया कि वैदिक मंत्र मूलतः परमेश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों की प्रार्थना ही हैं। बौद्ध और जैन धर्म यद्यपि किसी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते लेकिन फिर भी निर्वाण प्राप्त हुए बुद्ध अथवा तीर्थंकर महावीर आदि की प्रार्थना उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार साधारणतः मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना करता है, और जिन लोगों को अधिक दार्शनिक तत्वमीमांसा में प्रवेश नहीं होता, वे तो प्रायः बुद्ध और महावीर को अपने-अपने धर्म में ईश्वर रूप से ही स्वीकार करते हैं। श्लाइर माशर (Schlaier Macher) का तो कहना है कि धार्मिक होना एवं प्रार्थना करना एक ही चीज है अर्थात् जो व्यक्ति प्रार्थना करता है, वह अवश्य ही धार्मिक है। इसी बात को फ्राइड्रिक हाइलर (Friedrich Heiler) ने अपनी प्रेयर (Prayer) नाम की पुस्तक में और भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। यद्यपि आधुनिक सभी धर्मों में भी अनेक क्रियाकाण्डों का समावेश हो गया है और सम्भवतः पौराणिक सनातन धर्म ने तो कर्मकाण्ड का इतना अधिक विस्तार कर दिया है कि उसमें प्रार्थना के अंश को निकालना भी कठिन प्रतीत होता है परन्तु उसमें भी प्रार्थना का अंश प्रधान रहता ही है। धर्म के प्रारंभ होने का बिन्दु ही है जब हम अपने से किसी महत्तर शक्ति का अनुभव करते हैं और जैसे ही इस महत्तर शक्ति का अनुभव होता है यह स्वाभाविक है कि हम उसके सामने अपने आपको नत करें, यही प्रार्थना का बीज है। वेदों की प्रार्थना को देखकर आजकल के अनेक लोग यह शका करते हैं कि उसमें तो परमेश्वर से सभी चीजों को मांगा गया है और इसीलिये लोग प्रार्थना में पड़े

हुए अर्थ शब्द का तात्पर्य पदार्थ लगा लेते हैं। परन्तु संस्कृत में अर्थ का मतलब केवल पदार्थ नहीं होता वरन् किसी भी प्रकार की चीज को अर्थ कहते हैं। भगवान पतंजलि योगसूत्रों में 'तज्जपः तदर्थभावनं' कहकर इस बात को स्पष्ट करते हैं क्योंकि ओंकार का अर्थ कोई पदार्थ तो हो ही नहीं सकता। अतः चाहे परमेश्वर के दर्शन की प्रार्थना हो, चाहे अपने अन्दर वैराग्य भावनाओं के प्राबल्य की प्रार्थना हो, चाहे आत्मज्ञान की प्रार्थना हो, हैं तो सभी प्रार्थनायें ही। अतः जैसे-जैसे आत्मा परमेश्वर की तरफ चढ़ती है वैसे-वैसे उसका प्रार्थना का स्वरूप और विषय बदलता जाता है परन्तु प्रार्थना तो बनी ही रहती है। हमें तो लगता है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहे हुए वेदानुवचन, यज्ञ, दान तप और अनशन एक प्रकार से साधना के क्रम का प्रतिपादक है। जो केवल वेद स्वाध्याय में अपने आपको तृप्त नहीं कर सकता, उसके लिये यज्ञ की आवश्यकता है। जो यज्ञ भी नहीं कर पाता, उसके लिये दान, जो दान भी नहीं कर सकता, उसके लिये तप एवं अंततोगत्वा कर्म फल की इच्छा का त्याग। इस प्रकार का क्रम गीता में श्री कृष्ण ने भी प्रतिपादित किया है। अतः वेद स्वाध्याय के अन्दर जो निरंतर परमेश्वर का स्मरण बना रहता है वही प्रार्थना का मूल रूप है। इतना ही नहीं, जब संसार के भिन्न-भिन्न धर्मों का अध्ययन करते हैं तो हमें लगता है कि उनकी प्रार्थनाओं के द्वारा ही वह अपने परमेश्वर का क्या रूप समझते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। वह अपने परमेश्वर से क्या आशा रखते हैं और किस प्रकार परमेश्वर की भावना उनके जीवन को चलाती है, इन सभी बातों का स्पष्टीकरण प्रार्थनाओं में ही होता है। प्रार्थना के स्वरूप से ही न केवल उनके परमेश्वर की भावना का वरन् वे स्वयं क्या हैं, इसका भी पता लग जाता है। जो मनुष्य जितनी स्थूल कामना वाला होगा, वह उतने ही स्थूल पदार्थों की प्रार्थना करेगा। जैसे-जैसे नैतिक जीवन में बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे दान, दया, दम इत्यादि की प्रार्थना करते हुए अंत में परमेश्वर की शरणागति की प्रार्थना करेगा जिस समय वह यह चाहेगा कि मेरी कोई इच्छा पूर्ण न हो, बल्कि केवल परमेश्वर की ही इच्छा पूर्ण हो। यद्यपि आजकल के अनेक विचारक भिन्न-भिन्न धर्मों का अध्ययन करते हुए उनके दार्शनिक ग्रन्थों को सामने रखकर के विचार करते हैं लेकिन हमें लगता है कि यदि उन धर्मों की प्रार्थनाओं को एकत्रित किया जाये तो ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम उस धर्म को ज्यादा अच्छी तरह से समझ सकेंगे।

अध्येषि के द्वारा एक तरह से इस प्रार्थना का लक्षण श्रुति करती है। इण् धातु का अर्थ गति है, यह भी बता आये हैं। अधि का मतलब पूरा, होता है। अर्थात् जिसे अंग्रेजी में ascent कहते हैं, उसे ही यहां अध्येषि कहा गया है। धार्मिक व्यक्ति जब ईश्वर के साथ एक जीवित सम्बन्ध (Communion) कायम करता है एवं उस परमात्मा को अनुभव में प्रत्यक्ष मानता है तथा यह समझता है कि परमात्मा हमारे साथ किसी न किसी तरह से घनिष्ट सम्बन्ध वाला है, तभी प्रार्थना बनती है। प्रार्थना के अंतिम रूप में आत्मा अपने आपको परमात्मा में पूरी तरह से लीन कर देती है (Utter absorption)। गीता में श्री कृष्ण ने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इस प्रकार के चार भक्त गिनाये हैं। भगवान का भी यही तात्पर्य है कि अध्यात्म जीवन के प्रारम्भ में मनुष्य का दृष्टिकोण अत्यंत सरल होता है एवं अपने कष्टों को हटाने के लिये वह परमेश्वर से प्रार्थना करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो मानना पड़ेगा कि प्रार्थना, भक्ति एवं अपने आपका बलिदान वस्तुत: मानव की उस प्राथमिक अवस्था में प्रतिष्ठित है जब तक धर्म अंध विश्वास और जादू की दृष्टि से अलग नहीं हुआ था। जब तक मानव एक जंगली जीवन व्यतीत करता था तब तक भयंकर बाढ़, बिजली का गिरना, सूखा पड़ना, अतिवृष्टि होना, भूकम्प होना आदि को देखकर उनके ऊपर किसी न किसी तरह से अपना नियंत्रण करना चाहता था। अभी उसका मस्तिष्क विकसित नहीं हुआ था। अत: जहां कहीं कार्य दीखता था, वहां तुरंत उसमें ज्ञान वाली किसी आत्मा का स्थित होना मान लेता था। किसी न किसी प्रकार से प्रकृति की इन चीजों पर वह ऐसी शक्ति प्राप्त करना चाहता था कि जिन्हें वह अपने मन के अनुकूल झुका सके और उनसे लाभ उठा सके। मनुष्य का मन आज भी इस स्थिति से कोई बहुत अधिक नहीं बढ़ा है। हम लोग आज विज्ञान की चाकचिक्य में अपने आपको फंसा पाते हैं, उसका भी कारण यही है कि जिस प्रकार जंगल का व्यक्ति एक जादूगर एवं औषधि के जानने वाले को अपना पुरोहित स्वीकार करता था, उसी प्रकार आज हम भी आश्चर्यजनक रूप से प्रकृति के ऊपर नियंत्रण करने वाले विज्ञान को अपना पुरोहित मानने को तैयार होते हैं। इतना ही नहीं जहां हमें वह विज्ञान सहायता नहीं दे पाता, वहां फिर जैसे एक छोटा बच्चा रात्रि अंधकार में अपनी माता को न देख कर चिल्ला पड़ता है, वैसे ही हम

पुनः ईश्वर के लिये चिल्ला पड़ते हैं। अमरीका और योरोप जैसे वैज्ञानिक देशों ने पाया कि वह अपनी समग्र वैज्ञानिक प्रगति करके भी विश्व महायुद्ध को नहीं रोक पाये; और हाइड्रोजन बाम्ब, आई०सी०बी०एम० इत्यादि के भय से त्रस्त होकर पुनः वह धर्म की ओर मुड़ रहे हैं जो तरह-तरह के रूप धारण कर रहे हैं। कई बार लोग यह समझते हैं कि विज्ञान की अधिक उन्नति के फलस्वरूप उन लोगों में धार्मिक प्रवृत्ति आई है। वह विचारकों को संगत नहीं लगता। वस्तुतस्तु बात इतनी ही है कि विज्ञान जिसे उन्होंने अपना पुरोहित बनाया था, अपने उस फल को उत्पन्न करने में सफल नहीं हो पा रहा है, जो वे चाहते हैं। तब पुनः ईश्वर की प्रार्थना की ओर मुड़ रहे हैं। भारत में हम लोग विज्ञान रूपी पुरोहित के द्वारा अपना लाभ देख रहे हैं। इसीलिये हम परमेश्वर को छोड़कर के इस पुरोहित के चक्कर में पड़ते जा रहे हैं। आधारभूत दृष्टि से आधुनिक मानव उस प्राचीन मानव से कुछ ज्यादा भिन्न प्रकार का नहीं है। तीक्ष्ण विवेक की दृष्टि से देखने पर तो मानना पड़ता है कि चाहे उस ज्ञाति वाले पुरोहित में हो, चाहे विज्ञान में, परमात्मा की सत्ता में विश्वास तो काम कर ही रहा है। जब वह जादूगर प्रार्थना करता है, चाहे वह कितना ही चक्कर काटता हुआ, श्याने भगत या भोपे का आचरण करते हों, लेकिन कहीं न कहीं अपने से महत्तर शक्ति की भावना तो छिपी हुई है ही। इसी प्रकार से वैज्ञानिक को, सारे जगत में एक कार्यकारण शक्ति है और यदि एक कारण एक जगह कार्य उत्पन्न करता है तो उन्हीं परिस्थितियों में फिर उत्पन्न करेगा, ऐसी उस महत्ती शक्ति के ऊपर उसका भी विश्वास है ही। शुरू-शुरू में वह इस शक्ति को कहीं मना (Mana), कहीं वकुण्डा (Wakonda), कहीं देवी, कहीं भैरव आदि भिन्न-भिन्न नामों से बोलते हैं। परन्तु वह अनुभव करता है कि जब चाहे तब वह इस शक्ति को प्रकट नहीं कर पाता। इसलिए वह उन परिस्थितियों के ऊपर विचार करता है जिससे वह शक्ति आती है क्योंकि यह निश्चित है कि जब-जब मन में एकाग्रता होती है, तब-तब मानो अंतःकरण की उपाधि टूट जाती है और हमें एक शक्ति का अथाह समुद्र अपने अन्दर लहराता नजर आता है। यह शान्ति का ऐसा ज्ञान तो साधना के अंत में होता है परन्तु प्रारम्भ में तो मनुष्य उन बाह्य परिस्थितियों को पैदा करना चाहता है जिनसे वह इस शक्ति पर हाथ डाल सके। यही तंत्र, मंत्र, यंत्र (Spell, Incantation) आदि का

रूप ले लेता है। यहां जादू (वेदों का यातुधान) एवं धर्म आपस में ऐसा घुलमिल जाता है कि अनेक अविचारी लोग तो इसे एक धार्मिक अनुभव ही मान लेते हैं। परन्तु विचार करने पर पता लगता है कि जादू में और धर्म में आधारभूत भेद यह है कि जादू में किसी महान शक्ति के सामने अपने आप को समर्पण करने की भावना का सर्वथा अभाव है, वरन् उस शक्ति को अपने अधीन करने की भावना प्रधान है जो उस जादू का लक्षण है। 'मन्त्राधीना हि देवता:' देवता मंत्र के ही अधीन हैं, इत्यादि उक्तियाँ इस प्रकार के अनुभव को धर्म से अलग करके जादू के क्षेत्र में रख देती हैं? वेदों में इस प्रकार की प्रार्थना नहीं के बराबर है। वहां तो प्रार्थना निरंतर परमेश्वर के किसी भी रूप की तरफ अर्पण की भावना है और इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि संसार के अन्य मत-मतांतरों की अपेक्षा वेदों में धर्म की भावना स्फुट होती है। परवर्ती काल में मंत्र, तंत्र, यंत्र का विस्तार होकर जादू की भावना का प्रवेश यहां भी हुआ परन्तु फरक यह है कि अन्य संस्कृतियां जादू से आगे बढ़कर धर्म की तरफ गई हैं और हमारे यहां धर्म से गिर कर हम जादू की तरफ आ गये हैं। वर्तमान काल में तरह-तरह के जादू के खेल एवं प्रकृति के ऊपर नियंत्रण को देखकर जो हम उसमें धार्मिकता की दृष्टि करते हैं वह वेदों के अज्ञान के कारण ही है। धार्मिक दृष्टि से प्रार्थना करने वाला तो एक आर्त की तरह परमेश्वर के सामने अपना हृदय वैसे ही खुला रख देता है जैसे एक पुत्र पिता के सामने। जादू वाले की दृष्टि तो यह रहती है कि मेरे मंत्र, यंत्र, तंत्र में शक्ति है एवं संसार की शक्तियों को मैं अपनी आज्ञा के अनुसार कार्य करवा सकता हूं, यदि बिना किसी न्यूनता के उनको किया जा सके। वर्तमान के कर्मकाण्ड का विस्तार बहुत कुछ इसी भावना से प्रेरित होकर के है एवं इसीलिये बहुत जोर इसी पर दिया जाता है कि किसी अंग की न्यूनता तो नहीं रह गई। असफलता का कारण अपनी प्रार्थना की कमी नहीं मानकर किसी न किसी बाह्य कर्मकाण्ड की कमी को स्वीकार किया जाता है। इससे कुछ फरक नहीं आता कि इस प्रकार का कार्य मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये करे अथवा समष्टि के लिये अथवा अपने मित्रों के लिये, सम्बन्धियों के लिये, किसी आपत्ति को दूर करने के लिये या शत्रुओं के ऊपर कोई विपत्ति डालने के लिये, प्रश्न तो मूलगत भावना का है। इसीलिये हमने इस भावना का विज्ञान के साथ सम्बन्ध बताया है

क्योंकि वैज्ञानिक भी ऐसा ही मानता है कि यदि हमको किसी भी न्यूनता से रहित होकर पदार्थों के कार्य करण भाव का ज्ञान हो गया तो हम अवश्य ही अपने मन के अनुसार उस चीज को कर सकेंगे। आज न केवल औषधि विज्ञान में यह माना जाता है कि हमने अनेक रोगों को दूर करने का उपाय निकाल लिया एवं जो बचे हुए रोग हैं, उनकी भी हम औषधि निकाल लेंगे, वरन् मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी यही माना जाता है कि हम धीरे-धीरे लोगों के मनों को सर्वथा अपने नियंत्रण में ले आयेंगे (Brain Washing), एवं प्रजनन के क्षेत्र में भी मानते हैं कि हम ऐसा नियंत्रण ले आयेंगे जैसे चाहेंगे वैसे ही प्रजा को उत्पन्न करेंगे। इस प्रकार के दृष्टिकोण में तरह-तरह की विचित्र चीजें, तरह-तरह के पदार्थों को एवं तरह-तरह की परिस्थितियों, चाहे वे अत्यंत वीभत्स और घृणित ही क्यों न हों, प्रयुक्त की जाती हैं। उन्हें कोई भी पदार्थ यदि विचित्र दिखाई देता है तो तुरंत उसका प्रयोग कर लिया जाता है। चाहे वह एक नये रंग का पत्थर हो, चाहे विचित्र शक्ल का पत्थर हो, चाहे ठण्डे पानी के प्रवाह के पास गरम पानी का स्रोत हो या और किसी भी प्रकार की विलक्षणता हो। इसके विस्तार में हमें नहीं जाना है लेकिन इसका जो मूल है, वह हमेशा याद रखना चाहिये कि इसमें किसी न किसी रीति (Ritual) का पूर्णता से प्रयोग करना है। इतना ही नहीं, यदि एक ने अंगिरा का प्रयोग किया तो दूसरा प्रत्यंगिरा का प्रयोग करेगा तो तीसरा विपरीत प्रत्यंगिरा का। इस प्रकार एक दूसरे से इन शक्तियों को लड़ाया भी जा सकता है और जो जितना ही चतुर या सबल जादूगर (Shaman or Sorcerer) होगा, वह उतना ही सफल होगा। भारतवर्ष में आज भी ईसामसीह का कोढ़ी को ठीक करना, मुर्दे को जिलाना ज्यादा सबल है या वर्तमान के किसी तथाकथित हिन्दू का भस्मी प्रकट करना, छू कर रोग दूर करना अथवा शून्य से मूर्तियों को पैदा करना ज्यादा सबल है, के आधार पर ही साधारण मानव यह निर्णय करना चाहता है कि कौनसा धर्म ज्यादा ठीक है। विचारशील तो यहां यह देखेगा कि कौन सा जादूगर ज्यादा प्रबल है। इसी कोटि में शक्तियों के गुप्त नाम का भी संकेत आ जाता है। जिसे शक्ति का जितना गुप्त नाम पता होगा, वहां उतना ही शक्ति अधिक कार्य करेगी। अत: वे लोग इन नामों को अत्यंत गुप्त रूप से रखते हैं और जब तक अति

दीर्घ काल तक कोई उनकी सेवा न कर ले तब तक उसे बताते नहीं और फिर प्रतिज्ञा दे देते हैं कि आगे किसी को नहीं बताना। इस प्रकार की जादू की व्यवस्था विकसित धर्मों में भी पाई जाती है। किसी धर्म में तावीज बांधे जाते हैं, तो किसी में अपने ऊपर एक धन का चिह्न (Cross) बनाया जाता है। परन्तु कभी न कभी इन टोटकों की निष्फलता एवं असमर्थता मनुष्य के अनुभव में आ ही जाती है। स्वयं जादूगरों के घर में ऐसी घटनायें होती हैं जो हमें सोचने को बाध्य करती हैं कि इनमें कितना तत्व है और कितना नहीं। फ़ेज़र (Frazer) ने अपने गोल्डन बाऊ (Golden Bough) में बहुत सुन्दर वर्णन करते हुए बताया है कि नेमि झील के किनारे पर कोई एक इस प्रकार का पुरोहित अपनी सोने की डाल सुरक्षित रखता था परन्तु एक दिन दूसरे व्यक्ति ने आकर के उसकी उस डाल को तोड़ दिया और उसको मार डाला। दूसरे दिन ही उसी में दिव्य शक्ति का पूर्ण प्रवेश मानकर वहां के लोगों ने उसी को अपना पुरोहित स्वीकार कर लिया और तब से उसके अनुसार चलने लगे। फ़ेज़र यह समस्या सामने रखता है कि क्या यह पुरोहित भी इसी प्रकार किसी दूसरे से नहीं मार डाला जायेगा। सभी तंत्र, मंत्र, यंत्र वाले कर्मकांडियों की यह समस्या रहती है। वे चाहे जितना भी इन सब चीजों को करते रहें लेकिन मन में हमेशा भय बना रहता है कि मेरे से प्रबल कोई न आ जाये। इस वर्णन का तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं समझना चाहिये कि ऐसा पुरोहित कोई धोखाधड़ी करता है वरन् हम यह कहना चाहते हैं कि वस्तुतस्तु वे स्वयं भी धोखे में ही पड़े हुए हैं। जब कभी मनुष्य इस बारे में असफलताओं के कारण हो या विचार के कारण हो, इस दृष्टि को पा लेते हैं कि हम उस महती शक्ति पर अपना नियंत्रण नहीं कर सकते, तब नम्र भाव से जब उसके सामने आत्मसमर्पण करता है, तब यह जादूगर सच्चा पुरोहित बन जाता है। यह एक तरह का आध्यात्मिक क्रान्ति काल है (Spiritual Crisis)। व्यवहार क्षेत्र की दृष्टि से तो यह मानना ही पड़ता है कि ये दोनों दृष्टि-कोण एक ही मनुष्य एवं एक ही समाज में एक साथ ही काल भेद से और परिस्थिति भेद से आते जाते रहते हैं। जैसे-जैसे नैतिक उन्नति एवं वैज्ञानिक प्रगति होती है, वैसे-वैसे मनुष्य का विश्व के बारे में और परमेश्वर के बारे में विचार चलता चला जाता है। कभी-कभी प्रार्थना करने वाला परमेश्वर

को धोंस भी दिखाने लगता है और खुशामद भी करने लगता है। अफ्रीका का जूलू प्रार्थना में कह उठता है कि यदि तू मेरी बात न मानकर के ऐसा ही कंजूस बना रहेगा तो तुम्हारी प्रशंसा के जितने वाक्य हैं, वे सब भूल जायेंगे और फिर क्या तू तिलचट्टे खाकर अपना जीवन व्यतीत करेगा? यह नहीं समझना चाहिये कि यह दृष्टिकोण केवल पिछड़े हुए लोगों में होता है। हमारे यहां आचार्य उदयन भी जगन्नाथ पुरी में यही कहते हैं कि यदि ऐश्वर्य मद से मत्त होकर तू मेरी अवज्ञा करेगा तो बौद्धों के खण्डन से तेरी रक्षा करने वाला कोई दूसरा मिलने वाला नहीं है। मार्टिन लूथर ने भी एक बार कहा था कि हे ईश्वर! यदि हम सब तुमसे गुस्सा हो जायें एवं तुम्हें इज्जत न दें तो तुम कैसे बने रहोगे। मूसा भी यही कहता है कि यदि इज़राइल के लोग सर्वथा हार गये तो मिस्र के लोग यही समझेंगे कि उनका ईश्वर उनकी सहायता नहीं कर सका। यह तो तब है जब ईश्वर की एकता को जानने वाले महान पुरुष परमेश्वर से कहते हैं। दैनंदिन जीवन में तो सब लोगों में किसी न किसी प्रकार की बहुदेववादिता का प्रचलन चलता ही रहता है। अतः जब हनुमान जी प्रार्थना नहीं सुनते तो भैरव जी से कहा जाता है और उनके भी न सुनने पर गणेश जी को मनाया जाता है। मान्यता यह रहती है कि हरेक देवी देवता किसी विशेष कार्य को अधिक अच्छी तरह से कर सकता है। ईसाई धर्म में देवी देवताओं का स्थान संतों ने ले रखा है। अतः पशु रोग को दूर करने के लिये संत वैंडल (Wendel) से प्रार्थना की जाती है तो गले के रोग के लिये संत ब्लेशियस (Blasius) से तो दंत रोग के लिये संत अपोलोनिया (Appolonia) से एवं आंख के रोगों के लिये संत लूसिया (Lucia) से। मुसलमानों में भिन्न-भिन्न पीर, मजार इन स्थानों को लेते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य की धार्मिक दृष्टि का विकास होता है वैसे-वैसे मनुष्य फिर सामान्य चीजों के लिये जागतिक कार्य कारण भाव जो परमेश्वर का बनाया हुआ है, उस पर विश्वास करता है और उसे लगता है कि इस प्रकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करना एक तरह की अधार्मिकता या अपवित्रता ही है। जादू की दृष्टि वाला कर्मकाण्डी इस भाव को प्राप्त नहीं कर पाता। उनके अन्दर तो यही दृष्टि बनी रहती है कि यदि हमारे लौकिक कार्यों को सिद्ध नहीं कर सकता तो फिर वह परमात्मा, परमेश्वर या ब्रह्म हमारे किस काम का। भारतीय संस्कृति में शाक्त धर्म,

श्रमण धर्म बहुत कुछ इस प्रकार के जादूवाद के प्रतिनिधि हैं। एवं शैव धर्म उस वैदिक धारा की दृष्टि को लेकर चलता है जिसमें इन शक्तियों की तरफ दृष्टि न करके परमेश्वर के सामने अपने आत्मसमर्पण पर ही जोर दिया जाता है। यह बात दूसरी है कि शक्ति के उपासकों में बहुत से शैव विचार के होते हैं और पाशुपत इत्यादि कुछ सम्प्रदाय शिव के उपासक होने पर भी शक्तियों की ही प्राप्ति में लगे रहे हैं। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से शैव और शाक्तों का यह भेद बताया है। इस प्रकार की विचारधारा संसार के सभी मानवों में पाई जाती है। अति प्राचीन यहूदी कहते हैं 'हे ईश्वर! मेरे में पवित्र हृदय पैदा करो (Create in me a clean heart)'। यूनान का सुकरात कहता है कि मेरे हृदय को मंगलमय बनाओ (Grant me to become noble of heart), प्लेटो (Plato) एक अति प्राचीन कवि का उद्धरण देते हैं जो कहता है कि हे ज्यूस (Zeus) राजा! हम प्रार्थना करें या न करें, जो मंगलमय हो, वह हमें देना और यदि हम प्रार्थना भी करें तो जो अमंगल हो, वह हमें नहीं देना। रोम का एपिक्टेटस (Epictetus) कहता है कि मेरे साथ वह करो, जो तुम करना चाहते हो (Do with me what thou wilt)। ईसा का सबसे गम्भीर वाक्य वह है जो सूली पर लटकते हुए उन्होंने कहा था कि मेरी नहीं बल्कि तेरी इच्छा पूर्ण हो (Not mine but thy will be done)। इस प्रकार प्रार्थनाओं के इतिहास में हम देखते हैं कि जैसे विज्ञान धीरे-धीरे प्रगति करता है, वैसे ही यह भी उन्नति की ओर जाता है। प्रार्थना व्यक्तिगत भी होती है और सामूहिक भी। सामूहिक प्रार्थना में व्यक्तित्व और अधिक न्यून हो जाता है एवं समष्टि का भाव अधिक प्रकट हो जाता है। यज्ञों में जो अनेक पुरोहितों का आगमन है, उसका भी मूल आधार यही है। जो जीवन के मूल्य इन प्रार्थनाओं में प्रकट होते हैं, वे एक ऐसा आंतरिक सम्बन्ध कायम करते हैं जो धर्म में संग्रथितता लाता है। यज्ञों के काल के बाद सनातन धर्म की परम्परा में यह सामूहिक प्रार्थना का भाव कम होता चला गया। इसका कारण वर्ण विभाजन में तीव्रता आना, जातियों की संख्या का बढ़ना, देवताओं की संख्याओं का बढ़ना, सम्प्रदायों की संख्या बढ़ना आदि-आदि अनेक कारण ऐतिहासिक दृष्टि से हो सकते हैं जिनका विचार यहां करना इष्ट नहीं। परन्तु इतना स्पष्ट है कि सामूहिक प्रार्थना के अभाव

में सनातन धर्म का संग्रथित रूप कम होता चला गया। वैयक्तिक जीवन में हमारा धर्म जो भी रहा हो, धर्म की सामूहिकता के ह्रास का परिणाम यह हुआ कि धर्म समाज में निर्मल सम्बन्ध(Cohesion) नहीं ला पाया। ईसाई और मुसलमान धर्म में आज भी सामूहिक प्रार्थना का दर्शन किया जा सकता है। इस प्रकार प्रार्थना न केवल व्यक्तिगत वरन् सामाजिक दृष्टि से भी आवश्यक है। साथ-साथ करने से हृदय के भावों में भी एक तीव्रता आती है एवं आसन, मुद्रा और अनादि काल से आता हुआ शब्द समूह, इन सबसे एक ऐसा स्पंद पैदा होता है जिसमें आत्मा परमात्मा से और ज्यादा गहराई से एकता को प्राप्त करता है। परन्तु यह हो तभी सकता है जब प्रार्थना करने वालों में प्रार्थना के प्रति वास्तविक भावना हो। धर्मों की विशालता में धीरे-धीरे सामूहिक प्रार्थना भी एक तरह का रिवाज मात्र हो जाता है। कोई भी संवेदनशील यह नहीं मानेगा कि ईद की नमाज में प्रत्येक मुसलमान गम्भीर संवेदन के लिये प्रवेश करता है, अथवा ईसा जन्मरात्रि की प्रार्थना में प्रत्येक ईसाई गम्भीर संवेदना के लिये जाता है। अत: वहां तो रिवाज ही प्रधान होने से स्पंदनों की एकता नहीं हो सकती और इसीलिये वह आत्मिक दृष्टि से लाभदायक नहीं होती। हमारा तात्पर्य ऐसे छोटे समूह से है जो वस्तुत: प्रार्थना की दृष्टि से एकत्रित होते हैं। परन्तु इन रिवाजों से भी एक लाभ तो होता ही है कि अनेक नैतिक निर्णय जो मनुष्य अकेला लेने में असमर्थ होता है, वह ऐसे समुदाय में ले पाता है। ईद के बाद कम से कम उस दिन के लिये तो प्रत्येक मुसलमान सचमुच अपने आप को मुसलमान भाई के साथ एक मानकर अपराधों को भूलने का प्रयत्न करता है। उतनी तीव्रता से तो नहीं, हिन्दू भी होली और दीवाली के अगले दिन जब सामूहिक रूप से एक दूसरे को मिलने जाया करते थे तब रिश्ते और दोस्तों के दुश्मनियों को भुलाकर सामाजिक दवाव में समूह के साथ एक बार तो जाकर गले मिल ही लेते थे। संघ मानस (Group Psychology) की आवश्यकता जीवन में सदा ही रहती है। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि केवल सामूहिक प्रार्थना से भी काम नहीं चलता क्योंकि जीवन के जो अति गूढ़ (Intimate) विषय हैं, वे दूसरों के साथ बाँटे नहीं जा सकते और इसलिये अपनी सामान्य भाषा में परमात्मा के प्रति प्रेम अथवा शुक्रिया अदा करने के लिये एकांत की प्रार्थना भी आवश्यक होती है। यद्यपि दोनों प्रकार के लोग होते हैं। कुछ सामाजिक

वातावरण से अधिक लाभान्वित होते हैं और कुछ व्यक्तिगत दृष्टि से, परन्तु इतना निश्चित है कि प्रार्थना जितनी ही गहरी होती जायेगी, उतना ही फिर मनुष्य एकांत में ही अधिकतर तादात्म्य अनुभव करने लगेगा। योग की भाषा में कहा जाये तो प्रार्थना के उन गम्भीर स्थलों को ध्यान कहना पड़ेगा। अंततोगत्वा प्रार्थना आत्मा में इतनी घनीभूत हो जाती है कि अपने सारे विचार और भावनायें शिव में लीन होने लगती हैं एवं उस प्रार्थना का कोई प्रयोजन अथवा उद्देश्य नहीं होता बल्कि उस प्रार्थना के बिना जीवन ही असम्भव हो जाता है। प्रार्थना के इस स्तर में पहुंचने पर किसी भी प्रकार की इच्छा, निर्णय इत्यादि शून्य हो जाने से इसमें वाक्य न रहकर केवल परमेश्वर का नाममात्र रह जाता है। इसी दृष्टि से प्रार्थना की अंतिम स्थिति सविकल्प समाधि जिसमें केवल ॐ अवशिष्ट रह जाये। सनातन धर्म जो प्रायः यह मानता है कि केवल संन्यासी को ही शुद्ध ॐ बोलने का अधिकार है, उसका भाव यही है कि जब तक हम अपनी सारी चिंतन और भावना की प्रणाली में से बाहर नहीं निकल गये हैं, तब तक केवल ॐ के उच्चारण से हमारी प्रार्थना बन नहीं पाती। अंततोगत्वा वह ॐ भी समाप्त हो जाता है और केवल परमात्मा ही परमात्मा रह जाता है। यही समाधि की स्थिति है। वहां प्रार्थना, प्रार्थना करने वाला और जिसकी प्रार्थना की जा रही है, वे सब एक ही हो जाते हैं। यह एकता अद्वितीय भक्ति की अंतिम सीढ़ी है और इसके आगे ज्ञान प्रारंभ हो जाता है। जो सूक्ष्म दृष्टि वाला नहीं है, वह तो इस भक्ति को ज्ञान का ही स्वरूप समझ लेता है। परन्तु आगे हम दिखायेंगे कि यह भक्ति ज्ञान की सीढ़ी है, ज्ञान नहीं। आचार्यपाद भगवान शंकर स्पष्ट कहते हैं **'ज्ञानकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी'** ज्ञान को उत्पन्न करने वाले साधनों में भक्ति ही उत्तम साधन है। परन्तु साथ में भक्ति का लक्षण ही करते हैं 'आत्मतत्वानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते' प्रेम पूर्वक आत्मा के स्वरूप अर्थात् परमात्मा का स्मरण करना रूपी जो प्रार्थना है, अनुसंधान है, जोड़ना है, लीन कर देना है, वही भक्ति है। इस प्रकार जिसकी भावना पूर्ण रूप से परमात्मा के साथ हो गई है, उसको तत्वमस्यादि वाक्यों के उपदेश मात्र से ही तत्व स्थिति उपलब्ध हो जाती है। यदि यह चीज प्राप्त नहीं हुई है तो ज्ञान के बाद भी साधना निष्ठा प्राप्ति के लिये अवशिष्ट रह जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तल्प प्रत्यभिज्ञा दर्शन तथा त्रिक् दर्शन के अन्य

आचार्यों ने इसी भक्ति का विस्तृत वर्णन किया है एवं इसीलिये यह भक्ति वेदांत का अत्यंत उपादेय अंग है। यहां 'अध्येषि' के द्वारा इसी भक्ति का उपदेश मांगा जा रहा है। तात्पर्य है कि आपने ज्ञान को प्राप्त कर लिया है अतः आप केवल तादात्म्य भक्ति में ही स्थित हैं। उसी का आप निरंतर स्मरण करते हैं और वही भक्ति आप मुझे सिखायें, किसी सांसारिक विषय की कामना को देने वाली द्वैत भक्ति की जो प्रार्थनायें हैं वे हमें अपेक्षित नहीं हैं। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति का जीवन समग्र समाज के जीवनों को अपने में अंतर्हित करता है, जिस प्रकार बूंद, कलल आदि अवस्थाओं से पार करता हुआ गर्भ अपने भौतिक विकास (Evolution through unicell, multicell, pisces amphibians, reptiles, mammals) को गर्भ और गर्भ के बाद भी दिखाता रहता है, उसी प्रकार प्रार्थना के सभी अंगों में से प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी स्तर में निकलता ही है, परन्तु अद्वैत निष्ठा प्राप्त होने के बाद बाकी सब प्रार्थनायें एवं रीति रिवाज उसके जीवन में कोई स्थान नहीं रख पाते। परन्तु यह प्रपंचोपशम शांत शिव अद्वितीय भक्ति तो बनी ही रहती है जिसके लिये श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं "**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते**"। इस एक भक्ति की ही प्रार्थना यहां नचिकेता कर रहा है।

यहां जिस अग्नि को बताया जा रहा है, उसे स्वर्ग्य अग्नि कहा है। अतः यह कोई सामान्य अग्नि नहीं है। मैक्समूलर ने अपनी 'अग्निजीवन कथा' (Biography & Agni) में स्पष्ट किया है कि किस प्रकार अग्नि वैदिक देवताओं में परमात्मा का उत्तम प्रतीक है। यद्यपि लैटिन में इग्निस (Ignis) शब्द, स्लवोनिक (Slavonic) में ओग्न (Ogn), एवं लिथुआनियन (Lithuanian) में उग्नि (Ugni) शब्द से आग को कहा जाता है लेकिन उनकी परम्परा में इसमें कोई देव दृष्टि नहीं है। अग्नि की व्यापकता को देखकर के वैदिक ऋषि कह उठता है कि तुम आकाश में हो, जल में हो, पत्थर में हो, लकड़ी में हो। स्पष्ट है कि यहां पर आकाश का सूर्य, बादल की बिजली, पत्थरों में चकमक, लकड़ियों में अरणि आदि सर्वत्र उस अग्नि की व्यापकता को देखा जा रहा है। इस व्यापकता के ज्ञान से ईश्वर की व्यापकता का ज्ञान होता है। अतः अग्नि की प्रतीकता स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः इसी प्रकार अनंत की पूजा जिसे अगले मंत्र में **'अनन्तलोकाप्तिम्'**

कहा सभी ईश्वर की भावनाओं का बीज है। जो-जो चीज हमें अनंत दर्शन की प्राप्ति कराती है, वही वही ईश्वर का रूप माना जा सकता है। यह बात दूसरी है कि टोटेम (Totem) फैटिश (Fetish) आदि पूजाओं में किसी भी व्यर्थ की चीजों को लेकर के पूजा का विषय बना लिया जाता है, लेकिन वहां भावना यह है कि यह कुछ न कुछ सांसारिक कल्याण करेंगे। पारमार्थिक कल्याण की भावना वहां निहित नहीं है। अतः औरतें बच्चों के गले में कोई पत्थर; शेर का नाखून, रत्ती आदि कोई भी व्यर्थ की चीजें टांगती रहती हैं। परन्तु वहां भाव यह है कि बच्चे को नजर न लगे या उसका पेट ठीक रहेगा। किसी प्रकार की आंतरिक पवित्र भावना से प्रेरित होकर यह नहीं किया जाता। प्रायः बाह्य पदार्थों के पूजन को अविचारी विदेशी विद्वान् एक जैसा ही मान लेते हैं। उसके अन्दर वर्तमान इस भाव भेद को नहीं पकड़ पाते। टाइलर (Tyler) ने तो यह माना है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के भूतकालीन भूत प्रेत का ही पुजारी है। उसका कहना है कि पहले जो महापुरुष हुए उनकी शक्तियों का अतिरंजित चित्र भविष्य काल में खिचता चला जाता है और अंत में उसी को मनुष्य देवता मानने लगता है। टाइलर से प्रभावित आर्य समाज के संस्थापक भी रहे हैं और उन्होंने भारत में शिव को एक पहाड़ी राजा, दुर्गा को पहाड़ी लड़की मानकर व्यवस्था बनाने का प्रयत्न किया है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि जब तक पहले ईश्वर की भावना पैदा नहीं होगी, तब तक हम किसी पुरुष को ईश्वर मान कैसे सकेंगे। राम और कृष्ण तभी ईश्वर हो सकते हैं जब वे विष्णु के अवतार हों और विष्णु के ईश्वरत्व को जिसने नहीं समझा वह उनमें ईश्वरत्व को कैसे समझ सकेगा। वस्तुतस्तु पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर टाइलर और दयानंद दोनों ने यह भूल की है। यद्यपि एक ने यूनान और रोम के पुराणों का अध्ययन किया था और दूसरे ने भारत के। अतः यहां पर स्वर्ग्य अग्नि के द्वारा भौतिक अग्नि को हटाकर परमात्मरूप अग्नि को कहा जा रहा है। ऋग्वेद में सर्वाधिक मंत्र इन्द्र के हैं और उसके बाद अग्नि के। ऋग्वेद का प्रथम मंत्र भी अग्नि की स्तुति में ही प्रारंभ होता है। वस्तुतः इंद्र अप्रतीक शिव का वर्णन करने वाला है एवं अग्नि प्रतीकात्मक शक्ति का क्योंकि इन्द्र इन्द्रियों का विषय नहीं। परन्तु अग्नि इन्द्रियों का विषय है। इस प्रकार ऋग्वेद में वैदिक वर्णन तो प्रतीक रहित का है एवं उससे कुछ

न्यून प्रतीक आलम्बन का। अग्नि अंधकार को दूर करती है, प्रकाश को लाती है। इसी प्रकार ज्ञान रूपी ब्रह्म अज्ञानांधकार को दूर करता है एवं सत्य प्रकाश को लाता है। अंधकार में भय लगता है, प्रकाश में मनुष्य निर्भय हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान में निर्भयता है। इन सब कारणों से गीता में भी ज्ञानाग्नि: शब्द का प्रयोग मिलता है। उपनिषदों में भी इस प्रकार के अनेक प्रयोग मिलते हैं। अत: यहां स्वर्ग्य अग्नि कहा गया है, सामान्य अग्नि नहीं अर्थात् यद्यपि अग्नि की प्रतीकरूपता है, फिर भी १२वें श्लोक में कहे हुए विशेषणों वाली अग्नि अर्थात् अग्नि रूप परमात्मा में इन सब गुणों के होने के कारण ही मैं तद्विषयक प्रश्न पूछ रहा हूं। परमेश्वर विषयक ज्ञान को प्राप्त करने के लिये मनुष्य में श्रद्धा पूर्ण रूप से होनी चाहिये। श्रद्धाहीन पुरुष कभी भी परमेश्वर के विषय को ठीक प्रकार से नहीं समझ सकता। अत: नचिकेता कहता है कि मैं श्रद्धा से पूर्ण हूं, इसलिये मुझे इसका उपदेश करें। श्रद्धा वास्तविक दृष्टि से यदि सोचा जाये तो परमेश्वर की तरफ जाने का एक प्रधान उपाय है। श्रद्धा वस्तुत: प्रेम का ही नाम है। परन्तु यह वह प्रेम है जो मनुष्य को क्रिया में ले जाता है। मनुष्य के प्रत्येक आचार और मान्यताओं के पीछे कोई एक ऐसी शक्ति होती है जो उसे क्रिया में प्रवृत्त करती है एवं उसको समझने के लिये सिद्धांतों का वर्णन करती है। इस प्रकार आचार, विश्वास, नीति और भावना इन सबकी सामूहिक शक्ति का नाम ही श्रद्धा है। मीमांसा तथा कर्मकाण्ड में यह बाहर प्रकट होती है पर मनुष्य के हृदय में ही इसका वास्तविक निवास होता है। आधारभूत दृष्टि से यह एक भाव चेतना है जिसमें अनुभूति की प्रधानता होती है। यदि मनुष्य सुन्दर से सुन्दर बात भी कह दे लेकिन उसके अंदर यह श्रद्धा, अर्थात् परमात्मा एवं अपने चारों तरफ के वातावरण के प्रति प्रेम नहीं भरा होता है, तो वह एक टेप रिकार्डर से ज्यादा कुछ नहीं है। यदि मनुष्य भविष्य-वाणी भी कर सके एवं सभी ज्ञान और रहस्य का भी उसे पता हो, सभी चीजों पर उसका विश्वास भी हो लेकिन उसमें यह श्रद्धा नहीं है तो उसका मूल्य कुछ नहीं है। यदि हम अपना सब कुछ किसी गरीब को दे देवें और किसी विश्वास के कारण अपने शरीर को चलने भी दें परन्तु यदि श्रद्धा नहीं है तो परमात्मा के मार्ग में वह भी व्यर्थ ही जाता है। मनुष्य क्या मानता है और क्या करता है इसका महत्त्व उतना नहीं है जितना कि उसकी

श्रद्धा का । श्रद्धा से जो समझा जाता है, वही हृदय में प्रविष्ट होकर के समझा जाता है । जब हम किसी चीज में अपने आपको इतना खाली कर देते हैं कि मानो हम खुद ही नहीं रह जाते, मानो हम सर्वथा समाप्त हो जाते हैं, तब उसमें जो शक्ति आती है, उसका नाम श्रद्धा है और ऐसी शून्यता में ही शिव का सिंहासन रखा जा सकता है । जिसमें यह भाव जितना अधिक होता है, वह उतना ही बड़ा शांत माना जाता है। तात्पर्य यह है कि सिद्धांतों का निर्माण बुद्धि करती है, क्रियाओं का निर्माण इन्द्रियां करती हैं। भावनाओं का निर्माण मन करता है, परन्तु व्यक्ति का निर्माण इच्छा शक्ति जो श्रद्धा के द्वारा प्रकट होती है, वही कर सकती है। इस दृष्टि से देखा जाये तो अध्यात्म विद्या की श्रद्धा का रूप है परमेश्वर पर अपने आपको पूर्ण निर्भर कर देना अर्थात् शरणागति जिसमें आनंद का एक स्वाद होता है, एक अनुभूति होती है। यह मन और वाणी से अतीत है । अत: इसको ठीक-ठीक प्रकार से प्रकट करना भी कठिन प्रतीत होता है । नचिकेता कहता है कि मेरे अन्दर यह श्रद्धा (Lowing absorption) विद्यमान है । अतः मैं आपके उपदेश का अधिकारी हूं । इसको और ज्यादा प्रकट करने के लिये ही मेरे को कहें, ऐसा न कहकर के 'मह्यम्' चतुर्थी का प्रयोग किया है क्योंकि संस्कृत भाषा की दृष्टि से कहना अर्थ वाली धातु के साथ गौण कर्म में चतुर्थी होती है, मुख्य कर्म में नहीं। अतः यहां नचिकेता यह कहना चाहता है कि आपके वचन सुनने में मैंने अपनी मान्यताओं को इतना खाली कर दिया है कि मैं और मेरा पूर्ण रूप से निकल गया है । ऐसे मुझ श्रद्धा वाले को आप उपदेश करें। उपदेश विस्तार से करें, यह कहने के लिये प्रप्रकर्षेण ब्रूहि कहा है ।

यद्यपि अमृत तत्व का निरपेक्ष अर्थ तो केवल मोक्ष में ही सम्भव होता है, परन्तु सापेक्ष अमृत तत्व तो यहां पर भी बन जाता है। वस्तुत: अज्ञान ही मृत्यु है । 'प्रमादो वै मृत्युं अह ब्रवीमि ।' आत्मा की अमरता तो नित्य सिद्ध ही है । अतः परमेश्वर के प्रेम में जब मनुष्य प्रमाद रहित हो जाता है तो वह भी एक अमृत तत्व की प्राप्ति ही है । जब हम कहते हैं कि भाव के द्वारा परमेश्वर का ग्रहण करने पर ब्रह्म निर्वाण सम्भव नहीं, तब उसका तात्पर्य वस्तुतः इतना ही होता है कि अज्ञान का विरोध ज्ञान से होता है। अत: अज्ञान नाश के लिये भावना पर्याप्त नहीं । ज्ञान हो जाने के बाद समग्र व्यवहार करने पर भी जैसे मनुष्य अपनी आत्मा को नहीं भूलता, वैसे ही यहां

पर भी विस्मृति नहीं होती। ध्यान दीपक प्रकरण में भगवान विद्यारण्य भी स्पष्ट करते हैं कि ध्यानी को सदा स्मरण रखना पड़ता है और कारण विशेष से विस्मृति भी सम्भव है। यदि इतने मात्र को छोड़ दिया जाये तो फिर ज्ञानी और ध्यानी में वास्तविक कोई भेद नहीं रह जाता। इसी दृष्टि से यहां भी समझना चाहिये। जब अमृत परमात्मा को विषय अहंग्रहोपासना के द्वारा किया जाता है तब स्वभावत: 'मैं अमृत हूँ' ऐसी भी वृत्ति बन ही जाती है और यही अमृत तत्व की प्राप्ति है। वस्तुतस्तु इस स्थिति में पहुंचे हुए को प्रतीत ही ऐसा होता है कि मेरे रोम रोम में केवल शिव ही शिव है, मेरी अपनी सत्ता कुछ भी नहीं है। इसी अवस्था को यहां नचिकेता चाह रहा है। अथवा अमृत का अर्थ देव कर लिया जाये तो इसका तात्पर्य है कि दैवी गुण जिस साधना से अपने अन्दर आ जाते हैं अथवा जिन दैवी गुणों का सेवन करके उस ज्ञान को प्राप्त किया जाता है, उस भाव का उपदेश करें। मनुष्य के जीवन में दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का संघर्ष प्रतिक्षण हो रहा है। विचारशील दैवी सम्पत्ति को बढ़ाता है और धीरे-धीरे आसुरी सम्पत्ति को नष्ट करता है। अविचारशील इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति का संवर्द्धन करता रहता है एवं दैवी सम्पत्ति उसमें से धीरे-धीरे हट जाती है। आगे जिन दैवी गुणों का वर्णन यमराज करेंगे उसमें प्रधान धीरतापूर्वक प्रेय मार्ग का त्याग, पाण्डित्य अभिमान का त्याग, प्रमाद का त्याग, वित्त एवं मोह का त्याग, नास्तिकता का त्याग, शास्त्र विरुद्ध तर्क का त्याग, अध्रुव पदार्थों का त्याग, धर्म और अधर्म का त्याग, कृत और अकृत का त्याग, भूत एवं भविष्य चिंतन का त्याग, तप, वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्य, ध्यान, परमात्मा का वरण, दुश्चरित्रों का त्याग, शान्ति, समाहितता, मानस शान्ति एवं पौन:पुन्येन ब्रह्मविज्ञान का अभ्यास, इन्द्रियों को यमन करना, मन को एकाग्र करना, पवित्र रहना, बुद्धि को सूक्ष्म बनाना, गुरु के पास जाना, जीवन में निश्चय करना, शोक को छोड़ना, प्राणायाम का अभ्यास, मनोरथों से सावधान रहना, इस जीवन में ही आत्मनिष्ठा प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहना, अप्रमाद, कामना त्याग आदि हैं। इन गुणों के आने से वास्तविक देव बन जाता है और यही सच्ची अमृत्युता है। कुछ लोग जो एक दीर्घकाल तक बने रहने को अमरता मानते हैं, वह बहुत कुछ बच्चों की सी भावना है। काल की दृष्टि से तो चट्टान न जाने कितनी

पुरानी है परन्तु क्या इतने से उसे दीर्घजीवी कहा जा सकता है। वास्तविक दृष्टि से जीवन का जो उत्थान है, उसमें जो एक पूर्णता है, वही वास्तविक अमरता है, लम्बा काल नहीं, वरन जीवन में कितनी उद्दीप्तता है, उससे किसी की अमरता का बोध हुआ करता है। आचार्य शंकर ३२ वर्ष जिये परन्तु वह अमर हैं। हम लोग उनसे दुगनी उमर तक जी चुके हैं और बहुत से तो आज भी १२० वर्ष की उमर के लोग हैं लेकिन क्या उन्हें अमर कहा जा सकता है। अत: अमरता का काल में प्रक्षेप यहाँ भाष्यकारों को इष्ट न होने के कारण ही उन्होंने अमृतत्व का अर्थ देवत्व कर दिया। जिसके जीवन में दैवी गुण आगये, वह उसी क्षण अमर हो गया। इन सब बातों को अर्थात् उपर्युक्त गुणों को ज्ञानी और ध्यानी दोनों के लिये समान रूप से पठित होने के कारण ही इन्हें उपनिषद् भर में बिखेर करके गिनाया गया है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि अद्वैत भक्ति करने वाले तथा अद्वैत ज्ञान की साधना वाले के लिये दोनों में कोई फरक नहीं। इसलिये वे दोनों ही अमृत तत्व को प्राप्त करते हैं, यह कहा जा रहा है। फरक यदि है तो इतना ही कि अद्वैत भक्त इन गुणों के लिये सदा प्रयत्नशील रहता है एवं ज्ञानी के लिये ये स्वभाव बन जाते हैं। परन्तु बाह्य जीवन में दोनों में कोई फरक नहीं रहता।

: १४ :

नचिकेता ने जो माँगा, उसको 'तथास्तु' करते हुए मृत्यु कहते हैं :—

प्र ते ब्रवीमि तत् उ मे निबोध स्वर्ग्यं अग्निं नचिकेत: प्रजानन्।
अनंतलोकाप्तिं अथ उ प्रतिष्ठां विद्धि त्वं एतं निहितं गुहायां॥

तत् = उसको
ते = तुझे
प्र = भली प्रकार से
ब्रवीमि = बताता हूं;
उ = तथा
प्रजानन् = प्रज्ञा करते हुए
नचिकेत: = नचिकेता
मे = मेरे से

स्वर्ग्यम् = स्वर्ग देने वाली
अग्निं = अग्नि को
निबोध = समझ।
अथ = और
उ = भी
अनंतलोकाप्तिं = अनंत लोक को प्राप्त कराने वाली को,
प्रतिष्ठां = प्रतिष्ठा को,

गुहायां = गुहा में
निहितं = छिपी हुई को,
एतं = इस (अग्नि) को
त्वं = तुम
विद्धि = जानो ।

मृत्यु कहते हैं कि जो स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली अग्नि है, उसे मैं तुम्हें समझाकर कहूंगा । समझने के लिये प्रज्ञा की आवश्यकता होती है । जिसमें प्रज्ञा नहीं होती, वह परमेश्वर की साधना में निपुण नहीं हो सकता । सभी प्राणियों में किसी न किसी विषय की प्रज्ञा होती ही है परन्तु प्राय: जिस चीज में मनुष्य की रुचि होती है, उसी में वह अपनी प्रज्ञा को लगाता है । अत: मृत्यु का कहना यह है कि तुम इस विषय में अपनी प्रज्ञा को काम में लाना । अन्यत्र भी कृष्ण यजुर्वेद कहता है 'सहवीर्यं करवावहै' अर्थात् गुरु और शिष्य साथ-साथ जब पूरी ताकत लगाते हैं तभी परमेश्वर विषयक ज्ञान की सम्भावना हो सकती है । आचार्य वसिष्ठ तो यहाँ तक कहते हैं कि आत्मज्ञान के प्रति शिष्य प्रज्ञा ही वास्तविक कारण है । अत: मृत्यु का तात्पर्य है कि तुम यह प्रज्ञा का वीर्य साथ ही साथ करो । गुरु तो सभी को एक ही उपदेश देता है, श्रुति भी मानव-मात्र को उपलब्ध है । परन्तु शिष्य प्रज्ञा के वीर्य भेद से ही किसी में ज्ञान की उत्तम भूमिकायें आरूढ़ हो जाती हैं, किसी में ज्ञान का आभास और किसी में विपरीत ज्ञान का आधान होता है । मृत्यु का कहना है कि मेरा उपदेश इस प्रकार व्यर्थ न जाये, अत: तुम अपनी प्रज्ञा को इधर लगाओ । 'प्रज्ञानेन एनं आप्नुयात्' कहकर आगे स्वयं इसे स्पष्ट करेंगे । अन्यत्र भी प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः (बृहदारण्यक उपनिषद्) 'प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्यम्' (कौषीतकि) आदि में स्पष्ट ही प्रज्ञा की प्रधानता का प्रतिपादन किया गया है । किसी-किसी ने तो प्रजानन् को यम के साथ लगाने का प्रयत्न किया है अर्थात् यम कहते हैं कि चूंकि मैं जानने वाला हूं, अत: तेरे को उपदेश देता हूं । परन्तु यह अर्थ एक तो दूर अन्वय दोष से युक्त है तथा मृत्यु का अपने लिये प्रजानन् कहना व्यर्थ भी है । प्रब्रवीमि कहने के पहले वाक्य शेष में प्रजानन् कहना एक तरह से वाक्य भेद रूपी दोष भी है । आगे मृत्यु का कहना है कि मैं जो तेरे से कहता हूं, उसको निबोध अर्थात् नितरां-अच्छी तरह से बोध अर्थात् समझो । प्रज्ञा साधन है और बुद्धि फल, यह इन दोनों में सम्बन्ध

समझना चाहिये। किसी चीज को ऊपर-ऊपर से जानना ज्ञान कहा जाता है एवं उसके अंदर प्रविष्ट होकर सर्वरूप से जानना बोध अर्थात् समझ कही जाती है। अतः मृत्यु का कहना है कि तुम केवल मेरे शब्दों पर ध्यान न देना क्योंकि परमार्थ विषयक बातों में शब्द एक अत्यंत ही कमजोर साधन होता है। शब्दों के अंदर के भाव को समझने का प्रयत्न करना और जब तक वे तुम्हारे अंदर समझ रूप से न उतर जायें तब तक केवल मन से उनका जानने का प्रयत्न सफल होने पर मुझे बोध हो गया न मानना। ईसाइयों के संत पाल एक जगह कहते हैं कि प्रेम से समझ उत्पन्न होती है। अथर्ववेद कहता है कि हृदय और मस्तिष्क दोनों को जब एक में सी दिया जाता है, तब समझ आती है। यह युग बुद्धि का युग है। नतीजा यह हो गया है कि बुद्धि से जब चीज जान ली जाती है तो मनुष्य में एक ज्ञान आभास उत्पन्न हो जाता है। और वह मानता है कि मैंने समझ लिया। परन्तु यदि वास्तविक समझ आ गई होती तो समग्र जीवन परिवर्तित हो जाता। अतः इस बुद्धिवादी युग (Rational Age) के विरोध में वर्तमान काल में एक नवीन धारा प्रवृत्त हो रही है जो उसकी बुद्धि अग्राह्यता के ऊपर जोर देते हुए बुद्धि विरोधी ही सत्य तत्व हुआ करता है, कुछ ऐसा भाव पैदा कर रही है। वास्तविकता तो यह है कि तत्व कभी भी बुद्धि विरोधी नहीं हो सकता। यद्यपि बुद्धिगम्य वह न हो यह बात दूसरी है। जिस प्रकार कान के द्वारा शब्द सुना जाता है और नाक के द्वारा गंध सूंघी जा सकती है। कान का अविषय गंध है परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि गंध उसकी विरोधी हो सकती है। यदि कोई कहता है कि यह चंदन है और नाक से लहसुन की गंध आती है तो विरोध का परिहार करना इष्ट हो जाता है। या तो चंदन सड़ा है या कहने वाले की भाषा में लहसुन का मतलब चंदन होता है। इसी प्रकार बुद्धिगम्य न होने पर भी यदि तत्व में बुद्धि विरोधिता आ जायेगी तो सामंजस्य करना आवश्यक हो जायगा। अतः आचार्य शंकर का बार बार जो प्रयत्न अद्वैत को युक्ति अनुसारी सिद्ध करने का है, वह यह कहने को नहीं है कि उसको युक्ति से प्राप्त किया जा सकता है, वरन् यह सिद्ध करने में कि उसका युक्ति से विरोध नहीं है। कुछ कर्मकाण्डी एवं पौराणिक भी तरह-तरह की असंबद्ध कल्पनाओं को बुद्धि अतीतता के नाम से सम्पन्न करते रहते हैं जो वेदांती कभी स्वीकार नहीं कर सकता। अतः वेदांत की दृष्टि में बुद्धि से अगम्य

तत्व भी बुद्धि से विरोधी नहीं होता। यह बात दूसरी है कि जो कुछ भी बुद्धि से अविरुद्ध हो वह सत्य तत्व हो, यह आवश्यक नहीं है। सत्यता का निर्णय तो अनुभूति ही करेगी। परन्तु बुद्धि के द्वारा उसकी संगति लगाना आवश्यक अवश्य है। इसी बात को प्रज्ञा और निबोध शब्दों से यहां बताया जा रहा है। किंच, बुध्यस्व के पूर्व आया हुआ 'नितरां' पद इस बात को बताता है कि मन की एकाग्रता हुए बिना बोध असम्भव होता है। यद्यपि ज्ञान तो वचन से ही होगा क्योंकि प्रमाणों के अंतर्गत शब्द को गिना गया है, चित्त की एकाग्रता को नहीं। परन्तु एकाग्र चित्त वह सहकारी कारण है जिससे ज्ञान सम्भव होता है। यहाँ नि के द्वारा इस एकाग्र मन का ही निर्देश किया गया है। प्रज्ञा, शब्द एवं एकाग्र मन इन तीनों की एकता से बोध अर्थात् समझ उत्पन्न होती है, यह भाव है। आगे यमराज कहते हैं कि यह अग्नि स्वर्ग्यं है। **'स्वर्गाय हितं''** ऐसा भाष्यकारों ने स्वर्ग्यं का अर्थ किया है। तात्पर्य है कि स्वर्ग के लिये जो हितकारी हो, जैसा पहले बता आये हैं। स्वर्ग्यं का **अर्थ** सगुण परमात्मा की प्राप्ति है। सगुण परमात्मा की प्राप्ति सगुण परमात्मा के ज्ञान से ही सम्भव है। इसीलिये उसे यहां स्वर्ग्यं कहा गया। अथवा **स्वर्गसाधनं** जैसा पूर्व मंत्र में अर्थ किया था, वैसा ही यहां भी समझना चाहिये। भाष्य में प्रज्ञा को विज्ञान कहकर स्पष्ट ही अनुभवपूर्वक ज्ञान अर्थ कर दिया है। जैसा कि गीता में **'ज्ञानं विज्ञानसहितं'** इत्यादि स्थलों में पाया जाता है। ब्रवीमि में प्र और बोध में नि इन दो प्रत्ययों द्वारा शिष्य बुद्धि का समाधान किया जा रहा है अर्थात् मैं अच्छी प्रकार कहूंगा और तब तक कहूंगा जब तक तुम्हारी समझ में न आ जाये। अतः तुम निश्चित होकर अपने चित्त को अन्य विषयों से हटाकर इस एक विषय में ही लगाओ, यह भाव है। प्रायः उपदेश के समय शिष्य के मन में यह लगा रहता है कि किसी अंग प्रत्यंग का उपदेश शायद जल्दी में गुरु न करें अथवा उपदेश करने पर यदि मेरी समझ में नहीं आये तो क्रोध वाली उपेक्षा हो जायेगी। यही चित्त के एकाग्र न होने में कारण होता है। अतः मृत्यु कह रही है कि ये दोनों न्यूनतायें यहां होने वाली नहीं हैं।

संसार के पदार्थ देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्न होने से इनके लोक अर्थात् अनुभव का अंत हो जाता है। अतः वे अंतलोक हुए। सगुण परमात्मा में देश, काल आदि का परिच्छेद नहीं होने से उनका

अनुभव अनंतलोक कहा गया है। अथवा लोक का अर्थ कर्मफल भी होता है। सामान्य अंत वाले कर्मों से जो फल प्राप्त होता है, वह अंतलोक हुआ। अनंत परमात्मा की उपासना से जो फल प्राप्त होता है वह अनंतलोक कहा जायेगा। अन्य सब कर्म उपासनाओं से परमेश्वर की उपासना अलग है, यह बताने के लिये यह पद दिया गया। स्वर्ग्य पद में सुख पर जोर था और अनंत में व्यापकता पर। अतः जिस प्रकार छांदोग्य उपनिषद् में **'ओम् कं ब्रह्म ओम् खं ब्रह्म'** कहकर जैसे क से सुख और ख से आकाश या व्यापक कहा है, वैसे ही यहां पर भी स्वर्ग्य और अनंत पद से कहा गया समझना चाहिये। परमेश्वर के ये दोनों ही भाव आवश्यक होते हैं। सत् और चित् रूप तो सदा ही सब प्राणियों को उपलब्ध हैं। आनंद और अनंत ही ढके हुए हैं। अतः आनंद और अनंत की प्रतीति से ही परमात्मा की प्रतीति मानी जा सकती है। इसी अग्नि रूप परमेश्वर को आगे जगत की प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय बताते हैं। तात्पर्य है कि जगत इसी में स्थित है। जैसे पहले भी बता आये हैं 'स त्रेधा आत्मानं व्यकुरुत' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अग्नि, वायु और आदित्य रूप से बंटा हुआ समष्टि रूप विराट् ही सारा जगत है। अतः वही जगत काल में भी सब पदार्थों में स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। विराट् रूप से ही अग्नि को जगत की प्रतिष्ठा समझनी चाहिये और उस रूप से ही यहां सगुण ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में तो तेज अर्थात् अग्नि से ही उत्पत्ति को बताया है। तेज से जल, जल से पृथ्वी। आकाश और वायु की उत्पत्ति वहाँ नहीं बताई है। इसीलिये अनेक आचार्यों ने त्रिवृत्करण सिद्ध किया है। इस दृष्टि से यदि देखा जाये तब तो छांदोग्य उपनिषद् में कहे हुये उत्पत्ति प्रकरण से जगत की प्रतिष्ठा अग्नि बुद्धि ही सिद्ध हो जाती है। अतः विवेकी की दृष्टि में तो गुणोपसंहार न्याय से यहां उसी का संग्रह कर लेना चाहिये। कठ संहिता कृष्ण यजुर्वेद की है एवं तैत्तिरीय भी कृष्ण यजुर्वेद का है। इसलिये यदि तैत्तिरीय में कही हुई आकाश से उत्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार की जाये तो पूर्वोक्त विराट् से व्यवस्था बना लेनी चाहिये। सर्वज्ञ शंकर तो इस विषय में केवल 'विराट्रूपेण तमेतं अग्निं' कहकर दोनों ही व्यवस्थाओं के विकल्प को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं।

विराट् रूप से अथवा भौतिक रूप से अग्नि की उपासना बताने पर

प्रतीक उपासना अथवा द्वितीय भाव की उपासना प्राप्त हो जाती है। परन्तु परमेश्वर की उपासना अहंग्रह रूप से ही हो सकती है। अतः श्रुति स्पष्ट कहती है 'गुहायां' अर्थात् बुद्धि में निहित अर्थात् स्थित है। तात्पर्य है कि परमेश्वर चेतन रूप होने से एवं बुद्धि की अहं वृत्ति में ही चेतन का स्पष्टतः भान होने से बिना अहं से एक किये हुए परमेश्वर में चेतन का आधान असम्भव है। अहं की वृत्ति से अन्यत्र जहां कहीं भी उसका ध्यान करने का प्रयत्न किया जायेगा वहां वह जड़ ही रह पायेगा। अतः यहां साक्षात् परमात्मा की उपासना बताई जा रही है और वह बुद्धि गुहा में ही सम्भव है। प्रथम सोपान में यदि अहंग्रहोपासना न भी सम्भव हो तो भी अंतःकरण की वृत्ति में परमात्मा का चिंतन सम्भव हो सकता है। वह वृत्ति चाहे विराट् रूप को विषय करे अथवा ज्योति रूप को। वहां भी चूंकि पदार्थों की बाह्यता न्यूनतर है, अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस ज्योति को हम देख रहे हैं वह केवल बुद्धि की वृत्ति रूप है एवं चूंकि बुद्धि चेतन रूप है, अतः वह ज्योति भी चेतन रूप है। परन्तु इससे अतिरिक्त यदि मन का विषय बनाकर के उपासना की जायेगी तो वह किसी देवता की उपासना हो सकती है जो कि तुच्छ फल देने वाली होती है। इसी दृष्टि से भगवान वेद व्यास ने 'न प्रतीके हि सः' कहकर स्पष्ट बता दिया है कि प्रतीक में परमात्मा की उपासना सम्भव नहीं है। यद्यपि आजकल पौराणिक एवं स्मार्त धर्म की प्रधानता से लोग मूर्तिपूजा को परमेश्वर की उपासना समझ बैठते हैं, परन्तु यह केवल जिनकी बुद्धि अत्यल्प है उनको समझाने का तरीकामात्र है। शिव लिंगोपासना इसीलिये श्रेष्ठ मानी जाती है कि उसमें किसी भी प्रकार की आकृति का अभाव होने से विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड की अनुवृत्ति सहज रूप से होती है। परन्तु जिसकी शिवलिंग में भी चेहरा इत्यादि देखने की प्रवृत्ति हो वह फिर सर्वथा प्रतीकोपासना ही बन जाती है। यह सत्य है कि अधिकतर मानव परमेश्वर को भी एक महामानव के रूप में ही देखना चाहते हैं। यही कारण है कि किसी न किसी प्रकार से मानवीय भाव एवं मानवीय कृत्यों से हम परमेश्वर को सम्बद्ध कर देते हैं। साधना के प्रारंभ में यह उपादेय भी हो सकता है परन्तु इसमें अत्यधिक चले जाने से परमेश्वर बुद्धि भी हट जाती है। वैष्णवों में वात्सल्य, सख्य, माधुर्य आदि भावों में यह मानवीयता अत्यधिक

हो जाने से एवं भक्ति साहित्य को पढ़ने पर यही प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, वे तो यह भी मानते हैं कि ऐश्वर्य भाव की निवृत्ति हो जाने पर ही ईश्वर के प्रति वास्तविक प्रेम का उदय होता है। ये सभी वैदिक परम्परा एवं अनुभवों के विरुद्ध है। श्रुति तो 'शांत उपासीत' ही कहती है। अतः यहां भी अहंग्रहोपासना का ही ग्रहण समझना चाहिये। किसी मानवीय आकृति का भाव नहीं। सर्वज्ञ शंकर तो निशितं का अर्थ निविष्टं करते हैं। उनका भाव है कि वह वहां पर सदा ही प्रविष्ट रहता है परन्तु सामान्य आदमी उसे जानते नहीं। अतः गुहायां का अर्थ भी वह विदुषां बुद्धौ अर्थात् जानने वाली या उपासक्त बुद्धि में ही उसकी प्रतीति होने से वहीं उसको साक्षात् अनुभव किया जा सकता है। जैसे घर के अंदर के कमरे में बैठे हुए व्यक्ति को घर में निविष्ट कहते हैं। बाहर वाले व्यक्ति को उसकी प्रतीति नहीं होती। उसी प्रकार गुरु शास्त्र के उपदेश से रहित चित्त की एकाग्रता वाले को अज्ञान के द्वारा आवृत होने से हृदय गुफा में परमात्मा का भान न होना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि गुरुशास्त्र से उपदेश प्राप्त करके एकाग्र वृत्ति वाले का वहां अनुभव स्पष्ट है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि अविद्वानों की बुद्धि में वह है नहीं। इस प्रकार इस मंत्र में मृत्यु ने उस अग्नि के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसकी प्राप्ति के साधन का भी संकेत कर दिया है।

: १५ :

मृत्यु एवं नचिकेता के वाक्यों को छोड़कर अब श्रुति स्वयं अपनी तरफ से बताती है:—

लोकादिम् अग्निं तं उवाच तस्मै याः इष्टकाः यावतीः वा यथा वा।
सः च अपि तत् प्रति अवदत् यथा उक्तम् अथ अस्य मृत्युः पुनः
एव आह तुष्टः ॥

तं = उस	यावतीः = जितनी
लोकादि = विश्व के आदि	वा = और
अग्निं = अग्नि को	यथा = जिस प्रकार से
याः = जिन	इष्टकाः = इष्टकाओं को
वा = और	तस्मै = उसे

उवाच = बताया ।	अवदत् = कहा ।
च = और	अथ = तब
सः = उसने (नचिकेता ने)	अस्य = उससे
अपि = भी	तुष्टः = संतुष्ट हुआ
यथा = जैसा	एव = ही
उक्तं = कहा गया था	मृत्युः = मृत्यु
तत् = वैसा	पुनः = फिर से
प्रति = फिर से	आह = बोला ।

यहां समग्र विस्तार अग्नि ज्ञान चयन प्रकरण से समझ लेना चाहिये एवं उसका विस्तार यहां नहीं किया गया है, यह श्रुति का तात्पर्य है। **'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदि कर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत'** इत्यादि मनु स्मृति के अनुसार समग्र लोगों के पहले विराट् का ही शरीर बनता है एवं वही पुरुष कहा जाता है। तथा सभी जड़ चेतन जगत को सबसे पहले वही बनाता है। अतः उसे यहां लोकादिम् कहा और उसका चयन करने में जितनी ईंटें और जिस प्रकार ईंटें लगानी पड़ती हैं, उन सबका भी उपदेश किया गया। तथा उन ईंटों का चयन करने में जिन मंत्रों का प्रयोग किया जाता है, वह सब भी बताया गया। केवल एक बार सुनकर के ही नचिकेता का अंतःकरण इतना शुद्ध था कि उसने उन चीजों को ठीक-ठीक समझ लिया और पुनः सुना दिया जिससे यह निश्चय हो जाये कि उसकी समझ ठीक है। जब तक शिष्य गुरु को अपनी भाषा में यह नहीं बता दे कि उसने क्या समझा है, तब तक गुरु को संतोष नहीं हो सकता कि शिष्य ने ठीक समझा है, यह बताना यहां श्रुति का तात्पर्य है। इस प्रकरण से यह विधि प्रतीत होती है कि जब तक शिष्य ठीक-ठीक प्रकार से न समझ ले एवं उसके शब्द या भावभंगिमा, अथवा क्रियायें गुरु को यह निश्चय न करा दें कि उसने ठीक समझा है तब तक उपदेश का कार्य समाप्त नहीं हुआ करता। एक बार के उपदेश से ही शिष्य में इस प्रकार की समझ देखकर मृत्यु अत्यन्त हृष्ट हो गये एवं प्रसन्न होकर के वह और भी एक वर देने को तैयार हो गये जो आगे के मंत्र में बताया जायेगा।

यद्यपि इष्टका का अर्थ सीधा ईंटें होता ही है परन्तु विचार करने से पता लगता है कि श्रुति यहां तात्विक इष्टकाओं का वर्णन कर रही है। इष्

का अर्थ इच्छा एवं जिसकी इच्छा की जाये अर्थात् इच्छा वाला इष्ट कहा जाता है। स्वार्थ में कप् प्रत्यय समझ लेना चाहिये। तब तात्पर्य होगा कि इष्टक अर्थात् इष्ट एवं स्त्रीलिंग वाचक 'आ' यह बताने के लिये है कि वह इष्ट पदार्थ के तनु अथवा शक्ति को बताता है। अथवा वेदांत दृष्टि से विचार करने पर केवल शान्त अद्वितीय शिव ही एकमात्र इष्ट है। परन्तु उपासना में बिना उपाधि के गति सम्भव न होने के कारण उस इष्ट को जितने अंशों में अल्प कर लिया जाता है, उसको बताने के लिये अल्पार्थक क प्रत्यय है। तात्पर्य है कि निरुपाधिक को उपासना के लिये सोपाधिक बनाना ही उसे अल्प करना है। चूंकि सारी ही उपाधियां माया का ही कार्य हैं, अतः उनमें माया रूपता स्वाभाविक होने से 'आ' प्रत्यय किया गया। हर हालत में इष्टका का अर्थ हो गया किसी न किसी उपाधि के द्वारा उस निरुपाधिक का चिंतन। उस लोक अर्थात् जगत के अभिन्न निमित्तोपादान कारण शिव का इसी के द्वारा चयन किया जाता है यह तात्पर्य है। या इष्टका का मतलब है कि उस इष्ट के जो स्वरूप हो सकते हैं, एवं यावती का मतलब है, उसकी संख्या अथवा जहां तक उस उपाधि की सीमा है, उसको समझना, एवं यथा का अर्थ है जिस प्रकार से उसका चिंतन किया जाये। तात्पर्य यह हुआ कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न वासना-भेदों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की उपाधियों में प्रवृत्तियां होती हैं एवं एक उपाधि में भी अनेक प्रकार के ध्यान सम्भव हो जाते हैं। प्रत्येक ध्यान के प्रति कोई न कोई प्रकार इतिकर्त्तव्यता रूप से रहता है। जैसे औषधि खाने के लिये कौन सी औषधि, कितनी मात्रा में उपाधि और किस अनुपान के साथ औषधि ली जाये, यह सब अपेक्षित होता है, वह सब यहां समझना चाहिये। अथवा औषधि के साथ जो पदार्थ लिया जाता है, उसका ज्ञान यहां समझ लेना चाहिये। परमेश्वर की प्रत्येक उपाधि की उपासना के लिये कुछ विशेष नियम होते हैं, उनका ज्ञान आवश्यक है, उसके बिना की हुई उपासना पूरी तरह से फल दे नहीं पाती। वस्तुतः प्रत्येक मानव में पहले तो अंतःकरण के पंच महाभूतों के परिमाण भेद से जो भेद आता है, उसको निमित्त बनाकर उपासना का विचार होता है। कुछ लोग स्वभाव से शब्दरूपी उपासना की तरफ अधिक आकृष्ट होते हैं एवं कुछ दृश्यता की तरफ। पुनः वासनाओं का भेद हो जाने से शब्द में भी किसी को तीव्र शब्द के प्रति

आसक्ति हो जाती है, किसी को मंद के प्रति एवं रूप में भी किसी को स्थूल प्रकाश की तरफ प्रवृत्ति होती है, किसी को तीव्र प्रकाश की तरफ। उपनिषदों में जो अनेक उपासनाओं का वर्णन है, उन सबका मूल कारण यही भेद है। इसी भेद को यहां ध्वनित किया जा रहा है। तात्पर्य है कि नचिकेता को अपेक्षित सभी इष्ट ध्यान बता दिये गये, उनके प्रकार बता दिये गये, एवं किस प्रकार किये जायें और उन उपासनाओं के लिये किन-किन साधनों को पूरी तरह से किया जाये, यह सब बता दिया। यद्यपि अग्नि चयन प्रकरण के अन्दर ये सारे विषय कुण्ड बनाने के तरीके से बताये हैं लेकिन वहां पर भी कुंड बुद्धिगुहा का ही प्रतीक है। किंच, यहां तो श्रुति ने निहितं गुहायां के तुरंत बाद में ही इष्टका इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके स्पष्ट ही बता दिया है कि यहां किसी बाह्य कर्म को लेकर के अग्नि संस्थापन बताना उद्देश्य नहीं है। भाष्य में जो चेतव्य अथवा चीयते शब्द का प्रयोग है, वह भी इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकरणों में पड़ी हुई उपासनाओं को गुणोपसंहार न्याय से एकत्र करने की दृष्टि से कहा गया है। यहां केवल सुन करके नचिकेता ने दोहरा दिया, ऐसा भाव न समझ करके उन उपासनाओं के कारण उसका चित्त सर्वथा स्थिर हो गया, यह भाव समझना चाहिये, एव चित्त की स्थिरता में उसने जो अनुभव किया, उसे मृत्यु को सुनाया जिससे यह पता लगे कि उसका अनुभव ठीक है या नहीं। यहां यह स्मर्तव्य है कि यम ने उसे दोहराने के लिये नहीं कहा था। अतः नचिकेता का अपनी तरफ से कहना यह बताता है कि शिष्य को जब ध्यान आदि में किसी भी अनुभूति की प्राप्ति हो तो गुरु को अवश्य निवेदित करनी चाहिये क्योंकि तभी उसे उसके अनुभव की कमियों या पूर्णता को बतायेंगे। यदि न्यूनता होगी तो दूर करने के लिये साधनों का उपाय बतायेंगे एवं यदि पूर्णता होगी तो उसके आगे के साधन क्रम का निरूपण करेंगे। आत्मज्ञान की समाप्ति में तो नातः परं वेदितव्यं अस्ति इत्यादि वाक्यों के द्वारा यह कह देंगे कि इसके परे और कुछ बचा नहीं है। नचिकेता ने केवल सुनने मात्र से कहा, ऐसा कुछ निर्देश श्रुति में नहीं है और न ऐसा कहा ही गया है कि उसी समय उसने सारे का सारा वापिस सुना दिया। यद्यपि कथानक को रुचिकर बनाने के लिये कुछ इस प्रकार का वर्णन पुराणों में किया गया है परन्तु श्रुति और भाष्य में एक बार ही सुनकर के कहा, ऐसा

न कहकर यही बताया है कि उसने इसका दीर्घ काल तक अभ्यास करके जब अनुभव कर लिया तब उस अनुभव से ही यम प्रसन्न हुए। सर्वज्ञ शंकर तो कहते भी हैं 'यथावत् प्रत्ययेन अवदत्' अर्थात् जैसा कहा गया था, वैसा स्वयं अनुभव करके अनुभव बल से कहा। इस दृष्टि से अधिक वरदान जो दिया गया है, वह एक बार सुनने के कारण नहीं वरन् ठीक प्रकार से सिद्ध हो जाने के कारण। स्वाभाविक है कि जो भी विद्या किसी को पढ़ाई जाये यदि वह उसे समधिगत हो जाती है तो पढ़ाने वाले को अतीव प्रसन्नता होती है क्योंकि प्राथः लोग या चीज को गलत अनुमव करते हैं या अनुभव करते ही नहीं, या पूरा प्रयास भी नहीं करते।

सोपाधिक उपासना के लिये सबसे पहले वैराग्य अथवा विवेकपूर्ण अनासक्ति तथा तितिक्षा आवश्यक होती है। इसके द्वारा भूमि तैयार हो जाती है और बाहर की दुनिया के साथ एक प्रकार की दीवार घिर जाती है जहां संसार की भावनाओं का प्रवेश न हो सके। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि यह वैराग्य केवल अभावात्मक नहीं है बल्कि एकाग्रता का साधक है। एक प्रकार इच्छापूर्वक निर्णय है कि मैं परमेश्वर को ही दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्व देता हूं। इससे जीव की जितनी भी अन्य पदार्थों के द्वारा आकर्षण प्रयुक्त विक्षेप की सम्भावना होती है, वह हट जाती है। जब तक हमारे सभी वासनामय पशु कट नहीं जाते तब तक शिव का वहां प्रवेश नहीं हो पाता। उसके बाद वास्तविक ध्यान प्रारंभ हो पाता है। जब तितिक्षा के द्वारा हमारा अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब अगला कदम आ पाता है। इसमें मन, आंख और कान बाह्य सभी चीजों से दूर होकर हृदय की गुहा के अन्दर देखना प्रारंभ करते हैं। परमात्मा सम्बन्धी किसी एक गुण जिसका आधार किसी एक मंत्र को बताया जाता है, उसी के ऊपर बार-बार चित्त को एकाग्र किया जाता है, अर्थ के ऊपर सोचा जाता है एवं समग्र प्राणों से उसको अनुभूत किया जाता है। इस स्थिति में शिव की प्रत्यक्षता जीव को अत्यंत नजदीक से अनुभव होती है। शिव के साथ हम पूरी वार्ता कर सकते हैं। प्रार्थना कर सकते हैं, शिकायत कर सकते हैं एव उनके साथ आनंद कर सकते हैं। परन्तु अभी तक अपने अहं या बुद्धि का नाश नहीं हुआ है। केवल शिव की एकाग्रता के प्रति पूर्ण रूप से चित्त का प्रवाह प्रारंभ हो गया है। यह अत्यधिक परिश्रम का काल है। बार बार मन पुनः अशिव की तरफ जाता है और

आध्यात्मिक रेगिस्तान की प्रतीति होने लगती है। यदि काफी समय तक ऐसे आध्यात्मिक रेगिस्तान की प्रतीति होने लगे तो फिर या तो किसी ऐसे कार्यों में रत हो जाना चाहिये जो लोकोपकार के होवें अथवा दूसरे सतीर्थ्यों के साथ पठन-पाठन एवं शिव वार्ता में लग जाना चाहिये। फिर थोड़े समय के बाद पुन: ध्यान का अभ्यास प्रारंभ कर देना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करते-करते हृदय के ऊपर शिव अपनी कृपा करके अपना अधिकार कर लेते हैं जिसका चिह्न यह होता है कि हमारे सारे विचार शनै: शनै: शिवमय हो जाते हैं और स्वयं विचार समाप्त होकर के एक आंतरिक दिव्य अनुभूति प्रारंभ हो जाती है। इसके बाद वह सीढ़ी आती है जिसमें शान्ति प्रधान हो जाती है। ध्यान तो अब स्वभाव ही हो गया होता है। परन्तु अब शिव की उपस्थिति पूरी तरह से बिना विक्षेप के होती रहती है और जीव हमेशा शिव की प्रत्येक आज्ञा की तरफ अपनी नजर रखे रखता है। यहां शिव के साथ तादात्म्य तो नहीं है परन्तु ऐकात्म्य अवश्य है (Communion though not union)। जीव का अनुभव यह होता है कि यह स्थिति उसने अपने प्रयत्न से प्राप्त नहीं की है वरन् शिव कृपा का ही फल है। आगे चलकर के अस्ति रूप से ग्रहण का वर्णन स्वयं इस उपनिषद् में किया जायेगा, वही यह स्थिति है। परन्तु इसमें मनुष्य को ऐसे ऐसे दिव्य ज्ञानों का अनुभव होने लगता है जो सामान्य बुद्धि से कभी भी सम्भव नहीं। अनेक बार जिन लोगों को संस्कृत भाषा का ज्ञान भी नहीं होता है वे वेद के मंत्रों का अर्थ भी अपने आप समझ लेते हैं। इसी प्रकार जो अपना अनुभव नहीं है वह भी दूसरे व्यक्ति को देखकर के पता लगने लग जाता है। इन्हें किसी प्रकार सिद्धि वाली क्रिया नहीं समझनी चाहिये। परन्तु यह एक प्रकार का दिव्य अनुभव है। जिस प्रकार अर्जुन विराट् रूप के अन्दर सभी प्रकार की चीजों को देखने लग गया था। मानो सारा संसार ही उसके लिये हस्तामलकवत् हो गया है। इसके बाद तादात्म्य की अवस्था प्रारंभ होती है। विक्षेप तो अब असम्भव ही है। जीव प्रेम के द्वारा पूर्ण तरह से आत्मसमर्पित हो चुका है। इच्छा शक्ति भी प्रेम की पूर्णता के कारण मन, बुद्धि की दीवारों को खतम करके उस स्थिति में पहुंच गई है जिसको न वह और न उसकी बुद्धि समझ ही सकती है और न कह ही सकती है कि कैसे और किसको वह प्रेम करती है। सामान्य मानव प्रतिज्ञायें समाप्त हो जाती हैं और यहां तक कि होश भी प्राय: नहीं रहता

कि सांस चल रही है या नहीं अथवा मैं जीवित भी हूं या नहीं। इस अवस्था में भी मनुष्य निष्क्रिय हो जाता है, यह बात नहीं है। उसका अध्ययन, अध्यापन, ध्यान, पूजन अथवा अन्य लोगों की सहायता इत्यादि के कार्य चलते ही रहते हैं। परन्तु उसके अन्दर की आंख सिवाय परमेश्वर के प्रेम के और किसी चीज को अपनी चेतना में नहीं लाती। शिव के साथ तादात्म्य मानो उसमें प्रविष्ट हो गया है। यहां शिव से तादात्म्य तो हो गया है परन्तु अभी उस तादात्म्य का स्पष्ट अनुभव नहीं है। परन्तु विश्व से सर्वथा अलग हो गया है, इसका तो अनुभव है ही। इसके आगे की अवस्था में मनुष्य एक तरह की पूर्णता का अनुभव करने लगता है और उसे प्रतीत होता है मानो उसका आपा सर्वथा खो गया है और शिव ने कृपा करके उसके प्रत्येक भाव, यहां तक कि शरीर की प्रत्येक क्रियाओं को अपने ऊपर ले लिया है। उसे यह लगता ही नहीं कि मैं मैं हूं और न अपने प्रत्यक्ष अथवा मानस या ऐच्छिक विचार से उसे किसी प्रकार का तादात्म्य बोध होता है। वह सब समय मानो समाधिस्थ सा रहता है। यह एक तरह से हर्ष के अतिरेक में मूर्च्छित हो जाने जैसा है। यहां व्यक्तित्व समाप्त है। आंखें खुली होने पर भी दिखाई नहीं देता। जिस शांभवी मुद्रा को योगी बड़े प्रयत्न से प्राप्त करते हैं, वह इस स्थिति में स्वाभाविक हो जाती है। मन और इच्छा कोई कार्य करता है, ऐसा उसे प्रतीत नहीं होता। शिव के साथ तादात्म्य पूर्ण हो जाता है। इसी को श्री कृष्ण परा भक्ति कहते हैं। तथा शिव सम्प्रदायों में इसी को सन्मार्गता कहा है। यहां से जब वह अपनी अनुभूति को दूसरों को कहने का प्रयत्न करता है तब प्रायशः लोक में जो भाषा प्रियतम के साथ ऐक्य अनुभव बताने में प्रयुक्त है, उसी का प्रयोग करने लगता है। वैष्णव सम्प्रदायों में इसे ही माधुर्यभाव कहा है। परन्तु फरक यह है कि शिव दृष्टि से माधुर्यभाव भाव या अवस्था का नाम नहीं है वरन् वाणी से अतीत ईश्वर को समझाने के लिये एक खटकन्ना है। जबकि वैष्णव ऐसा मानते हैं कि अनुभूति के काल में ऐसा वास्तविक रूप से होता है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि इस माहेश्वर अनुभूति को मानो पढ़कर के उसके अनुकूल बनने का प्रयास अन्य मत-मतांतर वाले कर रहे हैं, न कि स्वयं उस अनुभूति को करने। अतः उनका माधुर्य बहुत कुछ उसी प्रकार का लगता है जिसे प्रोषित भर्तृका न्याय कहा जाता है अर्थात्

जब कोई नवयुवती अपने कांत से विरह भाव को प्राप्त होती है तो उस कांत का चिंतन करते करते उसे वह प्रत्यक्ष सा प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार माहेश्वर के अनूभूति वाक्यों के अनुसारी भावना करने के प्रयास में ऐसे लोगों को वैसी प्रतीति होने लग जाती है जिसे वे माधुर्य भाव कहते हैं। परन्तु वास्तविक अनुभूति उससे बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। चूंकि लोक में कोई भी अनुभूति के भाव को प्रकट नहीं कर सकता। इसलिये बलात् उन्हीं परिभाषाओं का सहारा लेना पड़ता है। चाकलेट के मिठास में एक कड़वाहट होती है जो अन्य किसी पदार्थ में नहीं। परन्तु उसको समझाने के लिये भारतीय भाषा में कोई शब्द नहीं होने से मीठा ही कहना पड़ता है। परन्तु हमारे यहां के रसगुल्ले लड्डू इत्यादि किसी भी मीठे की समानता से यदि चाकलेट की कल्पना करेंगे तो खाने पर विचित्रता प्रतीत होगी। उसी प्रकार यहां समझना चाहिये। यद्यपि इन सीढ़ियों पर चढ़ने में कभी-कभी कोई-कोई साधक एकांत की तरफ चला जाता है। परन्तु यह कोई साधारण अंग नहीं है। वस्तुतस्तु ईशावास्य उपनिषद् आदि उपनिषदों के आधार पर उपासना और कर्म के सहसमुच्चय का ही प्रतिपादन किया गया है। अतः उपासना काल में कर्म का त्याग आवश्यक अंग नहीं है। दूसरी तरफ उपनिषदों के अनुसार उपासना का संन्यास के साथ भी अनुष्ठान किया जा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि उपासना कर्म के साथ भी रह सकती है और कर्म त्याग के साथ भी। ये दोनों तरफ के साधकों की मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार समझ लेना चाहिये। अहंग्रहोपासना की पूर्णता पर्यन्त अर्थात् शिवोहं की अनूभूति तक कर्म साहचर्य सम्भव है। जब इस शिखर पर पहुंच जाता है तब उसकी पूर्णता में यह सम्भव ही नहीं कि वह स्वार्थ के कर्मों को कर सके। परन्तु उसको प्राणिमात्र के अन्दर अपनत्व का बोध हो जाने से वह नित्य निरंतर सबके कल्याण में लगा रहता है एवं उसका जीवन मंगलमय कार्यों में संलग्न रहकर नित्य शिव आराधना एवं सर्वत्र इसका विस्तार करने का प्रयत्न स्वाभाविक रूप से चलाता रहता है। जैसे श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य उत्पल देव कहते हैं "**कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन्। समस्तसम्पत् समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञां उपपादयामि।**' महेश्वर की चैतन्य अनुग्रह शक्ति के द्वारा उसकी ही सेवा के अधिकार को प्राप्त करके स्वभावतः प्राणिमात्र के ऊपर उपकार की इच्छा से उन्हें समस्त दुःख निवृत्ति पूर्वक

परम आनंद और सम्पत्ति की प्राप्ति कराने के लिये उनकी वास्तविक शिवरूपता का उनमें आधान करने का प्रतिक्षण प्रयास करता रहता है। यही उसकी सहजावस्था है। एक बात हमेशा स्मरण रखनी चाहिये कि उपासना कितनी भी दृढ़ क्यों न हो जाये एवं परमेश्वर से कितना भी एकता का अनुभव क्यों न हो जाये, उस आनंद में मनुष्य कितना भी मस्त क्यों न हो जाये, परन्तु दुःख की एक लकीर बनी ही रहती है। जितने क्षण तक समाधि में लीन रहता है उतने क्षण तक वह दुःख नहीं रहता। परन्तु समाधि से थोड़े भी उन्मुख होते ही अपने परम प्रियतम शिव से थोड़ा बहुत द्वैत तो आने ही लगता है। और यह उसके लिये मीठा, परन्तु असह्य दुःख का कारण बना रहता है। वेदांत की भाषा में कहा जाये तो कह सकते हैं कि पाप अज्ञान इतना पतला हो गया है जैसे शुद्ध कांच का पर्दा। उस समय यह भी पता नहीं लगता कि हम कांच में से देख रहे हैं, परन्तु वह कांच का पर्दा है अवश्य। यही ज्ञानी में और उपासक में मूलगत भेद होता है क्योंकि ज्ञानी कांच के पर्दे को खतम कर देता है। यद्यपि समाधि से उतरने पर जो किंचित् द्वैत का अनुवर्तन है उसमें भी अद्वितीयता समाप्त नहीं होती है और यह तादात्म्य घोलमेल रूप से बना ही रहता है। जिस प्रकार दूध में एक बार पानी पड़ गया तो फिर उस पानी को निकालने का कोई उपाय नहीं है। बहुत कुछ वैसी ही स्थिति यहां बन जाती है एवं समाधि की जब अवस्था नहीं भी होती है तब भी पूर्ण शांति एवं ध्यान की आन्तरिक अवस्था और दिव्य रसास्वाद चलता ही रहता है। प्रति क्षण शिव उसको वैसा ही स्पष्ट दीखता है जैसे दूसरे नाम रूप। परन्तु शिव केवल अधिष्ठान रूप से प्रतीत होता है और नाम रूप अध्यस्त रूपों से। केवल जो एक क्षण का नाम रूप का आभास है, बस उतना ही द्वैत उसको अन्दर ही अन्दर असह्य वेदना देता रहता है। परन्तु साथ ही साथ चूंकि नाम रूप के अधिष्ठान रूप से शिव की प्रतीति भी चलती रहती है, इसीलिये उस दर्द में एक मिठास बना रहता है। उसे प्रतीत होता है मानो उसका प्रियतम सगुण ब्रह्म बीच बीच में अत्यंत झीने नाइलोन के घूंघट को क्षण भर के लिये ओढ़कर फिर खोल देता है। यह अवस्था पूर्ण है। परन्तु फिर भी शब्द के द्वारा उसको वह स्वयं भी प्रकट नहीं कर सकता चाहे जितनी सुन्दर से सुन्दर कवि कल्पनाओं को वह उड़ावे, और चाहे अपने प्रियतम शिष्य के

साथ वह अपने इस भाव को जितनी भी गम्भीरता से प्रकटाना चाहे, वह अपने गुह्य अनुभव को किसी भी तरह से उन्हें पूरी तरह से समझा नहीं पाता। जो सहृदय शिष्य होता है, वह उसके अपने प्रति किये व्यवहारों को देखकर के ही कुछ भाव पाता है कि वस्तुत: परमेश्वर का इनके साथ क्या सम्बन्ध है। जैसे परमेश्वर निरंतर उस पर कृपा की स्नेहमयी वृष्टि करता रहता है, वैसे ही वह भी स्वजनों के प्रति अपना भाव प्रकट करता रहता है। वह अपने भावों को जो बार-बार दोहराता है उसमें जो उसका एक आग्रह दीखता है, क्या वह स्वयं इस बात में प्रमाण नहीं है कि वह यह अनुभव करता है कि वह जो कह रहा है, वह सच्चाई का एक अत्यंत धुंधला और विकृत (Smudged) चित्र है। उसको लगता है कि वह अशब्द को शब्द में लाकर मानो उसे बिगाड़ता ही जा रहा है। इस अवस्था में आकर मनुष्य जिसको लौकिक व्यक्ति धर्म कहते हैं, उससे भी दूर हो जाता है। सत्कर्म करने के अन्दर भी जो कर्तृत्व की भावना है, वह मानो परमेश्वर के सारे कर्तृत्व को खण्डित करने की भावना है। इसका अर्थ कई लोगों ने निष्क्रियता कहा है परन्तु यह स्व कर्तृत्व निष्क्रियता ईश्वर कर्तृत्व सक्रियता की विरोधी नहीं है। यह ठीक है कि ऐसा व्यक्ति सर्वथा स्वात्म भाव से केन्द्रित हुआ जैसे संसार के पदार्थों के प्रति असंग होता है, वैसे ही इसकी समस्याओं एवं कष्टों के प्रति भी अनासक्त ही रहता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि यह अनासक्ति उसको परमेश्वर दृष्टि से सक्रिय नहीं बनाती। अनासक्त का तात्पर्य इतना ही है कि परमेश्वर से आज्ञा नहीं मिलती तब तक वह कुछ नहीं करता। जिस अध्यात्म अनुभूति में ज्ञान और इच्छा पूरी तरह से शांत नहीं हो जाती वहां क्रिया पूरी तरह से शिव केन्द्रित नहीं बन पाती। शिव योगी की विशेषता यह नहीं है कि वह किसी प्रकार की भविष्यवाणी करता है, जैसे कि पैगम्बरी (Prophetic) धर्मों में देखा जाता है। वरन् विशेषता यह है कि वह अपने दिव्य दर्शनों को अपने चारों तरफ के लोगों में वास्तविक धार्मिक स्पन्द का रूप दे पाता है। वह मानो ईश्वर के वचन अपनी वाणी से बोलता है और उसकी क्रियायें अपने हाथ से करता है। उसे वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी अपने रिश्तेदार लगते हैं। यह जो उपनिषदों की अग्नि उपासना है, यह आध्यात्मिकता की वह सीढ़ी है जो सर्वात्म भावना को प्रकट करती है। यद्यपि इस सर्वात्म भावना को न

समझने के कारण अवैदिक कभी कभी इसकी हंसी भी उड़ाता है। सर्वात्मवाद (Pantheism) को न केवल विदेशी वरन् भारतीय भी, घड़ा भी ब्रह्म, कुर्ता भी ब्रह्म, टट्टी भी ब्रह्म यह कैसा ब्रह्मवाद है, कहकर बिना समझे हुए ही उसे छोड़ देते हैं। परन्तु वस्तुतः उनका जो एक देववाद (Monotheism) है, वह दार्शनिक दृष्टि से तो बच्चों का खिलवाड़ लगता है। यह ठीक है कि वे लोग उसके पुरुषत्व (Personal aspect) पर जोर देकर कहते हैं कि पुरुष भावना के बिना यह सम्भव नहीं होता कि हम उसके प्रति अपने सब भावों को प्रकट कर सकें। परन्तु वह ऐसा इसीलिये कह पाते हैं कि उनका अंतःकरण इतने शुद्ध भाव को प्राप्त नहीं कर पाता जहां जाकर पुरुष मनुष्य न रह कर पुरुषोत्तम बना हुआ है। वहां भी संत फ्रांसिस, मास्टर ऐकार्ट, सूजो, मैडम गुयोन (Guyon) ही नहीं वरन् संत थेरेसा और कहीं-कहीं तो सेंट पाल, सेंट जान आफ क्रास, यहां तक कि सेंट टामस एक्वाइनस इस सर्वात्म वाद को ध्वनित करने लगते हैं। कहा जाता है कि जब प्रसाद में देवसत्ता का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ करके (Thomas Aquinas) थामस एक्वाइनस लौटे एवं ध्यान करने लगे तो उन्होंने ईसा की प्रसन्न आवाज सुनी 'तुम्हारे आज के इस वास्तविक सिद्धान्त के समर्थन से मैं प्रसन्न हुआ हूं, तुम कुछ मांग लो'। इस पर वह बोल पड़े कि तुमको ही प्राप्त कर जाऊं। अथवा मैं तुमसे एक हो जाऊं। गीतांजलि में रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी यही कहते ह कि मैं तुम्हें चाहता हूं, केवल तुम्हें। इस बात को मेरा हृदय बार-बार दोहराता रहे। मेरी अन्य सभी इच्छायें झूठी हैं और थोथी हैं। जिस प्रकार रात्रि में प्रकाश की प्रतीक्षा होती है उसी प्रकार मेरे अंतस्तल में बार-बार यह चिल्लाहट उठती है कि मैं केवल तुम्हें चाहता हूं, केवल तुम्हें। जिस प्रकार अंधड़ शान्ति को ढूंढ़ने के लिये पूरे प्रयास के साथ दौड़ रहा होता है और शान्ति के हृदय में जाकर के ही संतुष्ट हो सकता है, उसी प्रकार मेरे जीवन की बहिर्मुखता क्रान्ति बनी हुई तुम्हारे प्रेम से ही जाकर टकराती है और तुम्हारे प्रेम को ही ढूंढ़ती है। उस अंधड़ में आवाज एक ही है कि मैं केवल तुम्हें चाहता हूं, केवल तुम्हें। इसी प्रकार शिव की किसी भक्ता का कथन है कि मैं अपने कमरे में दिया लेकर के जाती हूं और आसन पर बैठकर दिये को देखती रहती हूं। फिर एक लकड़ी लेकर बत्ती को तेल के अन्दर डुबो देती हूं और वह दीप ज्योति

अपने मूल में लीन हो जाती है। क्या इसी प्रकार हे शिव! कभी मेरी यह जीव रूपी ज्योति भी तुम्हारे अन्दर लीन हो जायेगी और मेरा मन मुक्त हो जायेगा। यह निश्चित है कि इस अवस्था को प्राप्त करके जीवन का प्रतिदिन का व्यवहार बदल जाता है। विजय नगर साम्राज्य के संस्थापक सायण शिवयोगी परमहंस विद्यारण्य वन जाते हैं। राज्य का महामंत्री वसत्र प्रतिक्षण शिव साम्राज्य की स्थापना में लग जाता है। अभिनवगुप्त निरंतर नृत्य साहित्य से भक्ति शास्त्र एवं दार्शनिक ग्रन्थों तक का एक साथ ही उपदेश करने लग जाता है। शिवावेशावस्था में जिन इच्छाओं को और रुचि को उसने छोड़ दिया था, वे सब अब नवीन अर्थ वाली हो जाती हैं। अब तक वे सब वासनायें छोड़ दी गई थीं क्योंकि विक्षेप का कारण थीं लेकिन अब वे सब शिव सेवा में लग जाती हैं। खान-पान, वस्त्र, सामान्य इन्द्रियों की आवश्यकतायें, जीवन की छोटी से छोटी घटना या क्रिया शिव की ही अभिव्यक्ति होने लग जाती है। कभी-कभी उनके ऐसे कार्य होते हैं जो साधारण मनुष्यों को पागल के कार्य लगते हैं। एक शिव भक्त नौ मील वापिस लौटकर के जाता है क्योंकि उसके कपड़े पर एक चींटी चढ़ आई थी और वह चाहता है कि उसे अपने घर पहुंचा दिया जाये। पौराणिक उपाख्यानों में शिवि एक बाज को अपने शरीर के टुकड़े करके डालने लगते हैं। दूसरे शिव भक्त दधीचि अपने जीवित शरीर को वज्र बनाने के काम के लिये दे देते हैं। मयूरध्वज अपने पुत्र के दो टुकड़े कर देता है। ये पौराणिक अतिरंजनायें वस्तुतः इस तत्त्व को बताती हैं कि इस प्रकार शिव तादात्म्य सम्बन्ध वाले का हम अपने मापदण्ड से मापने का प्रयास करके विफल ही सिद्ध होंगे। यह स्मरण रखना चाहिये कि विश्वभर में जहां कहीं इस प्रकार के तादात्म्य की प्राप्ति हुई है वहां वास्तविक अनुभूति एक प्रकार की ही हुई है। मानव चेतना के विकास का अध्ययन करने वाले इन अनुभूतियों को नजर अन्दाज करके अपने ज्ञान को संकुचित करते जाते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान भारतीय योगियों की ही नहीं, ईसाई योगियों की भी इन उच्च अवस्थाओं का अध्ययन करने से हिचकिचाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इन अनुभूतियों का अध्ययन किया ही नहीं जाना चाहिये क्योंकि ये सब मन वाणी के अतीत विषय हैं। विशेषकर के जो स्वयं आध्यात्मिक अनुभूति के लोग नहीं हैं एवं उन अनुभूतियों का बाह्य प्रदर्शन मात्र कर रहे

हैं उनको भय लगता है कि उन्होंने जो अपने को भगवान मान रखा है उसमें कहीं कोई कमजोरी नजर न आये। इसी प्रकार संगठित सम्प्रदाय भी अपनी कमियों से डरते हैं। परन्तु हम पाते हैं कि न केवल सनातन धर्म के महान अनुभवकर्त्ता वरन् विश्व के सब आध्यात्मिक अनुभूति वालों ने स्वयं ही किसी न किसी सिद्धान्त का अपनी अनुभूतियों के साथ सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया है। वे स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभव का वही निष्कर्ष निकालना चाहते हैं जो बुद्धिगम्य हो और वाह्य जगत के अन्य अनुभवों के साथ सम्बन्ध वाला। उनके अनुभवों में शिव ने प्रवेश किया और वे शिवाविष्ट हुए। परन्तु उस शिव ने जगत की अन्य घटनाओं में प्रवेश किया हुआ है। अतः दोनों प्रवेशों का कोई विरोध नहीं हो सकता। भारत में व्यक्तिगत दृष्टि से अपना अनुभव कहना लोगों को कम संगत लगा है परन्तु कोई भी शंकर, रामानुज, मध्व, आदि दार्शनिकों के एवं लल्लेश्वरी, अक्क महादेवी, बसवेश्वर, ज्ञानसम्बन्धर, अप्पर, माणिक्क वाशगर, नायनार, आड़वाड़, चण्डीदास, कबीरदास, विद्यापति, नरसी मेहता, मीरा बाई, नानक, दादू, रामकृष्ण, रमण महर्षि आदि के कवित्त्व भरे उद्‌गारों को देखकर यह अनुभव कर सकता है कि वे किसी की सुनी सुनाई बातों को नहीं कह रहे हैं वरन् अपने अनुभव को ही प्रकट कर रहे हैं। विदेशियों ने तो स्पष्टतः ही अपने अनुभवों के विवेचन करने का प्रयास किया है। आज भी आधुनिक मनोविज्ञान अनेक बार इसे मतिभ्रम (Hysterical illusion) कहकर के हटा देना चाहता है क्योंकि वे मानते हैं कि यह शिवावेश नहीं वरन् जीव का अपना ही आवेश है। इनके बीच में आचार्य शंकर जैसे दार्शनिक का स्थान आता है जिन्होंने एक तरफ कहीं भी इस प्रकार की बात नहीं की है जिसे मतिभ्रम कहा जा सके। इतना तर्क संगत एवं युक्ति से सिद्ध करने वाला कोई दूसरा आध्यात्मिक नेता नहीं हुआ। उन्होंने समग्र मानव की प्रकृति एवं जीव प्रकृति का सैद्धान्तिक विवेचन किया है। परन्तु है वह सारा का सारा उनकी उस आंतरिक अनुभूति के आधार पर। इसका कारण यह रहा है कि उन्होंने अज्ञान का सर्वथा नाश करके उस तत्त्व को मानो खींचकर हम सामान्य मानवों के सामने प्रकट कर दिया। सम्भवतः विश्व के इतिहास में यह पहला प्रयास था। रुडाल्फ आटो (Rudolf Otto) ने इसीलिये शंकर को यौक्तिक अध्यात्मवादी (Philosophical mystic) कहा है।

प्राय: होता यह है कि जब इस तादात्म्य अनुभव के बाद मनुष्य पुनः इस कार्यकरण संघात में प्रवेश करता है तो इसके पूर्व संस्कारों के कारण ही उसी भाषा में बोलता है। जब हिन्दू बोलता है तो वह उस महादेव को अपने धार्मिक वातावरण के अनुसार कृष्ण, राम, निर्गुण, सगुण आदि शब्दों से प्रकट करता है एवं उस अवस्था से ईसाई लौटने पर क्राइस्ट, होली घोस्ट, वर्जिनमेरी शब्दों का प्रयोग करता है तो मुसलमान अल्लाह का। यह वैय-क्तिक सामाजिक धारा उस अनुभूति के भेद का प्रतिपादन नहीं करती वरन् उस कार्यकरण संघात के भेद का प्रतिपादन करती है जिसके माध्यम से वह व्यक्त होती है। इन भेदों के कारण इनकी एकता का प्रतिपादन नहीं हो पाता। शंकर के दृष्टिकोण की विशेषता यह रही है कि उन्होंने इन सब कार्यकरण संघातों के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लिया, क्योंकि उनके कार्यकरण संघात इतने शुद्ध और पवित्र थे कि उसमें किसी भी परम्पराओं का, रीतियों का अवशेष नहीं था। आठ वर्ष की उमर में जिसने संन्यास ग्रहण कर लिया हो, उस पर किसी भी परम्परा की वासनाओं के प्रवाह का प्रभाव नहीं हो सकता। प्रायशः व्यक्ति किसी न किसी साधना को करता है। अंततोगत्वा जब साधनातीत को प्राप्त करके वापिस लौटता है तो उसके शरीर और मन पर उस साधना के संस्कार बने रहते हैं और उन्हीं के माध्यम से वह बोलता है। सर्वज्ञ शंकर के जीवन में इस प्रकार की किसी भी द्वैत वासना का संस्कार नहीं पड़ पाया। अतः वे उस तत्व को जब प्रकट करने लगे तो उसमें किसी भी प्रकार की सद्वितीयता नहीं आ पाई। उनके समग्र ग्रन्थों में कहीं भी किसी भी एक विशेष तत्व को लेकर उसके ऊपर कोई आस्था नहीं परन्तु सभी आस्था वालों के अन्दर जो तत्व हैं, उनको वह भेदन करके स्पष्ट कर देते हैं। इतना ही नहीं, जब आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनेक प्राचीन और अर्वाचीन साधकों के जीवन में मानस रोगों के (Neurotic disorders) चिह्नों को बताता है तो कई बार मनुष्य सोचता है कि इन चिह्नों के रहते हुए वहां आध्यात्मिकता कैसे हो सकती है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि यदि किसी व्यक्ति को कोई रोग है भी तो वह उसकी महत्ता को नहीं बता पाता। यह ठीक है कि स्वामी विवेका-नन्द चुरुट पीने के शौकीन थे। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनकी आध्या-त्मिकता का इस चुरुट से कोई सम्बन्ध है। चुरुट तो और भी अनेक लोग

पीते हैं लेकिन क्या इतने से उनमें आध्यात्मिकता आ जाती है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति में कोई मानस असंतुलन है भी तो वैसे मानस असंतुलन वाले तो और भी अनेक लोग होते हैं। डास्ट्योवेस्की (Dosteovesky) को मूर्च्छा (Epileptic fits) आती थी परन्तु उसका उसके ब्रदरकामोज़ोव (Brother Karmozove) ग्रन्थ के साथ क्या सम्बन्ध है, क्योंकि मूर्च्छा तो अनेक लोगों को आती रहती है लेकिन वह तो किसी एक पुस्तिका को भी नहीं लिख पाते। आधुनिक मनोविज्ञान की यह भूल है कि वह किन्हीं महापुरुषों की किन्हीं न्यूनताओं को देखकर उनके समग्र आध्यात्मिक अनुभवों को चित्तभ्रम मानना चाहता है। विज्ञान में भी एक ही चीज को चार बार नापने से कुछ न कुछ भेद तो आ ही जाता है परन्तु उन सबका औसत निकाला जाता है। बहुत कुछ इसी प्रकार का यह भी समझना चाहिये। कार्यकरण संघात स्वाभाविक एवं साम्प्रदायिक विकिरत रश्मियों को पूर्ण दृष्टि से एक रूप में देखना पड़ता है और आचार्य शंकर के दर्शन की विशेषता ही यह है कि वह हमें त्रिपदी कांति देता है जहां हम उन किरणों को पुनः मिलाकर देख सकें। यह याद रखना चाहिये कि कुछ लोग अनुभूति को ही प्रमाण मानकर के कहते हैं कि उसके आगे विचार करना व्यर्थ है। बड़े से बड़े महापुरुष भी यह नहीं कह सकते कि हम उनकी बातों को यथाश्रुत स्वीकार करें। हमें आश्चर्य भी नहीं होना चाहिये। यदि उनका कथन हमें संतुष्ट नहीं करता या हमें पूण विश्वास नहीं दिलाता क्योंकि जो सच्चे अनुभूतिपूर्ण महापुरुष होते हैं, वे स्वयं अपनी बातों से संतुष्ट नहीं होते। उनकी दिव्य और स्पष्ट अनुभूतियों का वह प्रतिपादन तीसरी या चौथी कार्बन प्रति होता है। वह स्वयं इस बात को जानता है कि उसका शब्द केवल उसकी अनुभूति की तरफ संकेतमात्र कर सकता है, उसका वर्णन नहीं। यह अव्यक्तता उसकी अनुभूति को और भी ज्यादा पवित्र, दिव्य और बेशकीमती बनाती है और इसीलिये वह उस अनुभूति के अंश को जिसे वह स्वयं भी समझने में असमर्थ है, महत्तम मानता है। ये समानतायें हमें यह मानने के लिये बाध्य करती हैं कि कार्यकरण संघात की साम्प्रदायिक या सामाजिक वासनाओं से अतिरिक्त ही इस अनुभूति का कोई दूसरा आधार है। यही शिव का रसास्वादन, अनुभव या दर्शन कहा जाता है। यद्यपि यह उसके लिये पूर्ण सत्य है परन्तु दूसरों के लिये तो यह केवल एक संकेतमात्र

है कि कोई वहां ऐसा सत्य तत्व है जो उसकी अनुभूति का आधार है। आधुनिक विज्ञान को यह मानना पड़ेगा कि बौद्धिक विज्ञान की तरह ही बौद्धिक ईश्वर भी सम्भव है। यही उपनिषदों की विशेषता रही है एवं आचार्य शंकर के ग्रन्थों में स्पष्ट हुई है। यह जो शिव का रसास्वाद है, उसी का बौद्धिक ईश्वर रूप से वर्णन तत्वमसि महावाक्य करते हैं। यही अध्यात्म का उच्चतम शिखर है। इस उच्चतम शिखर पर पहुंचकर ज्ञानी स्थित हो जाता है और उपासक निरंतर प्रयत्नशील रहता है। इसीलिये इसको इष्टका शब्द से कहा गया क्योंकि इसमें कुछ अल्पता रहती है।

पूर्व मंत्र में आया हुआ 'गुहायां' एक तरह से यह भी द्योतित करता है कि यह राजगुह्य है। ब्रह्मसूत्र को इसीलिये शारीरिक मीमांसा भी कहा जाता है क्योंकि जो शरीर के मध्य में होता है, वही शारीर कहा जाता है। तात्पर्य है कि जो विश्व का अंतिम नियामक तत्व है वही हमारा भी अंतरतम तत्व है। समग्र उपनिषदों का यही उद्घोष है कि हमारी समग्र कल्पनाओं, इच्छाओं, ज्ञानों, भावनाओं, क्रियाओं आदि व्यवहारों के बहुत गहरे में उतरने पर जो तत्व मिलता है, वही हमारा परम आत्मा है। वह वास्तविक केन्द्र कभी भी हिलता नहीं, परिवर्तित नहीं होता, चाहे ऊपर से कितने भी विचार, भावनायें, आशायें, इच्छायें क्षणमात्र के लिये तरह-तरह से नाचती क्यों न रहें। डांटे ने अपनी पुस्तक 'डिवाइन कामेडी' (Divine Comedy) में अन्तिम तत्व का विवेचन करते हुए प्रकाश की एक नदी का वर्णन किया है जिसमें प्रत्येक लहर रूपी रश्मि एक जीवात्मा है। क्या इस लहरी से नदी के आधार में कोई परिवर्तन आता है? यह प्रश्न कोई भी ईसाई अध्यात्मवेत्ता करने का साहस नहीं कर पाता। परन्तु औपनिषद् ऋषि उस आधार को ही अपनी विद्या का विषय बनाते हैं। वे बाह्य खेलों से अपने आपको खींचकर यौक्तिक विचारों के विभाजन प्रणाली का त्याग करके अंतस्तल में प्रविष्ट होकर उस साक्षी को देखते हैं जो परमआत्मा है। इसी उपनिषद् के द्वितीय अध्याय की द्वितीय वल्ली में कहेंगे कि अग्नि जिस प्रकार से समष्टि जगत में प्रविष्ट होकर भिन्न भिन्न रूपों को धारण करती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न रूपों में आत्मा का प्रवेश है। यहां भी यही संकेत है कि यह अग्नि ही समग्र लोकों का रूप धारण करती है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में अग्नि को अर्क नाम से कहकर सारे संसार

को उसका शरीर बताया है। 'अयमग्निरर्कः तस्य मे लोका आत्मानः' (बृहदारण्यक १–२–७) इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस अग्नि का यहां वर्णन किया जा रहा है वह गुहाओं में छिपी हुई परमात्म अग्नि ही है।

इस प्रकार जब उस तत्व का नचिकेता ने अनुभव कर लिया तब उसकी उस अनुभूति से मृत्यु प्रसन्न हो गये एवं तीन वरों से अतिरिक्त वर देने के लिये अपनी इच्छा प्रकट की।

: १६ :

तं अब्रवीत् प्रीयमाणः महात्मा वरं तव इह अद्य ददामि भूयः ।
तव एव नाम्ना भविता अयं अग्निः सृंकां च इमां अनेकरूपां गृहाण ।।

प्रीयमाणः = प्रीतिमान्
महात्मा = महात्मा ने
तं = उसको
अब्रवीत् = कहा (कि)
इह = यही
अद्य = आज
तव = तुम्हारे
भूयः = अतिरिक्त
वरं = वर को
ददामि = देता हूं।
अयं = यह
अग्निः = अग्नि
तव = तुम्हारे
एव = ही
नाम्ना = नाम से
भविता = जानी जायेगी,
च = तथा
इमां = इस
अनेकरूपां = अनेक रूप वाली
सृंकां = माला को
गृहाण = लो।

यम ने शिष्य की योग्यता को देखते हुए हृदय में उसके प्रति अत्यंत प्रीति का अनुभव किया। महात्मा शब्द छांदोग्य उपनिषद् में तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी प्रयुक्त है। जो क्षुद्र बुद्धि वाला न हो, वही महात्मा कहा जाता है। तात्पर्य है कि सामान्य लोग जितना कहते हैं उतना ही देते हैं। परन्तु महात्मा होने के कारण तीन से अतिरिक्त और भी दो वर प्रसन्न होकर नचिकेता को दे रहे हैं। यह चतुर्थ वर शिष्य की अर्थ ग्रहण पूर्वक धारणा के निमित्त से है। वहां पर तीन दिन अनशन करके रहा, इस निमित्त से नहीं। इसके द्वारा श्रुति यह बताती है कि जो निर्लोभ व्यक्ति होता है, वह योग्यता को देखकर देता है, केवल मांगने वाले के अधिकार को देखकर नहीं। यद्यपि भाष्य में इसे चौथा वर कहा है, अतः हमने भी इसे चौथा कहा है परन्तु

विचार दृष्टि से देखने पर अभी दो ही वर दिये गये हैं। अतः इसे तीसरा वर कहना चाहिये परन्तु भाष्य का कहना है कि तीन प्रतिज्ञात वरों से अतिरिक्त होने से यह चौथा है। यम ने यह वरदान दिया कि आज से यह अग्नि तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होकर 'नाचिकेताग्नि' कही जायेगी। वस्तुतस्तु नाचिकेताग्नि शब्द का प्रयोग तो वेद में पहले से ही है। वेद किसी इतिहास को नहीं बताता, यह कई बार कह आये हैं। अतः तात्पर्य यह है कि नाचिकेताग्नि का निरुक्त श्रुति कर रही है। इस प्रकार श्रुति ने अन्यत्र भी अनेक नामों के निरुक्त किये हैं। यह अग्नि पहले क्या कही जाती थी, इस प्रकार की बाल शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि नाम तो इसका हमेशा से ही नाचिकेताग्नि ही था। आध्यात्मिक दृष्टि से नचिकेता वैराग्य का प्रतीक होने से वैराग्यवान जिस प्रकार ईश्वर की आराधना कर सकता है, वह नाचिकेताग्नि हुई। अथवा वैराग्यवान को जिस सगुण परब्रह्म परमात्मा का अनुभव होता है, वह नाचिकेताग्नि हुई। इतने से भी संतुष्ट न होकर और भी अधिक प्रसन्न हुए यम ने उसको अनेक रत्नों वाली माला को भी दिया। भाष्य में इसको शब्द वाली माला भी कहा है। तात्पर्य यह है कि वे रत्न आपस में खनखना भी रहे थे। यह रत्नों की अतिशयता द्योतित करने के लिये कहा गया है। वैदिक साहित्य में सृंकां का प्रयोग केवल कठोपनिषद् में ही पाया जाता है। अतः लौकिक दृष्टि से सृंकां माला अर्थ में प्रसिद्ध होने से रूढ़ि के बल से अनेक रत्न वाली खनखनाती माला अर्थ भाष्यकारों ने किया। अनेक रूप अर्थात् नीला, लाल, सफेद, हरा, इत्यादि वाले नीलम, माणिक्य, हीरा, पन्ना, वैदूर्य आदि का ग्रहण है। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ करने के लिये सृजि धातु के गत्यर्थ को लेकर दूसरा अर्थ किया कि जो कर्म अकुत्सित गति को अर्थात् श्रेष्ठ उत्तरायण गति को देते हैं, वही यहां सृंकां शब्द से कहा गया है अर्थात् वे सभी कर्म और उपासनायें जो अनेक प्रकार की उत्तरायण की भिन्न-भिन्न गतियों को देने वाले होने से अनेक रूप कहे जाते हैं एवं उसे उपदेश किया। प्रश्न हो सकता है कि बिना किये हुए तो कर्म उपासना कोई लाभ नहीं कर सकते फिर इनके देने से क्या लाभ होगा ? तब गति का अर्थ ज्ञानं मान लेना चाहिये अर्थात् जो कुत्सित तरफ नहीं ले जाते, ऐसे कर्म उपासनाओं का ज्ञान दिया। अथवा ऐसे कर्म और उपासना का उपदेश दिया जिनसे भिन्न-भिन्न प्रकार के फलों को प्राप्त किया

जा सकता है। हर हालत में तात्पर्य यही है कि शिष्य में चूंकि धारणा करने की सामर्थ्य थी, इसलिये उस सामर्थ्य के अनुसार ही उसको और उपासनाओं का उपदेश भी दिया गया। इसके द्वारा श्रुति यह कहना चाहती है कि किसी को भी वह चीज देनी चाहिये जिसे धारण करने की उसमें सामर्थ्य हो। यह नहीं कि एक गरीब कवि को हाथी दे दो और वह उस पर चढ़े तो क्या, हौदा भी न बना सके। सृंकां का अर्थ सड़क भी होता है। आगे भी वित्तमयीं सृंकां शब्द का प्रयोग आयेगा जिसका तात्पर्य होता है कि धन को प्राप्त कराने वाली सड़क। अतः अनेक प्रकार के फलों को उत्पन्न करने वाली (अनेकरूपां) कर्ममयी सीधी सड़क से भी यहां तात्पर्य हो सकता है। तात्पर्य है कि साधारण व्यक्ति जो अज्ञानी है वह परमात्मा की केवल एक प्रकार के कर्म और उपासनाओं से ही आराधना कर सकता है। परन्तु जब एक बार शिव तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है तो फिर वह अपने आपको अनेक प्रकार के साधक रूपों से एक करके सहज भाव से उन सब साधनाओं को कर पाता है। भाव यह है कि पहले एक वैष्णव अपने मार्ग से, शाक्त अपने मार्ग से उधर बढ़ता है। परन्तु जब तत्व में स्थित हो जाता हैं, तब वह वैष्णवों के साथ वैष्णव, शाक्तों के साथ शाक्त एवं जो जिस प्रकार की मान्यता वाला है, उसके साथ एक होकर के वैसे ही कर्म और उपासनाओं को करके उन्हें दिखा सकता है और समझा सकता है। गौरीशंकर पर चढ़ने के लिये पहले एक ही रास्ते को अपनाया जाता है परन्तु शिखर पर जाकर सभी रास्ते उसे दिखाई देते हैं एवं भिन्न भिन्न लोगों को जो जिस रास्ते से चढ़ रहा है, वह उसी रास्ते के बारे में निर्देश कर सकता है। रास्तों को बदलना व्यर्थ है। महिम्न स्तोत्र में आचार्य पुष्पदंत 'नृणामेको गम्यः त्वमसि' के द्वारा इसी बात को बताते हैं।

: १७ :

नाचिकेताग्नि की इतिकर्त्तव्यता बताते हैं —

त्रिणाचिकेतः त्रिभिः एत्य सन्धि त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।
*ब्रह्मजज्ञं देवं ईड्यं विदित्वा निचाय्य इमां शांतिं अत्यंतं एति ।।

त्रिणाचिकेतः = तीन बार नचिकेता का कर्त्ता   त्रिभिः = तीन के द्वारा

* ब्रह्मयज्ञं ।

संधिं = सम्बन्ध को	देवं = देव को
एत्य = प्राप्त करके	विदित्वा = जानकर (व)
त्रिकर्मकृत् = तीन कर्मों का कर्त्ता	निचाय्य = प्रत्यक्ष करके
जन्ममृत्यू = जन्म मृत्यु को	इमां = प्रत्यक्ष
तरति = लांघ जाता है ।	शांतिं = शान्ति को
ब्रह्मजज्ञं = सर्वज्ञ	अत्यंतं = पूर्णतः
ईड्यं = स्तुत्य	एति = पाता है ।

जिसने नाचिकेताग्नि का तीन बार चयन किया है और जिसने तीन परम्पराओं से इसे प्राप्त किया, तथा तीन प्रकार के कर्म करने वाला है वही इसके पूर्ण फल को प्राप्त करता है, यह भाव है । यह पुनः जन्म-मृत्यु को पार कर जाता है, कहकर इसे सामान्य कर्म से अलग बताया जा रहा है । कठोपनिषद् में तीन की संख्या न केवल बहुवाची है वरन् इसका बहुत कुछ वैसा ही गुह्य रूप (mystic number) बना दिया गया है जैसे व्यास ने १८ की संख्या को । महाभारत में १८ पर्व, गीता में १८ अध्याय, युद्ध में १८ अक्षौहिणी सेना, १८ पुराण आदि-आदि के द्वारा जैसे १८ को एक गुह्य रूप दिया गया है, वैसे ही यहां भी तीन रात्रि का निवास, तीन वर, तीन अग्नियों का चयन आदि आदि गुह्य रूप से वर्णित किया गया है । वस्तुतस्तु सूक्ष्म शरीर में पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच प्राण, मन बुद्धि और अविद्या, इन १८ की संख्या को लेकर व्यास ने १८ की संख्या पर जोर दिया है एवं स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को लेकर कठ महर्षि ने तीन की संख्या पर जोर दिया है । वैसे भी वेदों में प्रायः तीन, पांच और सात की संख्याओं के ऊपर बहुत ज्यादा जोर पाया जाता है । अग्निहोत्र में ७२० ईंटों का चयन होता है । प्रजापति का प्रतीक ब्राह्मण ग्रन्थों में संवत्सर है । संवत्सर में सावन मान से ३६० दिन होते हैं । अतः ३६० दिन और ३६० रात्रि मिलकर ७२० की संख्या बनती है । अतः ७२० इष्टकायें संवत्सर के, अहोरात्र को बताती हैं । किंच, अग्निहोत्र में प्रातः और सायं आहुति होने से संवत्सर में ७२० बार आहुति बन जाती है । इस प्रकार इष्टकायें अग्निहोत्र की तथा संवत्सर रूपी प्रजापति के पूर्ण उपासना का प्रतीत हो जाती हैं क्योंकि काल का पूर्ण रूप संवत्सर माना गया है । इन इष्टकाओं के द्वारा जो अग्नि का चयन अर्थात् एकत्री भवन है, वह अग्निहोत्र का चयन हुआ । यह अग्नि और संवत्सर से

अभिन्न प्रजापति मैं हूं, यह उस अग्नि का आत्मभाव से ध्यान नाचिकेताग्नि का ध्यान है अर्थात् ७२० ईंटों रूप में जिसमें ७२० बार आहुति दी जाती है, वह मेरा वास्तविक स्वरूप है। यह विदित्वा के द्वारा कहा गया। संक्षेप में संवत्सर और अग्नि मैं हूं, यह भाव है। यह विराट् का ध्यान होता है एवं इसके अनुष्ठान से ही विराट् पद की प्राप्ति होती है। इस विराट् भाव की प्राप्ति ही साक्षात् शान्ति कही गई है। इस प्रकार की उपासना करने वाला नाचिकेताग्नि का वाह्य चयन करेगा तो भी उसका भाव रहेगा कि मैं स्वयं अपनी ही आहुति अपने आपको अपने ही कुण्ड में दे रहा हूं। तीन वार चयन से तात्पर्य है कि जब तक स्थूल शरीर के साथ हमें सारे स्थूल जगत के अभेद का अनुभव न हो जाये तथा सूक्ष्म शरीर से समष्टि सूक्ष्म जगत का और कारण शरीर से समष्टि कारण जगत का ऐक्य न हो जाये, तब तक यह उपासना करते रहना चाहिये। भाव है कि विचार दृष्टि से यद्यपि हमें प्रतीत होता है कि हमारा शरीर इस महा ब्रह्माण्ड का एक भंवरमात्र है। पार्थिव पदार्थ अन्नरूप होकर इसमें प्रविष्ट होते हैं और मल रूप से निकलते चले जाते हैं। इसलिये वस्तुतः हम भौतिक नदी के भीतर छोटी छोटी लहरी मात्र हैं। इसी प्रकार हमारे मन में वाहर से विचार आते रहते हैं और बाहर को विचार जाते रहते हैं। अतः हमारा सूक्ष्म शरीर भी हिरण्यगर्भ के प्रवाह में एक लहरी ही है। कारण शरीर के विषय में तो वेदांत के मुख्य सिद्धान्त में अविद्या एक ही स्वीकार की गई है। अतः सुषुप्ति में तो हम ईश्वर से सर्वथा अभिन्न हो जाते हैं। सुषुप्ति में जाने पर जैसा कि (६-९-३) कहती है **'स हि व्याघ्रो वा सिंहो वा वको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा, दंशो वा, मशको वा, यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे।'** अर्थात् सुषुप्ति काल में ईश्वर से एक होकर वाघ, सिंह, भेड़िया, कीड़ा, पक्षी, डांस, मच्छर जो कुछ भी होता है, सब एक हो जाते हैं। परन्तु यह जान नहीं पाते कि हम एक हो गये। अतः सुषुप्ति काल में प्राणियों में कोई भी भौतिक उपाधि सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि सभी का एक ही अनुभव होता है कि मैंने कुछ नहीं जाना और मैं सुख से सोया। अतः वहां तो एकता स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार जब मनुष्य को दृढ़ अनुभव हो जाता है तब फिर किसी भी काल में उसको भेद भ्रम नहीं रह जाता। यह भाव है। यहां नाचिकेताग्नि का तीन बार चयन का विकल्पित अर्थ

उसका विज्ञान, फिर उसका अध्ययन और फिर उसका अनुष्ठान इस प्रकार करते हैं। तात्पर्य है कि पहले इस विद्या को गुरु से प्राप्त करे, उस पर बार बार विचार और मनन करे और जब वह दृढ़ हो जाये तब उसका ध्यान करे, यह उसका तीन प्रकार का चयन हो गया। यह अर्थ ही भाष्यकारों को इष्ट है। परन्तु प्राचीन वेदांतियों ने पूर्व अर्थ को ही स्वीकार किया है। विवेकी की दृष्टि में तो दोनों का समन्वय ही श्रौत तात्पर्य है।

माता से उपनयन के बाद पिता से वेदाध्ययन पर्यन्त तथा उसके बाद गुरु से जिसने शिक्षा को प्राप्त किया है, वही तीन प्रकार के सम्बन्धों से युक्त कहा जाता है। अन्यत्र भी श्रुति में कहा है कि जो माता पिता और आचार्य तीनों से विद्या प्राप्त की जा रही हो, वही सफल होती है। संधि का अर्थ यहां संधान, अनुसंधान या सम्बन्ध समझ लेना चाहिये। भाव यह है कि यद्यपि माता पिता और गुरु की शिक्षा सर्वथा एक नहीं होगी परन्तु उन सबमें आपस में सम्बन्ध होना चाहिये। माता का ध्यान और पूजा स्थूल हो सकती है। पिता का उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होना स्वाभाविक है और गुरु का सूक्ष्मतम होना। परन्तु सम्प्रदाय परम्परा एक ही होनी चाहिये। यदि माता वैष्णव है, पिता जैन और गुरु बौद्ध तो फिर तत्व निष्ठा होना कठिन हो जाता है। प्राचीन काल में जो भिन्न सम्प्रदायों में विवाह आदि नहीं किये जाते थे, उसका मूल कारण यही था। यद्यपि वर्तमान जाति प्रथा में सम्प्रदाय का स्थान देश विशेष ने ले लिया है परन्तु यह प्रारम्भ में एक ही कस्बे या प्रांत में रहने वालों का अधिकतर एक सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त होने से ही चला। अब यद्यपि यह परम्परा लुप्त हो जाने से जाति प्रथा व्यर्थ सी हो गई है। यदि पुनः आध्यात्मिकता के ताने बाने को दृढ़ करना है तो बजाय देश या कुल देखने के एक ही प्रकार की आध्यात्मिकता वालों का आपसी विवाह स्वीकार करना पड़ेगा। अतः तीनों का एक ही प्रकार का अनुसंधान यहां कहा गया। अन्यत्र भी श्रुति स्मृतियों में ब्रह्मज्ञान के लिये इसे प्रामाण्य का कारण माना है।

अथवा श्रुति स्मृति एवं शिष्ट पुरुषों के द्वारा जो इस सम्प्रदाय परम्परा को प्राप्त करता है अर्थात् इन तीनों को मैं विराट् रूप हूं, इस प्रकार के अनुसंधान को प्राप्त करता है। अपौरुषेय वाक्य वेद हुआ, वैदिक ऋषियों के द्वारा निर्मित ग्रन्थ विशेष स्मृति हुई तथा वर्तमान में

श्रुति और स्मृति के आचारों को पालन करने वाले शिष्ट हुए। जब तक श्रुति और स्मृति में अथवा स्मृति और शिष्ट पुरुषों में कोई भेद प्रतीति होती है तब मनुष्य में तत्व निष्ठा पूरी नहीं हो पाती, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव है कि सर्वसम्मति देखने पर उसे स्वभावतः श्रद्धा हो जाती है। जिस प्रकार माता पिता और गुरु के भेद से बुद्धि भेद उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार आज के युग में बुद्ध स्मृति, अर्हंत स्मृति, ईसा स्मृति, मुहम्मद स्मृति आदियों के साथ पाशुपत तंत्र, भागवत तंत्र, शाक्त तंत्र आदि स्मृतियों का श्रुतियों से भेद देखकर मनुष्य के मन में तत्व निश्चय नहीं हो पाता और संदेह बना ही रहता है कि ये सब स्मृतिकार भ्रान्त कैसे हो सकते हैं। किंच, जब वर्तमान के शिष्ट पुरुष को देखते हैं तब उन्हें श्रुति और स्मृति दोनों से भिन्न आचरण करते हुए देखते हैं। वेद कहता है 'सत्य बोलो'। महाभारत कहता है 'पाँच स्थलों में झूठ बोला जा सकता है,' एवं शिष्ट कहते हैं कि झूठ बोलना तो व्यवहार में सर्वत्र आवश्यक ही है। इस परिस्थिति में श्रुति वाक्य के ऊपर श्रद्धा होना कठिन हो जाता है। यद्यपि श्रुति अपौरुषेय होने से सारे दोषों से रहित है परन्तु सहसा महापुरुष की स्मृति और महापुरुष के आचरण को हम अपनी दृष्टि से नहीं हटा सकते। सामान्यतः तो लोग महापुरुषों के आचरणों को देखकर ही श्रुति में भी श्रद्धा कर पाते हैं। अतः यह विकल्प भी आज के मानव के लिये उपलब्ध नहीं रह गया है। सर्वज्ञ शंकर इस बात को जानते थे इसलिये उन्होंने तीसरा विकल्प दिया '**प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन तीनों के द्वारा जिसने एक ही तत्त्व का अनुसंधान अर्थात् निश्चय कर लिया है**'। इस अंतिम विकल्प को अत्यंत कारगर मानते हुए वे स्वयं कहते हैं '**तेभ्योहि विशुद्धिः प्रत्यक्षा**' अर्थात्, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के द्वारा धर्म का ज्ञान विशुद्ध अर्थात् स्पष्ट रूप से हो जाता है। जब उनके युग में भी वे इस तीन के अनुसंधान से ही धर्म की अवगति को प्रत्यक्ष मानते हैं तब आज के युग में तो स्मृति और शिष्टों में और भी विकार आ चुका है। अतः आज तो हमारे लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और वेद ये तीन ही ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं और इनका ही अनुसंधान सम्भव है। भाष्य की यह पंक्ति बहुत याद रखने की है क्योंकि उन्होंने केवल शास्त्र को ही धर्म के विषय में एकमात्र प्रमाण नहीं माना। यद्यपि यहां भाष्य में

केवल विशुद्धि ही पद है परन्तु आचार्य आनंदगिरि 'विशुद्धिरिति धर्माद्यवगतिः' कहकर स्पष्ट करते हैं कि यहां धर्म ज्ञान की विशुद्धि की जा रही है। अतः शास्त्र को धर्म के विषय में अनुमान और प्रत्यक्ष का विरोधी बनाकर काम नहीं चल सकता। यद्यपि अन्यत्र भगवान भाष्यकार यह भी कहते हैं कि शास्त्र रूपी नेत्रों से ही हम देख सकते हैं परन्तु वहां पर भी तात्पर्य यही है कि शास्त्र नवीन ज्ञानों को देता है, यह तात्पर्य नहीं है कि वह प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोधी ज्ञान को देगा। तीनों से जब हमको किसी चीज का निश्चय हो जाता है, तब स्वभावतः उस पर पूर्ण श्रद्धा हो जाती है और जिस विषय में बिना किसी संदेह के श्रद्धा होती है, उसी का ध्यान सम्भव होता है। इसीलिये जिस व्यक्ति को पत्थर की मूर्ति में तरह-तरह के संदेह हों, उसे पत्थर की मूर्ति का ध्यान करने को कहना तब तक व्यर्थ है जब तक उसके वे सारे संदेह दूर न हो जायें। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि जिस व्यक्ति के हृदय में एक बार संदेह आ गया, उसका सूक्ष्म विषयों के बारे में जड़ से जाना असम्भवसा होता है, अतः उसे प्रकारान्तर की साधनाओं में प्रवृत्त करना पड़ता है, न कि किसी एक विशिष्ट साधना पर आग्रह वाला होकर उसी में लोगों को लगाया जाये। तत्वनिष्ठा को प्राप्त करने के बाद तो जब सारे संशय छिन्न हो जायेंगे तो सभी मार्ग उसे एक लगने लगेंगे। यह याद रखना चाहिये कि सब मार्ग असत्य के हैं, यद्यपि वे सत्य की ओर ले जाते हैं। परन्तु लोग प्रायः दूसरों के मार्गों में छिद्रान्वेषण करते रहते हैं। परन्तु जैसा आचार्य श्रीहर्ष भी स्पष्ट कह रहे हैं कि वे या उससे भी अधिक दोष हमारी अपनी व्यवस्था या मार्ग में भी लगाये जा सकते हैं। विचारशील इसलिये किसी भी मार्ग के दोषों को न देखकर उस मार्ग के उपादेय अंशों का सहारा लेकर प्रत्येक साधक को आगे बढ़ाता है। मार्ग कभी सच्चा नहीं हो सकता और इसीलिये कभी निर्दुष्ट भी नहीं हो सकता। परन्तु उन्हीं के द्वारा तत्व को दिखाना पड़ता है। जैसे कोई भी लिपि निर्दुष्ट नहीं हुआ करती और न सबके साथ उसका कोई साम्य ही हुआ करता है। सभी लिपियों में कुछ ध्वनियां आ पाती हैं और दूसरी ध्वनियां नहीं। अविचारशील लोग अपनी लिपि के गुणों का बखान करते रहते हैं परन्तु यह नहीं देख पाते कि उनकी लिपि भी उतनी ही दुष्ट है। निर्दुष्ट लिपि असम्भव है क्योंकि मनुष्य सैंकड़ों ध्वनियों को उत्पन्न करता

है और उन सबके लिये चिह्न बना देने पर तो एक अनंत चीन लिपि बन जायेगी। इतना ही नहीं, शब्द और लिपि में साम्य कायम करना तो और भी असम्भव है। विचारशील किसी भी एक लिपि से काम चला लेते हैं एवं जिसको जिस लिपि का ज्ञान है, उसको उसी लिपि के द्वारा समझा देते हैं। ऐसे ही मार्गों के विषय में समझना चाहिये। हर हालत में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के द्वारा दृढ़ निश्चय हो जाने पर धर्म मनुष्य को शुद्ध, प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होने लगता है और उसमें उसकी प्रवृत्ति हो जाती है।

इज्या, अध्ययन और दान त्रिकर्म कहे जाते हैं। इज्या अर्थात् ईश्वरार्पण बुद्धि से किया हुआ कर्म, अध्ययन अर्थात् पढ़े हुए का बार-बार शब्दतः एवं अर्थतः अनुसंधान, व अन्य मानवों के प्रति जो कर्म किया जाये वह दान। इस प्रकार ये तीन कर्म नाचिकेताग्नि चयन करने वाले के लिये आवश्यक हैं। तात्पर्य है कि परमेश्वर की अहंग्रहोपासना सगुण रूप से अथवा निर्गुण रूप से कर्म से तोड़कर नहीं की जा सकती। जैसा पहले भी बता आये हैं कि उपासना और कर्म समुच्चित होकर के ही सफल होते हैं। अतः इस उपासना में भी ये तीन प्रकार के कर्म अवश्य कर्त्तव्य हैं। इनसे रहित होने पर यह उपासना फल नहीं दे सकती। आजकल कुछ ऐसी साम्प्रदायिक परम्परायें चली हैं जिनमें उपासना के साथ कर्म का या तो विनियोग ही नहीं है अथवा कर्म के विषय में प्रसंग आने पर वे घण्टी हिलाना, फूल चढ़ाना, माला बनाना, आरती उतारना, इन्हीं को कर्म मान लेते हैं। यहां श्रुति स्पष्ट करती है कि ये सब इज्या के अंग यदि बन भी गये तो भी अध्ययन और दान तो नहीं हो सकते। जो प्राणी दूसरे मानवों के प्रति हमदर्द होकर के दान आदि की प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा वह आत्मज्ञान प्राप्त कर सकेगा, यह तो आकाश में फूल की तरह असम्भव है। इसी प्रकार अनेक लोग यह मान लेते हैं कि पढ़ने लिखने से क्या मतलब, केवल परमेश्वर की कृपा से ही काम चल जायेगा, वह भी यहां उपनिषद् अनिष्ट बता रही है। वैसे भी मनुष्य की ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति तीनों का परमेश्वर में विनियोग करना है। अध्ययन के द्वारा ज्ञान शक्ति, इज्या के द्वारा इच्छा शक्ति एवं दान के द्वारा क्रिया शक्ति का विनियोग बताया जा रहा है। इस प्रकार करने वाला जन्म और मृत्यु के चक्र से छूट जाता है क्योंकि विराट् प्रजापति से एकता को प्राप्त होकर अंत में क्रम मुक्ति द्वारा

कैवल्य पा लेता है, यह भाव है। वस्तुतस्तु मैं जन्मा और मैं मरा, यह प्रत्येक शरीर को लेकर के ही बनता है। जिसने समग्र विराट्, महाब्रह्माण्ड को ही अपना शरीर जान लिया, वह अपने में जन्म और मृत्यु को देख ही कैसे सकता है। नदी की बूंद अपने को सूखने वाला और बरसने वाला मान सकती है परन्तु क्या नदी स्वयं अपने आपको इस प्रकार का समझ सकती है। ठीक इसी प्रकार से विराट् से एकता प्राप्त किया हुआ अपने में जन्म मृत्यु कभी नहीं देख सकता, यह भाव है।

ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ से जो उत्पन्न होता है, वह ब्रह्मज कहा जाता है। जो ब्रह्मज हो एवं ज्ञानस्वरूप हो, वही ब्रह्मजज्ञ हुआ। अत: यहां विराट् और सर्वज्ञ को ही ब्रह्मजज्ञ नाम से कहा गया है। अथवा ब्रह्म से ईश्वर का ग्रहण करके जो ब्रह्म से उत्पन्न विश्व को जानने वाली अग्नि है, वह ब्रह्मजज्ञ शब्द से कही गई है। अग्नि का दूसरा नाम जातवेदा है भी जिसका अर्थ सब कुछ जानने वाला होता है। अन्यत्र भी **ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्** इत्यादि मंत्र इसी का प्रतिपादन कर रहे हैं। अथवा आभास रूप से ब्रह्म से जीव उत्पन्न होता है। ईश्वर उस आभास ब्रह्मज को जानता है, अतः वह ब्रह्मजज्ञ कहा जाता है। जो जीव की वास्तविक उत्पत्ति मानते हैं, उन्होंने इसी अर्थ का आश्रयण लिया है परन्तु यह अर्थ आभासवाद की दृष्टि से संगत हो ही जाता है। यह ब्रह्मजज्ञ ही ज्ञान आदि गुण वाला होने से देव कहा जाता है **'द्योतनात् देवः'**। एवं यही एक मात्र स्तुति के योग्य है। ऋग्वेद का प्रारंभ ही अग्नि और परमात्मा को **'अग्निमीडे पुरोहितं'** कहता है। किंच ध्यान आदि के लिये इस अग्नि को सूर्य आदि से अभिन्न मानकर के भी ध्यान किया जा सकता है। इस संवत्सर और प्रजापति की ऋषि, देव, गंधर्व इत्यादि सभी स्तुति करते हैं, यह भी भाव है। शास्त्र के द्वारा इसकी उपासना करने का प्रकार समझकर के उपासना करना विदित्वा से कहा गया एवं उसके बाद उपर्युक्त प्रकार से उसका आत्म रूप से दर्शन करना निचाय्य शब्द से कहा गया। भाष्य इसीलिये निचाय्य का अर्थ 'दृष्ट्वा च आत्मभावेन' कहता है। इमां का मतलब अपनी बुद्धि से जहां प्रत्यक्ष हो, ऐसी शान्ति। अर्थात् उपरति को अतिशय रूप से प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जब यह उपासना सिद्ध होती है तो अपनी बुद्धि से स्वतः ही उस शान्ति का पता लग जाता है। यह कोई मरने के बाद प्राप्त होने वाली स्थिति

को नहीं बताता। इस दृष्टि से यह इमां पद ध्यान देने का है क्योंकि परमेश्वर उपासना का फल किसी अन्य देश या लोक में नहीं मिलता, वरन् यहीं मिलने लगता है। यद्यपि पूर्ण की प्राप्ति में विलम्ब हो सकता है परन्तु जितना-जितना परमेश्वर का ध्यान मनुष्य करता जाता है, उतना ही उतना स्वयं अपनी बुद्धि को ही शान्ति की प्रतीति होती चली जाती है।

: १८ :

इस प्रकार परमात्मा का स्वयं साक्षात् अनुभव करके जो फल मिलता है, उसका उपसंहार करते हुए प्रकरण की भी समाप्ति करते हैं:—

*त्रिणाचिकेत: त्रयं एतत् विदित्वा य: एवं विद्वान् चिनुते नाचिकेतं।
स: मृत्युपाशान् पुरत: प्रणोद्य शोकातिग: मोदते स्वर्ग लोके॥

य: = जो	चिनुते = चयन करता है
त्रिणाचिकेत: = त्रिणाचिकेता	स: = वह
विद्वान् = उपासक	मृत्युपाशान् = मृत्यु के पाशों को
एवं = इस प्रकार से	पुरत: = सामने ही
एतत् = इन	प्रणोद्य = काटकर
त्रयं = तीनों को	स्वर्गलोके = स्वर्गलोक में
विदित्वा = अनुभव करके	शोकातिग: = शोक से अतीत हुआ
नाचिकेतं = नाचिकेत अग्नि को	मोदते = मुदित होता है।

उपनिषदों में सर्वत्र दो बातों पर जोर दिया गया है। परम्परा से प्राप्त ज्ञान के प्रति वफादारी एवं उनके भावों को अधिक गम्भीरता से अध्ययन करके उसके आधार पर नवीन प्रकार से चिंतन करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना। यद्यपि आधुनिक कई विदेशी विद्वान एवं उनके उच्छिष्ट भोजियों ने औपनिषद् ऋषियों को वेदों का विरोधी बताया है परन्तु वह सब उपनिषद् का अध्ययन करने वालों को हास्यास्पद ही लगता है। उल्टा उपनिषदों का भाव तो यह है कि जैसी भी रीति और मंत्र कर्मकाण्ड के निर्णीत हैं, वैसे ही उन्हें पूर्ण रूप से करना चाहिये क्योंकि आदि काल में

*त्रिणाचिकेत: स्वयं एतत्।

उनका वही रूप, तात्पर्य एवं उनका प्रामाण्य अति दीर्घ काल तक प्रयोगात्मक ढंग से सिद्ध हो चुका है। भूल केवल यह होती रही है कि उस रीति के या कर्मकाण्ड के भावों के प्रति लोगों की दृष्टि हटती रही है। इसका कारण उपनिषदों का अध्ययन न होना है। यदि उपनिषदों का अध्ययन कर्मकाण्ड के साथ-साथ जाग्रत रहे तो शरीर में मानो आत्मा बना रहेगा। उपनिषदों का तात्पर्य है कि बाह्य कर्म ज्ञान रूपी आत्मा के बिना नहीं करने चाहियें। आधुनिक कुछ लोगों का यह कहना कि केवल आत्मा ही आत्मा को देखकर शरीर की तरफ से दृष्टि हटा लें, उतना ही व्यर्थ है। यह बात दूसरी है कि शरीर के प्रकार देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार चलते रहें परन्तु शरीर का आधार हाथ, पैर, आंख, कान इत्यादि का बदलना तो असम्भव होता है। इसी दृष्टि से नाचिकेताग्नि का चयन जो एक बाह्य कर्म है उसको उसी रूप में स्थिर रखते हुए उपनिषद् उसके भाव का प्रतिपादन कर रहा है।

नचिकेता की जो हो, उसे नाचिकेता कहते हैं। यद्यपि यह 'अ' प्रत्यय कई अर्थों में प्रसिद्ध है परन्तु यहां भाव अर्थ में अथवा सम्बन्धी अर्थ में इसे ले लेना चाहिये। तात्पर्य है कि वैराग्य रूपी नचिकेता का जो भाव, वह परमेश्वर ही नाचिकेताग्नि है। जैसे जवान का भाव जवानी होता है, वैसे ही यहां समझना चाहिये। अर्थात् जवानी से ही जवान जवान बनता है। उसी प्रकार नाचिकेताग्नि रूप ईश्वर से ही वैराग्य वैराग्य बनता है। बिना ईश्वर के भाव के जो शुष्क वैराग्य है, वह वेदांतों में अनुपादेय, किंच अनिष्ट माना गया है। अनीश्वरवादी बौद्धों और जैनों का वैराग्य एवं उसी की नकल में वर्तमान काल में भी अनेक सम्प्रदायों में जो केवल अध्ययन, ध्यान आदि से रहित वैराग्य है, वह वेदांत दृष्टि से हेय है। अथवा नचिकेता का जो स्वामी वह नाचिकेत और वही अग्नि है। अर्थात् जिसने संसार के अन्य सभी स्वामियों को छोड़कर एकमात्र परमेश्वर को ही स्वामी स्वीकार कर लिया है ऐसा नाचिकेता। नचिकेता की अर्थात् नचिकेता सम्बन्धी होने से नाचिकेत यह अर्थ तो स्पष्ट ही है। जिसने इस प्रकार तीन बार या तीन प्रकार से नाचिकेताग्नि का चयन कर लिया एवं जितनी, जैसी और जिस प्रकार की इष्टकाओं की आवश्यकता होती है उसको जान लिया एवं उसकी उपासना कर ली, उसी का यह फल है। भाष्य तो स्पष्ट ही कहता है

'आत्मरूपेणाग्निं विद्वान् निर्वर्तयति नचिकेतं अग्नि क्रतुं' अर्थात् आत्मरूप से ही इस अग्नि को निर्वर्तन किया जाता है। इस प्रकार नाचिकेताग्नि एक प्रकार का संकल्प रूपी (क्रतु) यज्ञ ही है। अर्थात् पौनःपुन्येन जीवन में इस संकल्प को करते रहना है। इसके फलस्वरूप मृत्यु के पाश अर्थात् अधर्म, अज्ञान, राग द्वेष इत्यादि शरीर पात के पहले ही अर्थात् सामने-सामने ही नष्ट हो जाते हैं। यहां शरीर पात का मतलब मरना नहीं समझना चाहिये, वरन् देहाध्यास की निवृत्ति के पूर्व ही ये दोष हट जाते हैं। तात्पर्य है कि मरने के बाद ही फलों की प्राप्ति हो, ऐसा नहीं वरन् जीवित काल में ही मनुष्य के ये सारे दोष निवृत्त होते दीखते हैं, और जब वह स्वर्ग लोक में अर्थात् विराट् के साथ आत्मस्वरूप को पूर्ण रूप से प्रतिपन्न हो जाता है तब तो समग्र मानस दुःखों से रहित हो जाता है। गोपालेन्द्र भी यही कहते हैं **'अग्नि शब्देन तद्विषयकज्ञानं उच्यते। क्रतुं संकल्पं ध्यानं इति यावत् यो ध्यानं निर्वर्तयतियत्नेन करोति'** अर्थात् अग्नि शब्द से अग्नि विषयक ध्यान को कहा जा रहा है, और क्रतु शब्द से स्पष्टतः संकल्प रूप ध्यान कहा गया है। जो ध्यान को यत्नपूर्वक करता है, वही नाचिकेताग्नि का चयन करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३-११-८-५) में भी यही कहा है कि **'यो अग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ च एवं वेद'** अर्थात् जो इस प्रकार से नाचिकेताग्नि का चयन भी करता है और उपासना भी करता है।

: १९ :

एषः ते अग्निः नचिकेतः स्वर्ग्यः यं अवृणीथाः द्वितीयेन वरेण।
एतं अग्निं तव एव प्रवक्ष्यन्ति जनासः तृतीयं वरं नचिकेतः वृणीष्व॥

नचिकेतः = हे नचिकेता !
एषः = यह
ते = तुम्हें
स्वर्ग्यः = सुखद
अग्निः = अग्नि (हो),
यं = जिसको
द्वितीयेन = दूसरे
वरेण = वर से
वृणीथाः = चुना था
एतं = इस
अग्निं = अग्नि को
तव = तुम्हारे
एव = ही (नाम से)
जनासः = लोग

प्रवक्ष्यन्ति = कहेंगे । वरं = वर
नचिकेतः = हे नचिकेता ! वृणीष्व = चुन लो ।
तृतीयं = तीसरा

दूसरे वर से नचिकेता ने जिस स्वर्ग साधन अग्नि को मांगा था, वह उसे दे दी गई एवं जो प्रसन्न होकर के चतुर्थ वर दिया था, उसको भी उपसंहार में कह दिया । अब यम कहते हैं कि जो तीसरा वर है और जिसके न देने पर मैं अपने आपको ऋणी महसूस करता हूं, उसे अब तुम मांग लो । बिना मांगने के स्वयं ही दूसरे को अपना कर्जा वसूल करने की प्रेरणा देना यह बताता है कि यदि किसी का हमारे ऊपर ऋण है तो हमें स्वयं ही दूर करने के लिये प्रवृत्ति करनी चाहिये । यह नहीं कि जब तक बार-बार न मांगा जाये, तब तक देवे ही नहीं ।

रंग रामानुज ने यहां एक और मंत्र माना है जो भाष्य में उपलब्ध नहीं होता ।

'यो वाप्येतं ब्रह्मजज्ञात्मभूतं चितिं विदित्वा चिनुते नाचिकेतं ।
स एव भूत्वा ब्रह्मजज्ञात्मभूतो करोति तद्येन पुनर्न जायते ॥

अर्थात् जो इस ब्रह्मजज्ञात्मभूत चित् की उपासना करता है एवं नाचिकेताग्नि का चयन करता है, वह ब्रह्मजज्ञात्मभूत होकर के वह कर्म करता है जिससे फिर जन्म नहीं होता है । तात्पर्य है कि जो कोई यज्ञ की इष्टकाओं के अग्नि रूप देह से एक करके चिंतन करता है एवं उस अग्नि को ब्रह्मा से प्रथम उत्पन्न मानकर जलाता है, जिस अग्नि को नाचिकेतः कहा गया है, वह ब्रह्म से प्रथम उत्पन्न अग्नि के साथ एक हो जाता है, और इस प्रकार एक हुआ जो यज्ञ करता है, उसके फलस्वरूप फिर उसका जन्म नहीं होता । तात्पर्य है कि जो नाचिकेताग्नि से यज्ञ करता है और इसकी प्रकृति को समझता है कि यह ब्रह्मा से प्रथम उत्पन्न अग्नि है, वह वस्तुतः उसी प्रकृति का होकर पुनः जन्म मरण से रहित हो जाता है । भाषा की दृष्टि से एवं भाव की दृष्टि से भी यह मंत्र यहां समीचीन नहीं लगता परन्तु कुछ प्राचीनों ने स्वीकार किया है, इसलिये इसे यहां दे दिया है ।

: २० :

नचिकेता का तीसरा वर

यहां तक विधि और प्रतिषेध बताने वाले मंत्र और ब्राह्मणों से जिसे जानना चाहिये अथवा वरद्वयों से सूचित वस्तु का समापन कर दिया गया। इन दोनों वरों में आत्मतत्व के विषय की यथार्थ बातें नहीं बताई गई हैं। अतः अब वास्तविक उपनिषद् प्रारंभ होती है। जिस प्रकार बृहदारण्यक में प्रतिपाद्य विधि प्रतिषेध का उपसंहार करके बताया गया कि वे परम शान्ति के साधन नहीं हैं। उसी प्रकार यहां पर भी नाचिकेताग्नि को सामने रखकर बताया गया। आत्मा में क्रिया कारक फल का अध्यारोप करके जो विधि और प्रतिषेध की अर्थविषयता प्राप्त कराई जाती है अर्थात् उसे विधि और प्रतिषेध का विषय बनाया जाता है, वही स्वाभाविक अज्ञान का फल है। यह अज्ञान ही इस अध्यारोप रूपी संसार का बीज है। इसकी निवृत्ति किया कारक फल के अध्यारोप से रहित विधि प्रतिषेध से विपरीत जो ब्रह्म और आत्मा की एकता का विज्ञान है, वह आगे बताया जायेगा। यही आत्यंतिक निःश्रेयस को उत्पन्न कर सकता है। द्वितीय वर की प्राप्ति करने पर भी नचिकेता अपने आपको अकृतार्थं मानता है, यह बताकर तीसरे वर का विषय जो आत्मज्ञान है, उसके बिना कभी भी कृतार्थता नहीं हो सकती, इसको आगे के कथानक के द्वारा विस्तार से वर्णित करते हैं। नचिकेता रूपी वैराग्य को कर्म और उपासना के द्वारा मल और विक्षेप से रहित होकर सगुण ईश्वर का अहंग्रहोपासना के द्वारा साक्षात्कार भी हो गया। राग द्वेष, अधर्म, अज्ञान आदि भी उसके दूर हो गये परन्तु तब भी उसको वह परम शान्ति नहीं मिली। वैराग्य की यह तीव्रता ही उसे आगे ले जाती है, यह आध्यात्मिक दृष्टि से बताया जाता है :—

या इयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्ति
इति एके न अयं अस्ति इति च एके।
एतत् विद्यां अनुशिष्टः त्वया अहं वराणां एष वरः तृतीयः ॥

प्रेते = मरे हुए
इयं = यह
मनुष्ये = मनुष्य के बारे में
विचिकित्सा = संदेह कि
या = जो
एके = कुछ

ग्रस्ति = है	ग्रनुशिष्टः = सिखाया गया
इति = ऐसा,	ग्रहं = मैं
च = ग्रौर	एतत् = इसको
एके = कुछ	विद्यां = समझ लूं
ग्रयं = यह	एष = यह
न = नहीं	वराणां = वरों में
ग्रस्ति = है	तृतीयः = तीसरा
इति = ऐसा, (मानते हैं)	वरः = वर (है) ।
त्वया = ग्राप द्वारा	

नचिकेता कहता है कि तीसरा वर में यह मांग रहा हूं कि मनुष्य मर कर उसकी सत्ता रहती है या नहीं, इस बात का साक्षात् ग्रनुभव कर सकूं। यह प्रत्यक्ष ही है कि ग्रनादि काल से यह संशय बना रहता है एवं कुछ विद्वान् मरने के बाद मनुष्य की ग्रात्मा रहती है, ऐसा मानते हैं। इसका निर्णय न प्रत्यक्ष से किया जा सकता है ग्रौर न ग्रनुमान से। यह भाष्यकार स्पष्ट ही कहते हैं कि 'ग्रस्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वानुमानेन निर्णयविज्ञानं' ग्रर्थात् प्रत्यक्ष ग्रौर ग्रनुमान से किसी भी प्रकार मरे हुए मनुष्य के ग्रात्मा के ग्रस्तित्व के बारे में निर्णय नहीं हो सकता। ग्रतः इदानीं काल में कुछ मरे हुए लोगों के पुनर्जन्म की कथायें ग्रथवा कृतनाश ग्रकृत ग्रभ्यागम ग्रादि के द्वारा जीव की भिन्न-भिन्न स्थितियों से जो ग्रात्मा के ग्रस्तित्व का नैयायिक एवं दूसरे ग्रनुमान करना चाहते हैं, वे सब भाष्य विरुद्ध हैं ग्रौर ग्रनुभव विरुद्ध भी है। देखा भी जाता है कि इन सब कथाग्रों के पढ़ने के बाद भी किसी को दृढ़ निर्णय नहीं हो पाता कि सत्य क्या है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से ग्रतिरिक्त दूसरे देह से सम्बन्ध करने वाला ग्रात्मा है या नहीं? यह प्रश्नकर्त्ता का हृदय है। किंच, इस निर्णय के हो जाने पर ही परम पुरुषार्थ की तरफ प्रवृत्ति वास्तविक दृष्टि से बन सकती है। ग्रतः ग्राप हमें इस प्रकार से ज्ञापन करावें कि हमें इसका निर्णय हो जाये। यदि प्रत्यक्ष ग्रनुमान से यह निर्णय ज्ञान सम्भव होता तो यह वर निष्प्रयोजन हो जाता। ग्राचार्य ग्रानंदगिरि स्वामी तो स्पष्ट ही कहते हैं कि प्रत्यक्ष से स्थाणु का निर्णय हो जाने पर वह पुरुष है या नहीं ऐसा संदेह कभी देखा नहीं जाता। परन्तु शरीर से ग्रतिरिक्त ग्रात्मा के ग्रस्तित्व में ग्रनादि काल से ग्राज तक

अनेक प्रबुद्ध विद्वानों का भी संदेह ही देखा जाता है। अतः इसका प्रत्यक्ष निर्णय असम्भव है। एवं परलोक सम्बन्धी आत्मा का किसी भी अव्यभिचारी लिंग से अविनाभाव हेतु का दर्शन सम्भव नहीं। अतः अनुमान भी इस निर्णय में गति नहीं कर सकता। अतः यह विषय केवल शास्त्र के द्वारा ही जान सकते हैं, यह भाव है। गोपालेन्द्र तो शरीर से अतिरिक्त आत्मा, इन्द्रिय से अतिरिक्त आत्मा, मन से अतिरिक्त आत्मा, बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा, कर्त्ता आत्मा, भोक्ता आत्मा, अकर्ता आत्मा, अभोक्ता आत्मा, अशनायादि अतीत ब्रह्म से अभिन्न आत्मा इत्यादि प्रश्न की कई विचिकित्साओं का निरूपण करते हैं। इन सब में परलोक सम्बन्धी आत्मा का किसी भी व्याप्य लिंगक हेतु के अभाव से अनुमान का अनिश्चय समझ लेना चाहिये। जब तक इसका निश्चय न हो जाये कि मरने के बाद आत्मा है या नहीं, तब तक न जीवन ही हम शान्तिपूर्वक बिता सकते हैं और न आगे का जीवन ही। यदि आत्मा नहीं है तो फिर इस लोक में ही सुखभोग की प्रवृत्ति होगी और यदि है तो फिर इस लोक में सुख त्याग करके भी दीर्घकालीन सुख की ओर प्रवृत्ति होगी। प्रायः लोग इसका निश्चय नहीं करते, इसीलिये फुटबाल की तरह कभी आस्तिक की चोट खाकर नास्तिक की तरफ जाते हैं तो कभी नास्तिक की चोट खाकर आस्तिक की तरफ जाते हैं। गोपालेन्द्र की यह शंका कि तृतीय किधर से गिना जाये एवं आत्मविद्या और अग्निविद्या की अपेक्षा पिता की शांति भी तृतीय ही है बहुत कुछ नारद की कंस वाली युक्ति का स्मरण करा देती है। हर हालत में अवशिष्ट होने से ही यहां पर यह तीसरा कहा गया, यह समाधान कर लेना चाहिये।

इस प्रकार वल्ली की समाप्ति तक जो कर्म और उपासना के द्वारा प्राप्त होने वाला साध्य साधन लक्षण वाला फल है, वह अनित्य है, ऐसा जानकर जो उससे विमुक्त है, उसी का आत्मज्ञान में अधिकार है, यह सिद्ध करने के लिये एवं अनित्य फलों की निंदा करने के लिये पुत्र इत्यादि देने की प्रतिज्ञा करके प्रलोभन देने की कथा कही जायेगी। यद्यपि नचिकेता स्वयं वैराग्य का प्रतीक है लेकिन वैराग्य की तीव्र अवस्था उपरति को बताने के लिये यह श्लोक कहा जा रहा है। प्रायः लोग यह शंका करते हैं कि किसी के पास कोई चीज प्राप्त नहीं होगी, अतः वह वैरागी बन गया। इस शंका को जड़ से उखाड़ने के लिये श्रुति यहां नचिकेता रूपी वैराग्य को नायक बनाकर यह

सिद्ध कर रही है कि सब वस्तुओं की उपलब्धि हो जाने पर भी जो सच्चा वैराग्यवान् होता है, वह उनमें क्षयिष्णु इत्यादि दोषों को देखने के कारण कभी भी प्रवृत्त नहीं होता । गुरु के लिये भी यह नियम करती है कि शिष्य चाहे कर्म और उपासना में पारंगत हो गया हो, तब भी आत्मविद्या देने के पहले उसको अच्छी प्रकार ठोक बजाकर परीक्षा करके तभी यह ज्ञान दे । आत्मा वस्तुतः न तो विधि का प्रयोजन होने से प्रवृत्ति धर्म का अंग है और न निषेध का प्रयोजन होने से निवृत्ति धर्म का। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से परे ही आत्मतत्व है । परन्तु प्रवृत्ति के द्वारा जिसके मल दोष निवृत्त हो गये हैं और निवृत्ति के द्वारा विक्षेप दोष, उसी में संसार से भिन्न जो ब्रह्म आत्मा की एकता रूपी वृत्ति है, वह बन पाती है और उस वृत्ति में आरूढ़ जो विज्ञान है, वही उस अज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ होता है । वासना सहित अविद्या की निवृत्ति होने पर अनंत आनंद की प्राप्ति ही आत्यंतिक निःश्रेयस है । यद्यपि यह आत्मा श्रुति स्मृति में भी प्रसिद्ध है और विद्वानों के अनुभव में भी प्रसिद्ध है, परन्तु फिर भी इसका निश्चय गुरु कृपा बिना नहीं हो सकता । यह बताना भी इस आख्यायिका का तात्पर्य है । प्रलोभन का मतलब हुआ करता है दूसरे में राग उत्पन्न हो, इसके अनुकूल व्यापार करना । अतः अनेक राग वाले पदार्थों को प्रत्यक्ष निदर्शन से यमराज बतायेंगे । प्रायः करके इससे बहुत अल्प पदार्थों पर ही मनुष्यों का राग अटक जाता है एवं कई लोग तो ब्रह्मविद्या की कुशल वार्ता करते हुए भी दुअन्नी चवन्नी का लोभ भी बनाये रखते हैं । अतः इस प्रकार का ज्ञान का आभास वैराग्य दृष्टि से अति हेय अवस्था में है। उनको ज्ञान का उपदेश करना निष्प्रयोजन ही नहीं, व्यर्थ ही समय की बरबादी है। यदि आत्मज्ञानी महापुरुष कभी उन लोगों को उपदेश देते हुए दीखता भी है तो उनका भाव तत्कथनं के अनुसार अपने ही आप से आत्मविद्या विषयक वार्ता करने से हुआ करता है । उपस्थित व्यक्ति को न वह अपने उपदेश का उद्देश्य मानते हैं और न विधेय । अतः उनमें ज्ञान उत्पन्न हो, यह उनका संकल्प ही नहीं बनता और इसीलिये उस उपदेश को सुनकर किसी में ज्ञान की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती । जब तक यह मेरा शिष्य उपदेश के योग्य है, ऐसा संकल्प करके तत्व ज्ञान का उपदेश नहीं दिया जाता, तब तक वह फल उत्पन्न नहीं करता, यह सिद्धान्त है ।

: २१ :

देवैः अत्र अपि विचिकित्सितं पुरा न हि *सुज्ञेयं अणुः एषः धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतः वृणीष्व मा मा उपरोत्सीः अति मा सृज एनम् ॥

अत्र = इस विषय में
पुरा = पहले
देवैः = देवताओं द्वारा
अपि = भी
विचिकित्सितं = संशय किया गया था।
हि = चूंकि
एषः = यह
अणुः = सूक्ष्म
धर्मः = धर्म
सुज्ञेयम् = सुज्ञेय
न = नहीं (है)।
नचिकेतः = हे नचिकेता !
अन्यं = दूसरा
वरं = वर
वृणीष्व = चुन लो।
मा = मुझको
मा = मत
उपरोत्सीः = दबाओ।
एनं = यह
मा = मेरे लिये
अति सृज = छोड़ दो।

यद्यपि नचिकेता का प्रश्न लगता बड़ा सरल है मानो कि वह केवल यह पूछना चाहता है कि मरने के बाद पुनर्जन्म या दूसरे लोक की प्राप्ति होती है या नहीं, परन्तु मृत्यु यह जाने हुए है कि इसके पहले ही वह कह आया है कि मनुष्य धान की तरह गिरता है और फिर पैदा होता है। अतः केवल इतने जवाब से उसको संतोष नहीं हो सकता। किंच उसने स्वर्ग लोक जाने की अग्नि को पहले पूछा था, अतः स्वर्ग आदि के विषय में भी उसको ज्ञान है ही। अतः सरल दीखने वाले नचिकेता का प्रश्न केवल दो-चार जन्मों के विषय में नहीं है, वरन् आत्मा की नित्यता के विषय में है। वह जानना चाहता है कि क्या मुक्ति के बाद भी आत्मा व्यक्तिगत दृष्टि से बना रहता है अथवा नहीं रहता है ? क्या आत्मा कभी भी सर्वथा पूर्ण रूप से निरुपाधिक हो सकता है अथवा उसमें किसी न किसी रूप में सोपाधिकता बनी ही रहती है ? संक्षेप में मुक्त आत्मा का स्वरूप क्या है ? आत्मा की वास्तविकता ही मुक्त आत्मा कही जा सकती है क्यों कि बद्ध आत्मा तो किसी न किसी

---

*सुविज्ञेयं ।

कारण से है। कुछ लोगों ने तो इसलिये प्रेते का अर्थ ही मुक्ते कर दिया है अर्थात् मुक्त होने के बाद कुछ मानते हैं कि जीव बना ही रहता है और कुछ मानते हैं कि इश्वर से अभिन्न हो जाता है। आज भी हम लोग इस विषय में हमेशा ही पाश्चात्य दार्शनिकों के साथ विचार करते रहते हैं कि मुक्ति वैयक्तिक (Personal) है या समाष्टिगत (Cosmic)। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का तो स्पष्ट कथन है कि मुक्त होने के बाद कोई भी उपाधि नहीं रह जाती और भेद की संज्ञा बच नहीं जाती। निरुपाधिक चेतना में वैसे ही पिघल जाया जाता है जिस प्रकार बरफ की डली पानी में घुल जाती है। यह विषय इतना गुह्य था कि याज्ञवल्क्य के साथ रात-दिन रहने वाली उसकी प्रिय पत्नी मैत्रेयी भी कह उठती है कि यह बात मेरी समझ में नहीं आई। वस्तुतः जो नाम रूप की परिच्छिन्नताओं से मुक्त हो गया एवं सर्वव्यापी तत्व से एक हो गया, उसे सामान्य दृष्टि से कैसे बचा हुआ कह सकते हैं। अतः 'न अस्ति' वाला मत केवल नास्तिकों का ही नहीं है, वरन् अनेक जगह वेदों में भी उसे न अस्ति नाम से कहते हैं। यद्यपि वह किसी एक विशिष्ट चेतना वाला नहीं है परन्तु फिर भी यह नहीं कह सकते कि वह नहीं है क्योंकि उसने अपनी वास्तविकता को प्राप्त कर लिया है। आगे यम इस विषय में स्पष्ट उद्घोष करेंगे कि यही तो वास्तविक आत्मा की सत्ता है। बुद्ध ने इस विषय का कभी भी जवाब नहीं दिया कि मृत्यु के बाद तथागत बचता है या नहीं। उन्होंने यही कहा कि यदि मैं कहता हूं कि बचता है तो एक प्रकार की भूल लोग करेंगे और यदि कहता हूं कि नहीं बचता है तो दूसरे प्रकार की भूल करेंगे। परन्तु यम इस प्रकार के भय से ग्रस्त नहीं है क्योंकि समग्र वेद की परम्परा उसकी अस्तितता को बताते हुए इस प्रकार से निरूपण करती है कि किसी भी भूल की सम्भावना नहीं रह जाती। वैदिकों में भी आज जो भूल देखने में आती है, उसका मूल कारण यह है कि समग्र वेद के अध्ययन की दृष्टि का उनमें अभाव होता है। देवताओं को भी इस विषय में संदेह रहा। इसका मूल तात्पर्य यही है कि दैवी गुणसम्पन्न जो महापुरुष विद्वान् लोग हैं, उनके अन्दर भी इस विषय का संदेह सर्वथा निवृत्त नहीं होता। पौराणिक दृष्टि में तो इन्द्र, वरुण आदि देवताओं में भी इस विषय का ऐक्यमत नहीं रहा, यह भाव कहा जा सकता है। भगवान भाष्यकारों ने बृहादारण्यक भाष्य में यह स्पष्ट कर दिया है

कि मनुष्य ही दैव कहा जाता है। अतः वस्तुतः दैवी गुण सम्पन्न ही यहाँ वास्तविक तात्पर्य है। यह कहकर मृत्यु यह परीक्षा करना चाहता है कि क्या नचिकेता पूर्णतः निःश्रेयस के साधन आत्मज्ञान को ही चाहता है अथवा और किसी चीज को चाह सकता है। अत्यंत विवेक आदि से सम्पन्न व्यक्ति ही इस तत्व को समझ सकता है। यह बताने के लिये देवताओं द्वारा भी इसका संदेह पहले प्रतिपादन किया गया। जिसमें विवेक करने की सामर्थ्य नहीं होती, उसमें ज्ञान की योग्यता नहीं आ सकती। पौराणिक दृष्टि से पुरा का अर्थ हो जायेगा सृष्टिकाल में। अथवा श्रुति की नित्यता होने से हमेशा ही पुरा जो महापुरुष हुए, उनको भी संदेह हुआ, यह अर्थ तो सुस्पष्ट ही है।

यहां धर्मः शब्द आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। आधुनिक अनेक लोगों ने गौड़पादीय कारिका में आत्मा के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग देखकर उन्हें बौद्ध परवर्ती माना है एवं कुछ ने तो उन्हें बौद्धों का ऋणी माना है क्योंकि धम्म शब्द का प्रयोग प्रायः बौद्ध ग्रन्थों में ही जीववाचक आया है। परन्तु यहां इस शब्द का प्रयोग देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि गौड़पाद भगवान वेद के ऋणी थे, किसी बौद्ध सम्प्रदाय के नहीं। किंच, इसके द्वारा श्रुति यह भी ध्वनित कर रही है कि प्रत्यगात्मा का विचार स्वतः अपने में एक पूर्ण धर्म है। आजकल प्रायः करके वेदांत को स्मार्त या पौराणिक धर्मों का पिछलग्गू माना जाता है अर्थात् जो पहले उन धर्मों को मानते हों, वही फिर आत्मज्ञान में प्रवृत्त हो सकते हैं। परन्तु श्रुति तो स्वयं इस आत्मा को ही एक धर्म कह रही है। अतः अन्य किसी धर्म के अधीन आत्मज्ञान नहीं है वरन् यह अपने में परिपूर्ण धर्म है। परन्तु यह धर्म सूक्ष्म (अणु) है। अतः साधारण आदमी को कठिन प्रतीत होता है। जो लोग प्रकृति और उसकी क्रियाओं में आसक्त होते हैं, उनको तो सुनकर के भी यह विषय सरलता से समझ में नहीं आता। यहाँ अणु का अर्थ आत्मा का अणुपरिमाणी होना नहीं है। अनेक द्वैतवादी अणु का यह तात्पर्य देते हैं परन्तु वह अप्रासंगिक है। यहां तो केवल उसकी सूक्ष्मता बताने में ही तात्पर्य है। विचिकित्सितं, सुज्ञेयम् वस्तु की दृष्टि से नपुंसक लिंग किये गये हैं एवं धर्मः आत्मा की दृष्टि से पुल्लिग।

आगे मृत्यु कहती है कि हे नचिकेता ! यदि इसका उपदेश तुमको दिया तो भी तुम उसको समझ पाओगे या नहीं, अतः तुम किसी निस्संदिग्ध फल

वाले दूसरे वर का वरण कर लो। आत्मज्ञान के वरदान के लिये, चूंकि मैंने वरदान दे दिया है, इसलिये मैं तुमसे बंधा हुआ हूं, इस बात के कारण दबाव मत डालो। जिस प्रकार उधार देने वाला उधार लेने वाले को दबाता है, उस प्रकार तुम मुझे मत दबाओ, यह वर तुम मेरे लिये छोड़ दो और जो कुछ भी तुम मांगना चाहो, वह मेरे से मांग लो।

: २२ :

इस प्रकार यम के द्वारा सम्बोधित करने पर नचिकेता कहता है :—

देवैः अत्र अपि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यत् न सुज्ञेयं आत्थ वक्ता च अस्य त्वादृक् अन्यः न लभ्यः न अन्यः वरः तुल्यः एतस्य कश्चित्।

अत्र = इस वस्तु में
देवैः = देवताओं द्वारा
अपि = भी
किल = निश्चित रूप से
विचिकित्सितं = संदेह किया गया
च = और
मृत्यो = हे मृत्यु !
यत् = जिसको
त्वं = तुम
सुज्ञेयं = सुज्ञेय
न = नहीं
आत्थ = कहते हो

च = तथा
अस्य = इसका
वक्ता = उपदेशक
त्वादृक् = तुम्हारे जैसा
अन्यः = दूसरा
लभ्यः = सुलभ
न = नहीं।
कश्चित् = कोई भी
एतस्य = इसके
तुल्यः = बराबर
अन्यः = दूसरा
वरः = वर
न = नहीं (है)।

किल के द्वारा नचिकेता यह कहना चाहता है कि हमने आपसे ही अभी-अभी सुना है कि देवताओं को भी इस विषय में संदेह रहा है। अतः यह निस्संदिग्ध है क्योंकि आपका कथन सब प्रकार से सत्य होता है। इसके द्वारा श्रुति यह कह रही है कि शिष्य का गुरु के वचन पर इतना दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि कहते ही 'वह ठीक ही है', ऐसी वृत्ति बने।

उनका मतलब कुछ और रहा होगा अथवा अतिशयोक्ति कर रहे होंगे आदि आदि संदेह नहीं उठाने चाहियें। अन्यथा जिन देवताओं को सारे ज्ञान अप्रतिहत होते हैं वे भी इसके विषय में संदिग्ध हैं, यह सुनकर सामान्यतः लोग अतिशयोक्ति ही मानते हैं। पंडितों के द्वारा भी इस चीज को समझा नहीं जा सकता है, अतः अन्य पंडितों से भी इस तत्व को पूछना सम्भव नहीं है। चूंकि मृत्यु ! तुम इस तत्व को पूरी तरह से जानने वाले हो, अतः तुम्हारे जैसा कोई दूसरा पंडित इसका उपदेशक नहीं मिल सकता चाहे हम कितना ही ढूंढ़ें। 'त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नहि उपपद्यते' के द्वारा गीता में भी यही कहा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि देवताओं को मरने के बाद जीने के विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता। अतः यह तो समग्र उपाधियों से रहित आत्मा को लेकर के ही प्रश्न चल रहा है। अन्य सभी वरदान अल्प फल देने वाले हैं और यह वरदान निःश्रेयस् प्राप्ति का हेतु है। अतः अनित्य फल देने वाले वरदानों से नित्य फल देने वाला वरदान कभी भी समान नहीं हो सकता।

: २३ :

इस प्रकार कहने पर भी मृत्यु फिर से उसे प्रलोभन देते हुए कहते हैं:—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यं अश्वान्।
भूमेः महत् आयतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदः यावत् इच्छसि॥

शतायुषः = सौ बरस की आयु वाले
पुत्रपौत्रान् = बेटे पोतों को
वृणीष्व = मांग लो।
बहून् = बहुत से
पशून् = गौ आदि पशु,
अश्वान् = घोड़े,
हस्तिहिरण्यं = हाथी, सोना,
भूमेः = पृथ्वी का
महत् = विस्तृत
आयतनं = राज्य
वृणीष्व = मांग लो;
च = तथा
स्वयं = खुद
यावत् = जितनी
इच्छसि = इच्छा करते हो (उतने)
शरदः = साल
जीवः = जियो।

प्राचीन काल में पशु ही प्रधान धन था, इसलिये हाथी, घोड़े, गाय इत्यादि गिना दिये गये। अन्य पदार्थों की उपलक्षणा सोने से होगी। कोई अपने ऊपर राज्य करने वाला न हो, इसलिये विस्तृत राज्य भी कह दिया। यद्यपि आयतन का अर्थ आश्रय या मण्डल होता है लेकिन यहां आयतन से जनपद के रक्षण में लक्षणा कर लेनी चाहिये। यदि मनुष्य स्वयं अल्पायु हो तो यह सब भोग निरर्थक हो जाते हैं। इसलिये कह दिया कि सारे ही इन्द्रिय समूह के साथ तुम भी जितने बरस चाहो, उतने बरस शरीर धारण करो। जीव का अर्थ करते हुए सर्वज्ञ शंकर कहते हैं **'धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं'** इससे सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में जब तक मनुष्य के सारे इन्द्रिय समूह अविकल और पटु होते हैं, तभी तक उसे जीना कहा जाता है। आंख से दिखे नहीं, पैर से चला न जाये, उसको वस्तुतः जीवित व्यक्ति नहीं कह सकते क्योंकि सारी उपाधियों से युक्त ही तो जीवन है, क्योंकि मृत्यु किसी एक घटना का नाम नहीं है वरन् जो-जो इन्द्रियां कमजोर होती जाती हैं, उनकी-उतनी मृत्यु होती ही जाती है।

: २४ :

एतत् तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतः त्वं एधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥

नचिकेतः = हे नचिकेता !
एतत् = इसके
तुल्यं = जैसा
यदि = यदि
वरं = (किसी) वर को
मन्यसे = मानते हो (तो)
वृणीष्व = मांग लो।
च = तथा
वित्तं = धन,
चिरजीविकां = चिर जीवन (सहित)

महाभूमौ = बड़ी भूमि में
त्वं = तुम (राजा)
एधि = बनो।
त्वा = तुमको
कामानां = कामनाओं की
कामभाजं = काम की योग्यता वाला
करोमि = बनाता हूं।

प्राय: मनुष्य के सामने जब तक भोग्य पदार्थों का स्मरण नहीं होता तब तक उनके प्रति राग की तीव्रता नहीं आती। इसीलिये विज्ञापन इत्यादि के द्वारा बनिया दूसरों को ठगता रहता है। यहां पर मृत्यु वही कार्य कर रहा है। अर्थात् नचिकेता को जिसकी याद भी न हो, ऐसे पदार्थों को बार बार गिनाकर उनमें राग पैदा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके द्वारा श्रुति यह कहती है कि वैराग्य की परीक्षा के लिये शिष्य को तरह तरह के भोग्य पदार्थों के बीच ले जाना चाहिये एवं यदि उसमें कुछ भी राग अवशिष्ट होगा तो वह स्वभाव से उसको पकड़ लेगा। इससे यह भी प्रतीत होता है कि एकान्त में जाकर जो मनुष्य वैराग्य को दृढ़ करना चाहते हैं, वह वस्तुत: दृढ़ नहीं हो पाता। उल्टे पदार्थों के बीच में रहने पर ही अपने राग या वैराग्य की परीक्षा होती है। गोपालेन्द्र तो ऐसा मानते हैं कि यहां पर तुल्य शब्द का अर्थ अधिक को उपलक्षणा के लिये है अर्थात् बड़ा भी यदि कोई वर तुम अपने मन में सोच रहे हो तो उसे मांग लो। अथवा पुत्र, धन आदि एक-एक करके वर रूप से कहे गये हैं। परन्तु जब नचिकेता को उनकी तरफ आकृष्ट होते नहीं देखा तो उन सबका समुच्चय करके यम कहते हैं कि उन सभी को मांग लो। यहां वित्त का अर्थ हिरण्य, रत्न आदि अत्यधिक वित्त लेना चाहिये। इसी प्रकार से जीवन, धन और राज्य के साथ भी समुच्चय समझना चाहिये। अस् भुवि धातु के लोट् मध्यम पुरुष एक वचन में एधि निपातन से बनता है। अत: यहा बड़ी भूमि में बढ़ो, यह अर्थ होता है। सप्तमी अधिष्ठान में होने से तुम उसके अधिष्ठाता अर्थात् राजा बनो, ऐसा तात्पर्य है। अन्य भी दिव्य या मानुष जो भी कामनायें हों जिनको तुम भोगना चाहो, तुम्हें उनके भोगने के लायक मैं कर देता हूँ क्योंकि मैं सत्यसंकल्प देवता हूं। भाष्यकार यहां अपनी तरफ से लगाते हैं **'सत्यसंकल्पो हि अहं देव:'** अत: देव का लक्षण ही हुआ जो सत्य संकल्प हो। अप्रतिहत ज्ञान, ऐश्वर्य, तेज, बल वाला ही सत्यसंकल्प वाला हुआ करता है और उसी को वेदों में अनेक जगह देव शब्द से कहा गया है। ब्रह्मवेत्ता में स्वत: इस प्रकार का अप्रतिहत ज्ञान आदि आ जाता है। इसीलिये ब्रह्मवेत्ता को देव शब्द से अनेक जगह बताया गया है। तात्पर्य है कि रम्भा, उर्वशी, कल्पवृक्ष, कामधेनु आदि का भोग मनुष्य नहीं कर सकता परन्तु मैं तुमको ऐसी कामनाओं को भोगने की सामर्थ्य वाला भी

बना सकता हूं । इसके द्वारा श्रुति यह भी बता रही है कि सत्य संकल्प व्यक्ति, जिसने कर्म न किया हो, ऐसे पुरुष को भी इष्ट प्रदान कर सकता है । कामभाजन का अर्थ कामार्ह है । कुछ लोगों ने एधि का अर्थ बढ़ा (Prosper) भी किया है । अर्थात् इस महान भूमि पर हे नचिकेता ! तुम सबकी अपेक्षा अधिक बढ़े हुए बन जाओ । मैं तुम्हें सभी कामनाओं को भोगने वाला बना दूंगा । यहां बाइबल के वह वचन भी याद आते हैं जिसमें शैतान (Devil) ईसा को समग्र संसार का राज्य एवं अन्य सब चीजों के ऊपर अधिकार देने को कहता है परन्तु ईसा उन सबको अस्वीकृत कर देता है । कुछ लोगों ने तो ऐसा भी माना है कि अंत में शैतान ने कहा कि ये सब लोग तुम्हारे मानने वाले बन जायेंगे और तुम ही सबसे बड़े माने जाओगे एवं यह सुनकर ईसा ने स्वीकृति दे दी । परन्तु यहां नचिकेता तो इस वरदान को भी अस्वीकृत कर देता है । बुद्ध को भी मार ने इसी प्रकार प्रलोभन दिया था । परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि द्वैतवाद से ग्रस्त बाइबल में प्रलोभन देने वाला शैतान और ईश्वर अलग-अलग हैं । इसी प्रकार बोधि और मार अलग-अलग हैं । परन्तु वेदांत में अद्वैतवाद स्वीकृत होने से गुरु और ईश्वर ही तत्वज्ञान भी देते हैं और वही प्रलोभन भी देते हैं । यही वेदांत की विलक्षणता है क्योंकि यहां इन दोनों विरुद्ध तत्वों में भी एकता का ही दर्शन है ।

: २५ :

ये ये कामाः दुर्लभाः मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः न हि ईदृशाः लम्भनीयाः मनुष्यैः ।
आभिः मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतः मरणं मा अनुप्राक्षीः ।।

मर्त्यलोके = मृत्युलोक में	छन्दतः = इच्छा से
ये = जो	प्रार्थयस्व = मांग लो ।
ये = जो	इमाः = ये
दुर्लभाः = दुर्लभ	सरथाः = वाहनयुक्त,
कामाः = काम्य पदार्थ (हों)	सतूर्याः = तुरहीयुक्त
सर्वान् = सब	रामाः = अप्सरायें
कामान् = काम्य पदार्थों को	हि = जिन

ईदृशाः = जैसी
मनुष्यैः = मनुष्यों के द्वारा
न = नहीं
लम्भनीयाः = पाई जाती हैं ।
मत्प्रत्ताभिः = मेरे द्वारा दी हुई
आभिः = इनके द्वारा
परिचारयस्व = सेवा करवाओ ।
नचिकेतः = हे नचिकेता !
मरणं = मरण को
मा = मत
अनुप्राक्षीः = पूछ ।

इतना कह देने पर भी जब मृत्यु ने देखा कि नचिकेता किसी भी प्रकार ढीला नहीं पड़ रहा है तब अंत में उसको कहते हैं कि जो कुछ भी प्रार्थना के योग्य अर्थात् चाहने के योग्य मानव लोक में दुर्लभ पदार्थ हैं, उन सबको एक साथ ही, जो अपनी इच्छा हो, उसके अनुसार मांग ले । मृत्यु ने देखा कि इससे भी उसमें किसी प्रकार पदार्थों की कामना उत्पन्न नहीं होती है, तब अंत में उसके ऊपर अंतिम अस्त्र का प्रयोग किया । संसार में देखा जाता है कि जो किसी भी भोगों से लुब्ध नहीं होता, वह भी अप्सराओं के द्वारा हरा दिया जाता है । विश्वामित्र, पराशर, आदि सभी इसमें दृष्टांत हैं । अतः मृत्यु ने कहा कि इन दिव्य अप्सराओं को तू ले ले और ऐसा कहते हुए इमाः शब्द से श्रुति यह बता रही है कि उन अप्सराओं को दिखा भी दिया । वे अप्सरायें दिव्य रथों पर बैठी हुई थीं एवं साथ ही दिव्य वाद्य भी बज रहे थे । मृत्यु कहते हैं कि इन अप्सराओं के (वासना रूप) जो-जो वाद्य व वाहन हैं वे भी साथ में ही तुम्हें मैं दे दूंगा । सबसे अंत में सतूर्य कहकर के श्रुति यह ध्वनि कर रही है कि नाद ही मानव का अंतिम बंधन है। यह ठीक भी है क्योंकि आकाश प्रथम भौतिक विकार है एवं नाद उसका ही गुण है । रामाः में बहुवचन के द्वारा यह बताया कि केवल एक ही अप्सरा को तू ले सके, ऐसा नहीं, वरन् सभी या अनेकों को ले सकता है । नचिकेता का वैराग्य इस दृष्टि से अत्यधिक महत्ता का हो जाता है क्योंकि उर्वशी, घृताची, रंभा आदि एक एक अप्सरा ने ही ऋषियों को आकृष्ट किया था । अर्जुन भी केवल एक उर्वशी के द्वारा आकृष्ट किया गया था । यहां नचिकेता के सामने सभी अप्सरायें एक साथ उपस्थित होने पर भी वह आकृष्ट नहीं हो रहा है । रामाः पद के द्वारा श्रुति यह शंका निवृत्त कर रही है कि द्यु लोक में उत्पन्न होने के कारण सम्भवतः ये अप्सरायें मनुष्यों के भोग के लायक न हों । अतः **'रमयन्ति पुरुषान् इति रामाः'** इस

व्युत्पत्ति से पुरुषमात्र को ये रमण करवाने में सामर्थ्य वाली हैं, यह तात्पर्य है और यही मानवीय स्त्रियों से इनमें भेद है क्योंकि मानवीय स्त्रियां ऐसा नहीं कर सकतीं। वाहन और वाद्य भोगों के विशिष्ट साधन हैं, यह तो स्पष्ट ही है। मनुष्यों के द्वारा इनको नहीं लभा जा सकता, इसका तात्पर्य ही यह है कि देवताओं के प्रसाद के बिना उनको नहीं प्राप्त किया जा सकता। देव प्रसाद से तो उनकी प्राप्ति होती ही है। यद्यपि ये अप्सरायें दिव्य हैं परन्तु यह भय नहीं करना कि वे दिव्य रूप हमसे अपनी सेवा करायेंगे। वे तुम्हारी सेवा ही करेंगी। इतने पर भी जब नचिकेता को उनके प्रति सर्वथा लुब्ध होते नहीं देखा तो अंत में घबराकर मृत्यु कहता है कि कौए के दांत की परीक्षा की तरह मरण सम्बन्धी प्रश्न को व्यर्थ समझकर तू छोड़ दे। मरणं का अर्थ मरणसम्बद्ध प्रश्न में लक्षणा कर लेनी चाहिये। इस प्रश्न को पूछना योग्य नहीं, यह उसका भाव है।

इस मंत्र में छः पाद हैं। यह मंत्र इस दृष्टि से भी ध्यान देने योग्य है कि तैत्तिरीय संहिता कहती है **'नाग्नीन् चित्वा रामामुपेयात्'** अर्थात् अग्नि का चयन करने के बाद रामाओं से भोग न करे। अभी-अभी नचिकेता नाचिताग्नि का चयन कर चुका है और उसको फिर इस प्रकार का प्रलोभन देना विचित्र सा लगता है, और इसी से पता लगता है कि यह आख्यान तत्त्व प्रतिपादन के लिये है, केवल किसी कथानक का विस्तार करने के लिये नहीं। मैक्समूलर और ह्यूम तो यह संकेत करते हैं कि नचिकेता को केवल अग्नि-चयन का उपदेश दिया गया है परन्तु उसने वस्तुतः अग्निचयन नहीं किया। अतः रामाओं का प्रलोभन ठीक ही है। परन्तु यह भी संगत नहीं लगता। फिर तो ऐसी व्यवस्था बना लेनी चाहिये कि अग्नि चयन के फल को प्राप्त कर लेने के कारण नचिकेता अग्नि चयन के नियमों से स्वतंत्र हो गया है। नचिकेता के तैत्तिरीय ब्राह्मण की कथा में यह प्रलोभन वर्णित नहीं है क्योंकि वहां का प्रसंग केवल नाचिकेताग्नि का निरूपण करने के लिये है। अतः वहीं उसकी समाप्ति हो गई है। वैराग्य रूप आगे आने वाली ब्रह्मविद्या तो उपनिषद् से सम्मत होने के कारण यहां पर ही बताई गई है। अतः कुछ आधुनिक प्राच्यविदों (Orientalist) का यह कहना कि यहां की कथा मार के बुद्ध जातकों की छाया रूप है, सर्वथा असंगत है। उल्टा यह मानना ज्यादा समीचीन होगा कि नचिकेता की कथा में से मार की कथा का उद्गम

हुआ और मार की कथाओं को एशियामाइनर में जाने वाले भिक्षुओं से सुनकर ईसा की कथा में प्रवेश हो गया। जैसा पहले कह आये हैं, यहां जब मृत्यु परीक्षा कर लेता है तो स्वयं ही नचिकेता को गुह्य ब्रह्मज्ञान का उपदेश देता है जिससे अनंत जीवन की प्राप्ति होती है एवं नचिकेता मुक्त हो जाता है। इस प्रकार का कोई भी भाव बुद्ध या ईसा की कथाओं में नहीं है।

: २६ :

इस प्रकार प्रलोभित करने पर समुद्र की तरह अक्षुब्ध हुआ नचिकेता उत्तर देता है : —

श्वोभावा: मर्त्यस्य यत् अन्तक एतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितं अल्पं एव तव एव वाहाः तव नृत्यगीते ॥

अंतक = हे सबका अंत करने वाले !	सर्वं = सारी
	जीवितं = आयु (हो)
श्वोभावा: = कालान्तर में संदिग्ध सत्ता वाले पदार्थ	अल्पं = थोड़ी
	एव = ही (है)।
सर्वेन्द्रियाणां = सब इन्द्रियों के	तव = तुम्हारे
एतत् = इस	एव = ही
तेजः = तेज को	वाहा: = वाहन
जरयन्ति = जीर्ण कर देते हैं;	तव = तुम्हारे
यत् = जो	नृत्यगीते = नाचगान (तुमको मुबारक)।
अपि = भी	
मर्त्यस्य = मनुष्यों की	

सब प्रकार से वैराग्य वाले, शम, दम आदि सम्पन्न परमहंस का ही आत्मज्ञान में अधिकार है, इसका सूचन करते हुए श्रुति नचिकेता के ज्ञानाधिकार को बताने के लिये उसके द्वारा वैराग्य को हेतुपूर्वक बताती है। तात्पर्य है कि वैराग्य दो प्रकार का है। एक पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनके प्रति वैराग्य और दूसरा पदार्थों से दुःख भोग करके उनके प्रति वैराग्य। इसमें दुःख से होने वाला वैराग्य ज्ञान का साधक नहीं है परंतु जो विवेकजन्य वैराग्य होता है वही ज्ञान का साधक है। वस्तुतः आगे के

मंत्रों में नचिकेता कहेगा कि आपकी कृपा से धन, उमर आदि तो हमको मिल ही जायेंगे। परन्तु इस मंत्र में यह कहते हैं कि वह मिलने पर भी आत्मजिज्ञासा को शांत नहीं कर सकते। अनुभव में भी देखने में आता है कि दुःखजन्य वैराग्य में पदार्थों के प्रति एक घृणा उत्पन्न हो जाती है और वह घृणा भी एक प्रकार का बंधन ही है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध प्रकाशानन्द सरस्वती के पास जब प्रयाग में मीरा गई थी तब उन्होंने स्त्री से मिलना इन्कार कर दिया था। मीरा ने जवाब में पुछवाया था कि क्या वे अब भी आत्मा को देह से भिन्न नहीं समझ पाये हैं जो किसी से मिलने में उनको पुरुषत्व और स्त्रीत्व की अनुवृत्ति चल रही है। इस प्रश्न से प्रकाशानन्द सरस्वती के अन्तर में नई स्फुरणा हुई एवं वह तुरंत बाहर आ गये और उस दिन से उन्होंने अपना वह नियम छोड़ दिया। तुलसी के साहित्य को पढ़ने पर भी लगता है कि पत्नी के वचनों की चोट वह अंत काल तक नहीं भूल पाये और स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में एक जुगुप्सा का भाव बना ही रहा। अतः दुःखजन्य वैराग्य में जो पदार्थों के प्रति घृणा का अनुवर्तन रहता है वह ज्ञान का बाधक होता है, साधक नहीं। परन्तु पदार्थों के स्वरूप के ज्ञान से जो दृष्टि बनती है उसमें यह बाधक भाव नहीं आ पाता। जैसा यहां नचिकेता कहता है कि ये पदार्थ तो हमें प्राप्त हो ही जायेंगे अर्थात् पदार्थ दुःख के कारण हैं, ऐसा नहीं, वरन् परम कल्याण के साधन नहीं। उसी प्रकार याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं कि मुझे व्यवहार के लिये गायें चाहिये, परमार्थ के लिये तुम्हें आत्म ज्ञान दूंगा। वहां भी पदार्थों के प्रति कोई घृणा नहीं है। बौद्ध, जैन और मध्यकालीन संत परम्परा का जो वैराग्य है वह दुःखप्रयुक्त होने के कारण अद्वैत दृष्टि में वस्तुतः एक प्रकार का बंधन ही है क्योंकि घृणा राग का ही एक रूप है। नचिकेता का वैराग्य ही अद्वैत दर्शन का आदर्श वैराग्य है, अतः अब श्रुति नचिकेता के उस विवेक का प्रतिपादन करती है।

श्वः भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वा इति संदिह्यमानः एव येषां भावः कल रहेंगे या नहीं रहेंगे, इस प्रकार जिनके विषय में हमेशा ही संदेह बना रहता है एवं इस प्रकार की संदिग्धता ही जिनका भाव अर्थात् रूप है, वे पदार्थ-श्वोभाव हैं। हे अंतक! आपने जितने भी पदार्थ, पुत्र, पशु, स्वर्ण, राज्य, उमर, रामायें इत्यादि बताई हैं तथा जितने भी पदार्थों का मैं मन में चिंतन

कर सकता हूं, वे सारे के सारे इसी कोटि में प्रतीत होते हैं। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि नचिकेता न बौद्धों की तरह पदार्थ अगले क्षण नहीं ही रहेंगे, यह कह रहा है एवं न रहेंगे ही, ऐसा कह रहा है। अतः यह हेतु वेदांत के मायावाद का उत्तम हेतु है। यही पदार्थों की वास्तविकता है। चूंकि पदार्थ हमेशा बने रहेंगे, ऐसी वासना हमारे अंतःकरण में रहती है, अतः प्रायशः उनके न रहने वाले पक्ष को प्रबल बनाने के लिये अनेक वेदांत ग्रन्थों में उसी का प्रतिपादन किया जाता है। परन्तु जैसा कि ब्रह्मसूत्र के क्षणिकवाद भंग प्रसंग में आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं कि पदार्थों की क्षणभंगुरता भी वेदांत को स्वीकृत नहीं है। अनेक आलोचक उस प्रसंग से यह बताना चाहते हैं कि भाष्यकार शंकर केवल बौद्धों का खण्डन करने के लिये यह युक्ति देते हैं क्योंकि वस्तुतः वे भी पदार्थों को अविनाशी मानते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। वस्तुतः वेदांत में पदार्थों को अस्थिर और स्थिर दोनों भावों से रहित अनिर्वचनीय ही माना गया है और वही यहां नचिकेता कह रहा है। जीवन में यही भाव हमें दृढ़ करते रहना चाहियें और जब यह हमारी दृढ़ वासना बन जाती है तब किसी भी पदार्थ के विषय में अग्रिम क्षण के बारे में हम सत् और असत् दोनों भावों से रहित हो जाते हैं। यही वास्तविक अनिर्वचनीयतावाद का स्वरूप है। नचिकेता को यह भाव प्राप्त है।

आगे नचिकेता कहता है कि ये पदार्थ जब भोगे जाते हैं तो कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय एवं मन, बुद्धि आदि सभी इन्द्रियों का क्षय ही करते हैं अर्थात् इन्द्रियों की तेजस्विता भोग से क्षीण होती चली जाती है। इस दृष्टि से भी वे पुरुष के उपकारी नहीं हैं, यह भाव है। अप्सरा इत्यादि जितने भी भोग हैं, चाहे दिव्य हों, चाहे मानुष, भोगने पर वीर्य, धर्म, तेज, यश आदि को क्षीण ही करते जाते हैं। जो भोग भोग लिये गये, उस भोग को भुगताने वाला धर्म अर्थात् पुण्य तो समाप्त हो ही गया एवं उस भोग में जो अपनी सामर्थ्य क्षीण हो गई, उतनी तो इन्द्रियों की सामर्थ्य भी क्षीण हो ही गई। जैसे यदि हम पांच घण्टा गाने की सामर्थ्य वाले हैं एवं हमने पांच मिनट गा लिया तो अब हमारी सामर्थ्य चार घण्टा ५५ मिनट की ही बच गई। इसी प्रकार प्रज्ञा के विषय में भी समझ लेना चाहिये। वाणी की प्रगल्भता को तेज कहते हैं, अतः वह भी क्षीण होती जाती है। शरीर पर जो एक त्वक् में दीप्ति होती है, वह भोग के अनंतर क्षीण हो जाती है एवं प्रायः भोगी के चेहरे को

देखने से ही पता लग जाता है कि इसमें वह पहले वाली चमक नहीं है। आजकल लोग प्रसाधन सामग्री से जो दीप्ति लाने का प्रयास करते हैं वह कितना उपहासास्पद है, यह किसी भी स्वाभाविक तेजस्वी व्यक्ति को देखते ही पता लग जाता है। इतना ही नहीं, भोगी भी यदि कुछ मासों तक भोगों से दूर रहता है तो उसमें भी तेज आने लग जाता है। बौद्धिक तेज भी भोगी का क्षीण होता चला जाता है। प्रायः देखने में आता है कि जो विद्यार्थी अध्ययन काल में स्वर्णपदक प्राप्त करता है, वही विवाह के बाद एक चिट्ठी लिखने में भी गलतियां करने लगता है। अनेक लोग जो यह कह देते हैं कि वृद्धावस्था के कारण दिमाग काम नहीं करता या स्मृति क्षीण (Senility) हो रही है, वे वस्तुतः अपनी युवावस्था और प्रौढ़ावस्था के भोगों के द्वारा क्षीण हुई है, इस बात को ही प्रकारान्तर से कह रहे होते हैं। १२५ वर्ष की उमर में श्रीकृष्ण, १५० वर्ष की उमर में भीष्म, २२५ वर्ष की उमर में वशिष्ठ क्रमशः उद्धव, युधिष्ठिर एवं श्री राम को जिस प्रकार स्पष्ट उपदेश देते हैं, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि उमर का प्रज्ञा से वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है। जितना-जितना मनुष्य भोग करता है, उतनी ही उतनी उसकी प्रज्ञा क्षीण होती है। यह तो अनेक स्थलों पर देखा जाता है। यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान से ही सिद्ध हो जाती है। अतः किसी आगम की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार भोगों का भोगना अनर्थ के लिये ही होता है। अंतक विशेषण के द्वारा यह बता रहे हैं कि चाहे तुम कितने भी पदार्थों को दो, चाहे जितनी लम्बी आयु दो लेकिन जब तक तुम अंत करने वाले मौजूद हो, तब तक ये सब नित्य हो सकें, यह तो सम्भव ही नहीं है। किंच, जब आपका दर्शन कर लिया, तब हम किसी भी पदार्थ का भोग क्यों न करें और कितनी भी लम्बी आयु क्यों न हो, आपकी स्मृति कि ये पदार्थ एक दिन आप समाप्त कर देंगे, हमेशा ही सालती रहेगी एवं अब तो हमारे लिये उन भोगों में किसी प्रकार का अज्ञानजन्य सुख भी नहीं बन पायेगा। वस्तुतः अब तक नचिकेता ने यम वैवस्वत, मृत्यु और अंतक इन चार नामों का प्रयोग किया है। वैसे धम्मपद आदि बौद्ध ग्रन्थों में अंतक शब्द का प्रयोग अधिक है एवं पुराणों में यम का। वाजसनेयसंहिता में तो **'यमाय स्वाहा, अंतकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा'** इत्यादि में इन शब्दों का अलग अलग स्मरण किया ही है। परन्तु यहां अंतक शब्द से यह विशिष्ट ध्वनि श्रुति को इष्ट प्रतीत होती है।

अग्रिम श्लोक में कहा हुआ चेत् तथा जीवन की अल्पता भी एक सौन्दर्य ला देती है, और अंतिम वाक्य कि वाहन और नृत्यगीत आपके ही हैं, अतः आपको ही मुबारक रहें, भी एक विशिष्ट अर्थ का आपादन कर देते हैं। चूंकि अगले मंत्र में कहेंगे कि वित्त, उमर इत्यादि भी आपकी कृपा से मिल ही जायेंगे, अतः नचिकेता यह ध्वनि कर रहा है कि जब पदार्थ हमारे पास भी होते हैं तब भी वस्तुतः वे अंत करने वाले अंतक के ही होते हैं क्योंकि वह कब उनका अंत कर देगा, इसका कोई ठिकाना नहीं हैं। अतः जब पदार्थों का हम भोग कर रहे होते हैं, तब भी यह स्मृति हमारे अंदर बनी रहे कि हैं ये अंतक के ही, तो पदार्थ का नाश दुःख का कारण नहीं बनेगा। जो पदार्थों की स्थिति है, वही इन्द्रिय, मन आदि की भी है, अतः इन्द्रिय मन आदि भी हमारे नहीं, अंतक के ही हैं, फिर उन इन्द्रियों की जीर्णता भी हमें दुःख नहीं देगी। वस्तुतस्तु प्रतिक्षण पदार्थ क्षीण होता चला जा रहा है और यही उसकी वास्तविक अंतक की अधीनता है। अंत करने वाले अंतक की तरह जो अल्प अंत होता है, उसे भी अंतक कह सकते हैं। अर्थात् पदार्थ चाहे सर्वथा शून्य में न जाये लेकिन थोड़ा-थोड़ा तो उनका अंत होता ही रहता है। इस दृष्टि से जो सर्वम् अर्थात् ब्रह्मा की भी आयु है, वह भी अल्प ही है क्योंकि उसमें भी प्रतिक्षण खतम होना जारी है और कुछ न कुछ खतम होती है। यह प्रतीति तो भय का कारण बनी ही रहती है। जब पूर्ण आयु अर्थात् ब्रह्मा की आयु की यह हालत है तो हम मानवों की दीर्घजीविता का तो कहना ही क्या। भगवान भाष्यकार यहां सर्वम् जीवितं का तात्पर्य **'अस्मदादि दीर्घजीविता'** कहकर यह बताना चाहते हैं कि मानव की आयु कभी भी सीमा से बाहर नहीं जा सकती क्योंकि श्रुति ने सौ वर्ष इसकी मर्यादा कर दी है। पुरुष शब्द का प्रयोग युवक में होने के कारण बीस वर्ष यदि बालक के छोड़ दिये जायें तो १२० वर्ष मनुष्य की परम आयु होती है। यहां भी पूर्ण आयु वाले के तात्पर्य में मृत्यु ने भी शतायुषं कहा था। ज्योतिष शास्त्र भी विंशोत्तरी दशा के अनुसार १२० वर्ष ही मनुष्य की पूर्ण आयु मानता है। १५० वर्ष की उमर तक जीने वाले भीष्म पितामह को अति दीर्घ जीवन वाला माना गया है। अतः पुराणों में जो हजारों वर्षों की आयु का वर्णन पाया जाता है, वह या तो मीमांसा में प्रोक्त वर्ष का अर्थ दिन करके संगत कर लेना चाहिये अथवा सहस्र शब्द का पूर्ण

अर्थ मानकर के। इन दोनों के अभाव में तो उन्हें अतिरंजित चित्र ही मानना पड़ेगा। अतः भाष्यकार यहां पर सर्वम् जीवितं का अर्थ मानवयोग्य दीर्घ जीवन ही करते हैं। यहां नृत्य शब्द विचारणीय है क्योंकि प्राचीन साहित्य में प्रायः नृति या नृत्त शब्दों का प्रयोग मिलता है। हर हालत में अर्थ तो वही है।

: २७ :

न वित्तेन तर्पणीयः मनुष्यः लप्स्यामहे वित्तं अद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामः यावत् ईशिष्यसि त्वं वरः तु मे वरणीयः सः एव॥

मनुष्यः = मनुष्य	त्वं = आप
वित्तेन = धन से	ईशिष्यसि = शासन करेंगे
तर्पणीयः = तृप्त होने के योग्य	जीविष्यामः = (हम) जियेंगे ही,
न = नहीं है।	तु = परन्तु
त्वा = आपको	मे = मेरा
चेत् = जब	वरणीयः = वरण के योग्य
अद्राक्ष्म = देख लिया	वरः = वर
वित्तं = धन को	सः = वह
लप्स्यामहे = पा ही लेंगे;	एव = (ही) है।
यावत् = जब तक	

मनुष्य को कभी भी धन तृप्त नहीं कर सकता। यहां वित्त का अर्थ संसार में मिलने वाला वित्त एवं उससे होने वाले सारे पदार्थ, तथा देव आदि लोकों में प्राप्त होने वाले पदार्थ और उपासना इत्यादि दैवी वित्त, सबका संग्रह करके लेना चाहिये। यह सब कुछ मनुष्य को तृप्त नहीं कर पाते क्योंकि जैसे ही यह एक इच्छा को शांत करते हैं, वैसे ही दूसरी इच्छा पैदा हो जाती है। मनुष्य की सुरक्षा में पदार्थ अत्यंत ही कमजोर लड़ी हैं। जो विचारधारा मनुष्य को ही अंतिम तत्व और जीवन का उद्देश्य मानती है, वह इस जीवन को भी सुखमय नहीं बना पाती। जब तक मनुष्य के सामने कोई ऐसी अर्हा न हो, जो इन सबसे महत्तम हो, तब तक उसके अंतस्तल की पुकार शांत नहीं हो पाती। पदार्थ कभी भी स्थायी नहीं हो सकते एवं हमारी स्थायिता हमेशा ही चिल्ला-चिल्ला करके कहती रहेगी

कि अस्थायी से स्थायी की तृप्ति कैसे हो सकती है एवं इस चिल्लाहट में कभी भी आंतरिक तृप्ति सम्भव नहीं है। जब तक किसी भी पदार्थ की एवं हमारे स्वयं के कार्यकरण संघात की मृत्यु का शासन अक्षुण्ण रहता है तब तक मानो फांसी की सजा पाये हुए व्यक्ति के धन और जीवन के भोग की तरह ही हमारा भोग है, और जीवन के प्रति जो एक आस्था (Zest) है, वह पूरी नहीं हो पाती। यह ठीक है कि मनुष्य उस अंतिम स्थिति को बचाने के लिये हमेशा शुतुर्मुर्ग की तरह पदार्थों का और अपना अंत भूलने का प्रयत्न करता रहता है। श्मशान की तरफ से निकलने से बचने का प्रयत्न करता रहता है। परन्तु कहां तक वह अपने अन्तर-आत्मा को दबा सकता है। अतः नचिकेता उस आत्मविज्ञान को प्राप्त करना चाहता है जो मृत्यु के सिर पर पैर रखकर मृत्यु का शासन हमें अपने हाथ में दे देता है। आत्म-विज्ञान के फल से जिसे तत्व की प्राप्ति होती है वह मृत्यु के शासन से सर्वथा मुक्त होता है। जगह-जगह श्रुति में 'तवैव राजन् मानुषं वित्तं' (छांदोग्य ५-३-६) 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' (बृहदारण्यक १-४-८) आदि के द्वारा धन का परम पद की प्राप्ति में कारण न होना ही बताया है। भिन्न भिन्न गणों में पठित विद् धातु का जो जाना गया, सत्ता में आया, घटित हुआ, पाया, अनुभव किया, विचार किया, सोचा, कहा, रहा इत्यादि अर्थों में प्रयोग है। यहां वित्त से उन सबका समाहार कर लेना चाहिये। सारे पदार्थों के अर्थ में सत्ता में आया अर्थ हो जायेगा। पदार्थों की परिवर्तनावस्था को बताने वाला घटित हो जायेगा। जो हमें मिल गया, वह पाया हो जायेगा। जिसकी उपासना की, वह जाना या माना हो जायेगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये अर्थात् वित्त से ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी भोग, सभी अनुभव, सभी भावों का संग्रह है। चाहे जितना वित्त हो जाये, लोक में कभी भी किसी को तृप्तिकारी हुआ हो, ऐसा देखने में नहीं आता। उल्टा जितना-जितना वित्त मिलता है, उतना ही उतना उसकी अभिलाषा बढ़ती ही जाती है। अतः मानो जैसे आग में घी डालकर उसे शांत करने की इच्छा करे, वैसी ही वित्त के द्वारा तृप्त होने की इच्छा है। इस दृष्टि से इस एक वाक्य के द्वारा ही दृढ़ वैराग्यवान् को पूर्वोक्त सभी निंदनीय लगते हैं, यह तात्पर्य हुआ। तर्पणीयः का अर्थ प्रीणनीय भी हो सकता है अर्थात् जिससे मनुष्य को प्रसन्नता हो अथवा

जैसे प्रेम से तृप्ति होती है, वैसी तृप्ति हो। यद्यपि देखने में आता है कि वित्त से प्रसन्नता होती है परन्तु विचार करने पर पता लगता है कि वित्त आने के साथ ही उसकी रक्षा के लिये चिंता हो जाती है। अतः प्रसन्नता का स्थान ही कहां! किंच, ९९ के फेर की कहानी प्रसिद्ध ही है। अतः और अधिक वित्त लाने के लिये प्रवृत्ति हो जाती है। आज के व्यापार में तो बार-बार यही देखा जाता है कि जितना व्यापार बढ़ता है, उतनी ही मनुष्य को और अधिक कर्जे की अपेक्षा होती जाती है एवं यह चक्र कभी टूटता ही नहीं। जब हमको किसी व्यक्ति से प्रेम मिलता है तब वह एक तरह से तृप्ति देता है। ऐसा धन में कभी नहीं हो पाता। किंच, धन के अर्जन में भी दुःख है एवं उसके खर्च करने में भी दुःख है। यदि धन को खर्च न करो तो भी सुख नहीं और खर्च करो तो भी सुख नहीं। जैसा किसी ग्रामीण ने कहा था 'ऐ रुपये तुझे भुनाऊं तो मैं मर जाऊं और न भुनाऊं तो क्या खाऊं'। यही परिस्थति लखपति और करोड़पति की भी देखी जाती है। **अर्थानां अर्जने दुःखं तथैव परिरक्षणे। नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थम् दुःखकारणं** इत्यादि स्मृति से यही बताया गया है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अर्थ शब्द का मतलब रिजर्व बेंक की हुण्डी नहीं, वरन् पदार्थ हैं क्योंकि हुण्डी तो पदार्थ प्राप्त के साधन मात्र हैं। वे तो पदार्थों की अपेक्षा भी प्रतिदिन क्षयिष्णु प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं। अतः अतृप्तिकर वित्त में तृष्णा करना किसी बुद्धिमान का लक्षण नहीं है।

वास्तविक तात्पर्य को कहकर अब प्राप्त पदार्थों के प्रति नचिकेता कहता है कि यदि जीवन निर्वाह के लिये हमें वित्त की तृष्णा अर्थात् आवश्यकता हो भी गई तो आप जैसे देवाचार्य का दर्शन करके वह तो हमें मिलता ही रहेगा। अथवा जो वित्त आपने हमें दिखाया है, वह सब हमारे द्वारा देख लिया गया, वह तो अब हमें मिलेगा ही। इसके द्वारा श्रुति यह बता रही है कि ब्राह्मण के सामने यदि किसी धन को यह कहकर रख दिया जाता है कि इसे तुम लो तो वह तो वस्तुतः ब्राह्मण का हो ही गया। नचिकेता का तात्पर्य है कि आपने जिस धन को हमें देने के लिये कह दिया, वह तो अब हमारा हो ही गया, उसके लिये अलग से वर मांगने की क्या आवश्यकता है। इसका गुह्य रहस्य यह है कि यदि यह धन आदि हमारे प्रारब्ध के अनुसार हमारे भोग्य न होते तो आप जैसे सर्वज्ञ देव हमें कभी भी इनको देने के लिये

न कहते क्योंकि प्रारब्ध से अतिरिक्त किसी भी भोग की प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः ये तो हमें प्राप्त होने ही हैं और हमें मिलेंगे ही। कोई भी बुद्धिमान पुरुष प्रारब्ध की इस नित्यता को जानकर सांसारिक पदार्थों की कामना में व्यर्थ व्यग्र नहीं होता, यह तात्पर्य है। अतः आवश्यकतायें तो आपकी कृपा से पूरी होती ही रहेंगी। किंच, आपका दर्शन करने वाले को धन न मिले, यह हो ही नहीं सकता। यदि यहां मृत्यु का आचार्य पक्ष स्वीकार किया जाये तो भी तात्पर्य यही होगा कि 'आत्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः' आदि श्रुतियों के अनुसार आत्मज्ञ की पूजा करने वाले को सभी ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है। मैंने तो अपनी पूजा के द्वारा आपको प्रसन्न करके अनेक ऐश्वर्य प्राप्त कर ही लिये। आपने हमें जिस कर्म और उपासना का चतुर्थ वर के रूप में उपदेश दिया है, उनके द्वारा भी यदि हमें किसी वित्त की आवश्यकता हुई तो हम प्राप्त करते ही रहेंगे, न केवल अपने लिये वरन् सबके लिये। भाष्यगत 'वित्ततृष्णास्यात्' इसी दृष्टि से लेना चाहिये क्योंकि नचिकेता की अपने स्वार्थ के लिये तो तृष्णा नहीं बनती, परन्तु सबके कल्याण के लिये यदि उसे वित्त की तृष्णा हो भी गई तो भी वित्त प्राप्त कर लिया जायेगा, यह भाव है। भाष्यकारों ने 'एतत् वित्तं अद्राक्ष्म' के द्वारा प्रथम अर्थ का संकेत किया है कि यह प्रत्यक्ष जो धन हमने देख लिया, वह तो हमारा हो ही गया, एवं उसके पूर्व 'प्रास्यामहे' से दूसरे अर्थ का संकेत किया है। इस प्रकार यम दर्शन की प्रशंसा की गई।

अद्राक्ष्म चेत्वा का आगे से अन्वय करने पर अर्थ होगा कि जब आपका एक बार दर्शन कर लिया तो अब तो जब तक आपका शासन चलेगा, तब तक हमारे मरने का प्रश्न ही नहीं है। लोक प्रसिद्धि भी है कि जब एक बार सूली पर चढ़कर किसी कारण से सूली का फंदा खुल गया या टूट गया तो मनुष्य को दुबारा सूली पर नहीं चढ़ाया जाता (A man can not be hanged twice)। अतः बुद्धिमत्ता से नचिकेता ने यह भी कह दिया कि जितने दिन का आप हमको वरदान दे सकते थे, वह भी जब तक आपका शासन रहता उतने ही दिन का हो सकता था। और अब आपके शासन भर तो वैसे ही हम जियेंगे ही। इस दृष्टि से जब तक याम्य पद में आप स्थित रहेंगे, तब तक हम जीते रहेंगे, यह भाव है। वस्तुतस्तु, यम को आचार्य स्वीकार करने पर इसका तात्पर्य है कि जब तक आपकी आज्ञा का पालन

करते रहेंगे अर्थात् आप हमारे ऊपर शासन करते रहेंगे तब तक हम जीते ही रहेंगे क्योंकि शिष्य का जीवन तभी तक है जब तक गुरु की आज्ञा के अनुसार रहता है। अब हमारा अपना संकल्प, मनोरथ, इच्छायें सब हमको नाचिकेताग्नि के चयन के द्वारा केवल ईश्वर की इच्छा अथवा ईश्वर के मूर्त रूप गुरु की प्रत्यक्ष आज्ञा के अनुसार ही जीवन का प्रत्येक श्वास चलाना है। अतः जब तक ईश्वराज्ञा या गुरु की आज्ञा रहेगी, तब तक तो जीवन चलता ही रहेगा और उसके बाद तो जीवन का कोई तात्पर्य या उद्देश्य हमें दीखता भी नहीं है। अतः इसके द्वारा शिष्य रूप नचिकेता कहता है कि जब तक आप ईशन अर्थात् शासन करेंगे तभी तक हम जियेंगे। अध्यात्म दृष्टि से नचिकेता वैराग्य का प्रतीक है। अतः वैराग्य के ऊपर केवल ईश्वर अथवा गुरु का ही शासन चलता है। यम का मतलब संयमन है। अतः वैराग्य संयमन के शासन में ही रहता है और जब तक संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) का शासन है, तब तक तो वैराग्य जियेगा ही। जो धारणा ध्यान समाधि में लगा हुआ है अथवा धारणा ध्यान समाधि में पारंगत है, उसका वैराग्य कहा जा सकता है। वैराग्य का जीवन अब समाप्त हो, यह सम्भव ही नहीं है और जब धारणा, ध्यान समाधि भी नहीं रहेगी तो वैराग्य भी अनावश्यक होने से समाप्त हो जायेगा। भाष्य में जो 'याम्ये पदे' कहा है, उसका भी यही तात्पर्य समझ लेना चाहिये। संयमन के पद में अर्थात् स्थिति में। यद्यपि ईशिष्यसि छांदस प्रयोग माना गया है क्योंकि यह आत्मने पदि धातु होने से ईष्यसे ऐसा प्रयोग बनना चाहिये परन्तु श्रुति ने यहां विशिष्ट तात्पर्य से इसका प्रयोग किया है। श्रुति का तात्पर्य है कि समाधि भी वस्तुतः पर के लिये ही है एवं गुरु की आज्ञा भी पर के लिये ही है। भाव यह है कि समाधि तत्वनिष्ठा के लिये है, एवं गुरु का शासन भी हमें या तत्वनिष्ठा प्राप्त कराने के लिये होता है अथवा तत्वनिष्ठा के अनंतर लोकसंग्रह में प्रवृत्त करने के लिये। किसी भी स्वार्थ के भाव में गुरु स्वयं अपने लिये कभी कुछ करने के लिये नहीं कहते। बुद्धिमान शिष्य स्वयं उनकी आवश्यकताओं को समझकर उनके शरीर को ईश्वर रूप मानकर अपने आप ही सेवा में प्रवृत्ति करता रहता है। यदि कभी गुरु कोई व्यक्तिगत सेवा का आदेश देता भी है तो वह शिष्य के किसी पाप को दूर करने के निमित्त को लेकर, स्वयं केवल अपने लिये वह कभी भी कुछ कहे, यह

सम्भव ही नहीं है। इसे समझाने के लिये यहां पर परस्मैपदि का प्रयोग समझना चाहिये। प्रभुः स्याः से भगवान भाष्यकार यही बताना चाहते हैं कि समग्र पुण्य और पाप के नियामक गुरु ही होते हैं क्योंकि आत्मज्ञान का साधक भी जब विधि निषेध का विषय नहीं तो फिर ज्ञानी तो हो ही कैसे सकता है। परन्तु समग्र विधि निषेध से रहित होने पर भी गुरु तो उसे आदेश देकर चाहे जिसे लोग पुण्य समझते हैं, उसमें लगावे, चाहे जिसे लोग पाप समझते हैं, उसमें लगावे। जब तक आप हमारे इस प्रकार प्रभु हैं, तब तक आपके दर्शन मात्र से ही हम जीते रहेंगे अर्थात् जीवन के सभी कार्यों को करते रहेंगे, यह भाव है। सूक्ष्म भाव यहां भगवान भाष्यकार बताते हैं कि आपके दर्शन से ही हमें सब कुछ मिल जायेगा। तो फिर जब हम आपके पास आ चुके, आपसे सम्भाषण आदि कर चुके तो फिर हम अल्प धन, आयु वाले बने रहे, यह सम्भव ही कैसे। भाव यह है कि जीव रूप में हम मर्त्य हैं क्योंकि देह के साथ हमने तादात्म्य कर रखा है। आप वास्तविक महादेव हैं क्योंकि आपने देह के साथ अपने आपको दूर कर रखा है। आप जैसे अमरणधर्मा के पास आकर जब हमारी जन्म जन्मांतर की मृत्यु भी हट जायेगी एवं समग्र दुःखों से निवृत्ति हो जायेगी तो किंचित् दुःखों को निवृत्त करने वाले जो धन, या दीर्घ आयु वह भी हमारी बन जायेगी, इसमें तो कहना ही क्या। जब आत्म ज्ञानी की सेवा करने वाले सकामी सामान्य लोगों के भी रोग, दरिद्रता, अल्पायुता आदि दुःखों की निवृत्ति हो जाती है तो जो निष्काम भाव से तत्वज्ञान को प्राप्त कर चुके उनके लिये तो यह सहज सिद्ध होते हैं, यह निस्सं-दिग्ध है। अन्यत्र तो भगवान भाष्यकारों ने कहा है कि आत्मज्ञान होने पर मनुष्य में गुरु की समग्र शक्तियां आ जाती हैं क्योंकि पारस लोहे को छूकर सोना बनाता है, पारस नहीं। गुरु शिष्य को छूकर उसे केवल सच्छिष्य नहीं, वरन् गुरु ही बना देता है। फिर तो अष्टैश्वर्य आदि स्वभाव से ही उसके पास आ जाते हैं, तब धन अल्पायुता इत्यादि की तो सम्भावना ही कहां रह सकती है। जो आजकल ज्ञान की उत्तर अवस्था में भी व्यवहार के नाम पर चोर बाजारी, खुशामदी, घूस इत्यादि से पदार्थों को प्राप्त करने की अभिलाषा देखी जाती है, वह तो वहां ज्ञान की गंध के अभाव को भी सिद्ध करती है। क्या कभी यह सम्भव है कि किसी देश का राजा इकन्नी-दुअन्नी के लिये लोगों के सामने अपने आपको हीन करे? फिर जो समग्र

ब्रह्माण्ड के अधिपतिरूप से अपने आपको जानता है वह शाहंशाह क्या कभी हीन भाव को प्राप्त कर सकता है। महादेव के समागम से सभी ईप्सित पदार्थों की प्राप्ति इस प्रकार श्रुति स्मृति और लोकसिद्ध है। अतः तात्पर्य है कि ये सब तो हमारे सहज ही हो जायेंगे। अतः जानने लायक वर तो हम आत्मविज्ञान को ही मानते हैं।

: २८ :

अजीर्यतां अमृतानां उपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्वधस्थः* प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अतिदीर्घे जीविते कः रमेत॥

अजीर्यतां = अजर	अभिध्यायन् = बारबार सोचने वाले भी
अमृतानां = अमरों को	प्रजानन् = प्रज्ञा वाले होकर
उपेत्य = पहुंचकर	अति = बहुत
जीर्यन् = जरा	दीर्घे = लम्बे
मर्त्यः = मरणधर्मा,	जीविते = जीवन एवं भोगों में
क्वधस्थः = पृथ्वी पर स्थित	कः = कौन
वर्णरति प्रमोदान् = वर्ण रति में प्रमोद को	रमेत = रमण करे।

नचिकेता कहता है कि जो स्वयं जरा मरणग्रस्त हैं वे जब अजर अमर का दर्शन कर लेते हैं तो फिर उनको मृत्यु, चाहे वह कितने भी लम्बे समय के बाद आने वाली हो, इष्ट नहीं लग सकती। अतः केवल लम्बे जीवन की इच्छा न करके अमर बनने की ही इच्छा करेंगे। मैंने आपका दर्शन कर लिया जो अजर और अमर हैं और आप मुझे केवल लम्बा जीवन देना चाहते हैं तो मैं उससे कैसे संतुष्ट हो सकता हूँ। बहुत कुछ इसी प्रकार से मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य को कहा था कि जिस वित्त को लेकर आप अमर हुए हैं उसको छोड़कर आप मुझे नाश वाला वित्त दे रहे हैं, यह क्या न्याय संगत है। याज्ञवल्क्य ने अत्यंत प्रसन्न होकर कहा कि आज संन्यास लेने के पूर्व मैं तेरे ऊपर उन सभी पुरुषार्थों से अधिक प्रसन्न हो गया हूं जिन पुरुषार्थों में तूने मेरी कात्यायनी के साथ सेवा की। कात्यायनी स्त्री बुद्धि वाली थी, अतः संन्यास लेने जाते हुए याज्ञवल्क्य के द्वारा यह कहने पर कि धन को दो भागों में बांट

*क्वतदास्थः।

देता हूं, उसने तो केवल स्वीकृति मात्र दी थी। परन्तु मैत्रेयी जो हमेशा ही याज्ञवल्क्य की आंतरिक सहचरी रही थी, स्पष्ट रूप से यह कह पाई क्योंकि वह जानती थी कि याज्ञवल्क्य के पास वह धन है जिससे अमरता की प्राप्ति होती है। अपरिमित धन को ले जाते देखकर कौन बुद्धिमान परिमित धन से संतोष करेगा। यह जैसा मैत्रेयी ने कहा था, वैसा ही यहां नचिकेता कह रहा है कि अजर अमर आपको देखकर केवल लम्बा जीवन हमें कैसे संतुष्ट कर सकता है।

नचिकेता को शिष्य मानने पर तो यही भाव होता है कि अब तक तो हमने केवल सुना था कि मनुष्य किस ज्ञान को प्राप्त करके मृत्यु के पाश से छूट जाता है परन्तु आज हे यमाचार्य! आपको हमने प्रत्यक्ष देखा एवं पहले के लोग आत्म ज्ञान को प्राप्त करके अजर अमर हो चुके हैं, फिर हम किसी अल्प फल के द्वारा अपने आपको कैसे संतुष्ट कर सकते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से वैराग्य कहता है कि यद्यपि धारणा ध्यान समाधि रूपी यम के द्वारा अनेक आनंदों आदि की प्राप्ति होती है तथापि हम उससे पूर्ण संतुष्ट कैसे हो सकते हैं जबकि वे भी हमको वैराग्य के कारण ऐसे ही लगते हैं जैसे अन्य पदार्थ। भगवान गौड़पादाचार्य कहते हैं **'नास्वादयेत् सुखं तत्र निस्संगः प्रज्ञया भवेत्'** (३–४५) अर्थात् प्रज्ञा की तीक्ष्णता से समाधि में आने वाले रस के प्रति भी वैराग्य को जाग्रत रखे अन्यथा तत्वनिष्ठा से च्युत हो जाता है। तत्व स्वयं कभी क्षीण नहीं होता और कभी समाप्त नहीं होता। तदपेक्षया समाधि का आनंद व्युत्थान काल में कम भी होता चला जाता है और व्यवहार की अतिशयता में फिर हाथ से निकल भी जाता है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से भी वैराग्य रूपी नचिकेता का यही कहना है कि समाधि भी जरा और मरण वाली ही है। इस बात को जानकर मैं उससे कैसे संतुष्ट होऊं। अतः सभी तात्पर्यों का भाव तो यही है कि उत्कृष्ट पुरुषार्थ के लाभ की सम्भावना होने पर अधम की कामना करने वाला मूर्ख ही हुआ करता है।

अजीर्यतां का तात्पर्य 'वयो हानि अप्राप्नुवतां' करके यह ध्वनित किया है कि अपनी उमर या अवस्था के लायक जो काम नहीं होता, वह इस बात को बताता है कि उमर की हानि हो गई है। दैवी गुण सम्पन्न पुरुषों के ऐसा न होने से ही उन्हें अजर कहा जाता है। तद्विपरीत साधारण मानव अवस्था के बढ़ जाने पर भी बच्चों की तरह छोटे-छोटे खिलौनों में लगा

रहता है। यही वस्तुत: क्षीणता या वयोहानिता है। जहां तक शरीर का सम्बन्ध है, वहां तक तो दैवी गुण सम्पन्न का भी शरीर वृद्ध होता ही है परन्तु उसके वास्तविक आन्तरिक जीवन का प्रवर्द्धन होता रहता है एवं वह जीवन के किसी एक अनुभव में अटक नहीं जाता। जैसा कहा जाता है कि साधारण आदमी गृहस्थाश्रम में फंस कर केवल तीन चीजों को याद रख पाता है—नोन तेल लकड़ी, वैसा उसके कभी नहीं होता। इसी प्रकार अमरणधर्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेने के कारण वह अमर है, यह भाव है। भाष्य में 'प्रजानन्' का अर्थ 'उपलभमानः' किया है। तात्पर्य है कि महापुरुषों के पास जाकर मोक्ष आदि के साधन को उपलब्ध किया जा सकता है। अतः उन्हें ही उपलब्ध करना चाहिये। यदि उनके पास जाकर किसी सामान्य चीज को मांगा जाता है तो इसका मतलब है कि मांगने वाले को अभी यह प्रज्ञा ही नहीं है कि उनसे क्या मांगना चाहिये। लोक में भी देखा जाता है कि अनेक ब्रह्मनिष्ठों के पास आकर लोग अपने व्यापार तथा लड़के लड़कियों की शादियों की ही सलाह लेते रहते ह। यद्यपि ब्रह्मवेत्ता के लिये तो यह एक खेल ही है परन्तु वे लोग किसी महान लाभ से वंचित बने रहते हैं, यह वे नहीं समझ पाते। सब लोग इसकी प्रार्थना क्यों नहीं करते? इसमें प्रजानन् हेतुगर्भ विशेषण है अर्थात् अविवेकी होने से वे इसे नहीं जानते परन्तु में नचिकेता विवेकी होकर उसकी प्रार्थना कैसे करूं।

कुः माने पृथ्वी अधः अर्थात् स्वर्ग आदि से नीचे है। अतः पृथ्वी में रहने वालों को क्वधस्थ कहा जाता है। जब हम जानते हैं कि पृथ्वी के पदार्थ-वित्त, पुत्र, हिरण्य आदि अस्थिर हें तो फिर अपने से ऊर्ध्व वालों के पास जाकर हम निम्न लोक की बातें क्यों मांगें। आध्यात्मिक दृष्टि से तो जो सलाह किसी ज्योतिषी, कर्मकाण्डी पंडित, वकील या डाक्टर से मिल सकती है, वह किसी ब्रह्मनिष्ठ से क्यों मांगी जाये। अथवा जिन ज्ञानों को हम पुस्तक, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से प्राप्त कर सकते हैं, उसके लिये समाधि रूपी यम को क्यों काम में लाया जाये। यद्यपि लोग सामान्य सांसारिक परिस्थितियों को प्राप्त करने के लिये समाधि से प्राप्त ऐश्वर्य का उपयोग ब्रह्मनिष्ठ से करवाना चाहते हैं, वह सब उपहासास्पद है। जीवन में यदि यह क्रम बना लिया जाये कि जिन पदार्थों को प्रत्यक्ष, अनुमान के सहारे प्राप्त किया जा सकता है, उनके लिये हम समाधि इत्यादि का प्रयोग नहीं

करेंगे तो बहुत कुछ संगत हो जाये। अलौकिक पदार्थों से लौकिक पदार्थों की प्राप्ति एक तरह से हेय ही है, यह भाव है। जो तो हठ योग की समाधि के द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं वे तो स्वयं अविवेकी होने के कारण उन्हें जगत के पदार्थों में प्रयोग करते हैं, चाहे अपने लिये, चाहे दूसरे के लिये। परन्तु यह ब्रह्मवेत्ताओं में सम्भव नहीं है। क्वतदास्थः ऐसा पाठ स्वीकार करने पर तो तेषु अर्थात् पुत्र आदियों में जो आस्था अर्थात् तात्पर्य से बर्ताव करना है, वही तदास्थता है एवं बर्ताव करने वाला तदस्थ है। भाव यह है कि पुत्र आदि सच्चे हैं, ऐसा समझ करके उनमें तत्पर होकर उनके साथ बर्ताव करते हैं। जिज्ञासु भी यद्यपि पदार्थ एवं सम्बन्धियों में व्यवहार करता है परन्तु वह यह नहीं मानता कि वे सच्चे हैं और इसी लिये उनमें तत्पर हो बर्ताव नहीं करते हैं। जिज्ञासु भी यद्यपि पदार्थ एवं सम्बन्धियों में व्यवहार करता है परन्तु वह यह नहीं मानता कि वे सच्चे हैं और इसीलिये उनमें तत्पर नहीं होता। तत्परता तो उसकी साधना में ही होती है। परन्तु साधारण व्यक्ति तो उसी को जीवन का उद्देश्य मानता है, अतः उसी में तत्पर होकर व्यवहार करता है। तब मंत्र का भाव हुआ कि जिसने महत्तर प्रयोजन को जान लिया है एवं वह जिनसे प्राप्त हो सकता है उनके पास चला गया है और जानता भी है कि वह पुरुषार्थ दुर्लभ है और उसे पाने की उसकी इच्छा भी है। तो फिर उनकी असारता को जानने वाला कैसे उन्हीं पदार्थों की अर्थना अर्थात् प्रार्थना करेगा। भाव है कि संसार में फंसा हुआ विविदिषु भी जब ब्रह्मवेत्ताओं के पास जायेगा तो चूंकि सभी प्राणी ऊपर ही ऊपर जाने की इच्छा करते हैं अतः ऊपर जाने की परिस्थिति मिलने पर फिर नीचे की तरफ इच्छा कैसे करेगा। भाव यह हुआ कि मुझे आप पुत्र, वित्त आदि के द्वारा प्रलोभन में डालने का व्यर्थ प्रयास न करें। जब मैंने जान लिया है कि दुर्लभ अधिकतर पुरुषार्थ प्राप्त किया जा सकता है और मुझे उसकी इच्छा भी है तो मैं फिर कैसे तदास्थ बनूं।

आगे नचिकेता कहता है कि जो व्यक्ति वर्ण से होने वाले प्रमोदों को और रति से होने वाले प्रमोदों को अच्छी प्रकार से ध्यानपूर्वक विवेक से विचार करता है, वह उनमें फंस नहीं सकता। अप्सरायें इत्यादि वर्ण रति प्रमोद की ही विशेष अवस्थायें हैं अर्थात् अप्सराओं का सुन्दर वर्ण और उनसे होने वाली सुन्दर रति तथा उससे उत्पन्न होने वाला प्रमोद यह सभी ध्यान

से देखने पर अनवस्थित रूप वाले प्रतीत होते हैं अर्थात् निश्चित रूप वाले नहीं हैं। किसी काल में उनकी उत्पत्ति होगी, फिर वह कुछ समय तक स्थिर रहेंगे, अन्त में नष्ट हो जायेंगे। अतः जब इनका निरूपण करने जाते हैं तब ये आकर्षक नहीं रह जाते। इसी प्रकार से जब दीर्घ जीवन का विचार करते हैं, तब पता लगता है कि अपने साथी और अपने बाद में आने वाले सब चले जायेंगे। समाज की अवस्था बदल जायेगी और उसमें हम अपने आपको ऐसा गैर अनुभव करेंगे कि वह जीवन एक भार हो जायेगा। जब ८० वर्ष की उमर में ही मनुष्य अपने आपको अनुभव करने लगता है कि वह मानो ठीक प्रकार से उस वातावरण में जमता नहीं (Out of place), तब यदि अतिदीर्घ जीवन होगा, तब फिर यह परिस्थिति तो और कठिन हो जायेगी। अतः विवेकी कभी भी अतिदीर्घ जीवन की कामना नहीं करता, वह तो तभी तक जीना चाहता है जब तक परिस्थितियों पर उसका नियंत्रण हो सके और वह अपने आपको परिस्थितियों में ठीक से बिठा सके।

वर्ण का अर्थ यहां सामान्य दृष्टि से ब्राह्मण क्षत्रिय आदि भी लिया जा सकता है। सामान्यतः मनुष्य में अपने वर्ण या कुल इत्यादि को लेकर किसी एक विशिष्ट प्रकार के गर्व का अनुभव होता है और उस स्थिति से उसको रति अर्थात् प्रेम भी होता है, एवं यह समझकर के ही कि मैं उत्तम वर्ण का हूं, एक तरह का प्रमोद होता है। यह उत्तम वर्णता केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय में ही हो, ऐसा नहीं समझना चाहिये क्योंकि चमार, भंगी इत्यादि भी एक दूसरे की अपेक्षा अपने को उत्तम मानते देखे जाते हैं और आज के युग में तो सम्भवतः उन्हें जितना गर्व है, उतना ब्राह्मण, क्षत्रिय को भी नहीं। 'जातिनीतिकुलगोत्रदूरग' का भाव यहां पर स्पष्ट है। तब अभिध्यायन् का मतलब हो जायेगा कि भिन्न-भिन्न शरीरों में हम न जाने कितनी बार भंगी, चमार बने, मुसलमान बने, ईसाई बने। अतः हृदय में वर्ण आदि के द्वारा होने वाला प्रमोद भी व्यर्थ ही है। वर्ण रति का तात्पर्य स्वयं अपनी देह का वर्ण सौन्दर्य एवं अपने देह की रति सामर्थ्य एवं प्रमोद सामर्थ्य भी लिया जा सकता है। तब अभिध्यायन् का अर्थ होगा कि पूर्वापेक्षया अब की स्थिति यदि कमजोर हो रही है तो आगे और भी कितनी कमजोर होगी। वर्ण का अर्थ चुनना भी हो सकता है। जीवन में हम हमेशा किसी न किसी चीज को चुनते हैं और अपने चुनाव से मनुष्य को सम्भवतः रति होती है एवं उससे

प्रमोद भी उत्पन्न होता है। परन्तु जब विचार करते हैं कि इन चुनावों में अधिकतर हमारी प्राचीन वासनायें एवं आदतें ही भाग लेती हैं, तब पता लगता है कि इसमें हमारा स्वातंत्र्य कितना न्यून है अथवा है ही नहीं। फिर उनके विषय में किसी प्रकार का अभिमान व्यर्थ है। वर्ण के द्वारा बाह्य रूप से ज्ञान की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। रति इच्छा को कहते ही हैं एवं प्रमोद मृत्यु रूप है। अतः ज्ञान, इच्छा, क्रिया शक्तियों का जो भली प्रकार से विचार करता है, वह जान लेता है कि उनके स्वरूप का साक्षात्कार आत्मा में नहीं होता। तब तक ये शक्तियां इन्द्रियों के एवं वासनाओं के अधीन रहती हैं। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि वर्ण से वरण का कारण रूप ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण कर लेना चाहिये। रति से कर्मेन्द्रियों का तथा प्रमोद से अंतःकरण का। अतः इन तीनों का विचार करने पर मनुष्य को स्वभावतः विवेक उत्पन्न हो जाता है। गोपालेन्द्र ने तो वर्ण से गीति, काव्य, रति से क्रीड़ा और प्रमोद से सुख का ग्रहण किया है। हर हालत में चरम उद्देश्य तो यही है कि संसार के रूप का विचार करने पर फिर इसमें रुचि होना सम्भव नहीं होता और चूंकि नचिकेता विवेकी है, इसलिये उससे यह आशा करना कि वह इन आकर्षणों में फंस जायेगा, असम्भव ही है। अतिदीर्घ जीवन का अर्थ यह भी होता है कि जब तक महाभूत नष्ट न हो जायें, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्र तक क्रमशः ५–४–३–२ और एक महाभूत का राज्य रहता है। यहां तक जीवन है। इसके ऊपर के स्थान को अमृतत्व कहते हैं। जैसा कि मनु कहते हैं 'आभूतसम्प्लवं स्थानं अमृतत्वं हि भाष्यते' यद्यपि इसका अर्थ पुराण दृष्टि से यह भी किया जाता है कि जब तक प्रलय नहीं हो जाती, तब तक जो स्थान बना रहे, वह ब्रह्मलोक अमृत शब्द से कहा जाता है परन्तु इसका आध्यात्मिक दृष्टि से अर्थ तो यही है कि विशुद्ध चक्र पर्यन्त जब तक पंचमहाभूतों का लय नहीं कर दिया जाये तब तक अमृत तत्व की प्राप्ति नहीं। उसके आगे अमृतत्व का राज्य शुरू होता है। नचिकेता का प्रश्न कैवल्य मुक्ति के बारे में है। अतः वह कहता है कि मैं विशुद्ध चक्र से आगे की अवस्थाओं को तो जान गया हूं अर्थात् आज्ञा और सहस्रार के विषय को भी समझ चुका हूं परन्तु मेरा प्रश्न तो इसके बारे में नहीं। इस दृष्टि से कु से सहस्रार का ग्रहण करके जो सहस्रार के नीचे के चक्रों में है, उन्हें तरह-तरह के चक्रों में वर्णों

अर्थात् अक्षरों का ज्ञान होता है एवं तरह-तरह के दिव्य रूप, रस, गंध, शब्द स्पर्श का ज्ञान होता है जो रति का ही एक रूप है और उससे प्रमोद होता है; परन्तु मैं ध्यान के द्वारा इन सबको पार कर चुका हूं। वर्ण के द्वारा शब्द समूह को लिया जा सकता है। तब तात्पर्य होगा कि शास्त्र ज्ञान एवं रति अर्थात् परमात्मा की रति या भक्ति और इससे होने वाला प्रमोद अर्थात् सुख। इनका भी जब मैं विचार करता हूं तब ये भी मुझे शान्ति देने में पर्याप्त नहीं होते। जब परोक्ष ज्ञान और भक्ति की चरमावस्था पहुंच जाती है तभी अपरोक्ष ज्ञान की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है। मैं 'प्रजानन्' अर्थात् प्रज्ञा की तरफ प्रवृत्त हो चुका हूं। श्री कृष्ण भी यही कहते हैं 'भक्त्या माम्भिजानाति ·· ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरं'। मैं इस प्रथम प्रवेश के लिये व्याकुल हो चुका हूं। इस तात्पर्य में 'अतिदीर्घं जीवितं' का अर्थ हो जायेगा कर्म मार्ग क्योंकि जो जितना कर्म करने में समर्थ होता है, उसे उतना ही जीवित (alive) माना जाता है। जब मैं वर्ण, रति, प्रमोदों को भी विचार दृष्टि से त्यागना चाहता हूं तो फिर कर्मों में मेरी रति होगी, यह सम्भव ही कैसे है। कुछ आधुनिक लोग तो ऐसा मानते हैं कि वर्ण अर्थात् सौन्दर्य एवं रति अर्थात् प्रेम। सामान्यतः मानव जीवन में सौन्दर्य और प्रेम से ही प्रमोदों की प्राप्ति होती है। सूक्ष्म दृष्टि वाले लोग बाह्य पदार्थों के द्वारा आकृष्ट नहीं होते परन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य या मानवों का प्रेम अवश्य ही प्रमोद को उत्पन्न करता है परन्तु नचिकेता की दृष्टि से विचार करने पर प्राकृतिक सौन्दर्य भी स्थायी नहीं रहता एवं मानवों का प्रेम भी किस क्षण परिवर्तित हो जाये या किस क्षण उस मानव से वियोग हो जाये, इसके द्वारा आक्रान्त ही रहता है। यद्यपि सौन्दर्य और प्रेम की स्मृति भी प्रमोद देती है परन्तु धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है। उसका भी ग्रहण यहां किया जा सकता है। परन्तु जो व्यक्ति परोक्ष रूप से भी इस बात को जान लेता है कि अमृत का जीवन कैसा है और वहां का क्या आनंद है, वह फिर सामान्य सांसारिक राग एवं गतिशील क्रियाओं में कैसे प्रवृत्त हो सकता है। जिसे नष्ट न होने वालीं चीज का जरा भी स्वाद लग गया, वह नष्ट होने वाली चीज से किसी भी प्रकार का सुख पा सके, यह असम्भव है।

: २६ :

यस्मिन् इदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् साम्पराये महति ब्रूहि नः तत् ।
यः अयं वरः गूढं अनुप्रविष्टः न अन्यं तस्मात् नचिकेता वृणीते ॥

मृत्यो = हे मृत्यु !	यः = जो
यस्मिन् = जिस	अयं = यह
महति = महान	वरः = वर
साम्पराये = परलोक के विषय में	गूढं = गहन को
इदं = यह	अनुप्रविष्टः = प्रवेश किये हुए (हैं)
विचिकित्सन्ति = संशय करते हैं	तस्मात् = उससे
यत् = जो (निर्णय हो)	अन्यम् = भिन्न
तत् = वह	नचिकेता = नचिकेता
नः = हमें	न = नहीं
ब्रूहि = बताओ ।	वृणीते = चुनता है ।

नचिकेता पहले कही हुई बातों का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि जिस विषय में यह संदेह है कि है या नहीं, उस विषय को मैं जानना चाहता हूं । इदं शब्द से यहां 'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' जो यम ने कहा था, उसका परामर्श किया जाता है । जिस आत्मा के विषय में ऐसा संदेह है, यह भाव है । नचिकेता स्वर्ग लोक को प्राप्त कर चुका है । अतः सामान्य साम्पराय अर्थात् परलोक के विषय में उसका प्रश्न नहीं है, वरन् 'महति साम्पराये' उस महान परलोक के विषय में उसका प्रश्न है जिसकी दृष्टि से वह ब्रह्माण्ड भी इह लोक ही है और जहां से पुनः लौटना नहीं होता, जो निरुपाधि शेष निरावरण है एवं जिसके बाद कोई भी अनुभव अवशिष्ट नहीं रह सकता । साम्पराये का शाब्दिक अर्थ होता है 'चले जाना' यही अर्थ परलोक का भी होता है । जैसे आज तक हमको लोके अर्थात् अनुभव हुआ उससे जो भिन्न हो, वह परलोक । परन्तु वस्तुतः परलोक में भी रूप, रस आदि का अनुभव होने से उसमें यहीं के अनुभवों की जाति का अनुवर्तन रहता है । तदपेक्षया यह कहा जा रहा है कि यह महान साम्पराय है क्योंकि वृहदारण्यक के शब्दों में **'वहां कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कौन किसको सोचे'** आदि आदि । तात्पर्य

है कि वहां त्रिपुटी का भेदन हो जाने से दृश्य दृष्टा ज्ञाता ज्ञेय शब्द निवृत्त हो जाते हैं। छांदोग्य उपनिषद् भी यही कहती है कि जब तक वह न जान लिया जाये जिसको सारे प्राणी जानते हैं तब तक सारे ज्ञान व्यर्थ हैं। उपनिषदों में बार-बार जीवन और मरण दोनों के पार जो तत्व है, उसके ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व का ज्ञान माना गया है। स्वभावत: इन प्रश्नों से सम्बन्धित प्रश्न हो जाता है कि इन सबसे अतीत क्या है? मुक्ति के बाद क्या स्थिति होती है? उसका वास्तविक स्वभाव और प्रकृति क्या है? उसका आनंत्य कैसा है? मनुष्य के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? किन साधनाओं से वहां पहुंचा जा सकता है, आदि-आदि। अत: नचिकेता कहता है कि उस महान साम्पराय के बारे में जिसको देवता भी नहीं समझ सके, आप मुझे उपदेश दें। जो मेरा यह वर है, वह इस प्रकार इस गुह्य तत्त्व को, घुसे हुये को समझने का प्रयत्न है। 'गूढं अनुप्रविष्ट:' से यह स्पष्ट हो जाता है कि नचिकेता का प्रश्न क्या है? वह सामान्य जन्म मरण विषयक नहीं है वरन् ऊपर से सरल दीखने पर भी अत्यंत गूढ़ तत्व में भली प्रकार घुसा हुआ है। इसी से यमराज का संकोच भी समझ में आता है और आगे जो आत्मविद्या का उपदेश दिया जाता है, वह भी समझ में आता है। अन्यथा प्रश्न और उत्तर में संगति नहीं रह जायेगी। प्रायश: बुद्धिमान आदमी जब प्रश्न पूछता है तो ऊपर से सरल दीखने वाला प्रश्न पूछता है परन्तु वह किसी गम्भीर रहस्य में अनुप्रविष्ट प्रश्न होता है। नचिकेता का प्रश्न ऐसा ही है। 'मैं नचिकेता' इससे किसी अन्य वर को चुनने वाला नहीं हूं। इसका भाव यह है कि यदि कोई सामान्य व्यक्ति होता तो सम्भवत: कुछ हिल भी जाता परन्तु मुझे आप देख चुके हैं कि मैं विवेकी, वैराग्यवान् हूं। अत: मन में भी मुझे किसी अनित्य विषय की प्रार्थना उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। अत: अनित्य कामनाओं के प्रलोभन देने को छोड़कर जो मैंने प्रार्थना की है एवं जिसका महति-अर्थात् महत् प्रयोजन है, उसी का उपदेश देवें, मुझे किसी संदेह में न डालें। जो तत्व का वास्तविक निर्णय हो, वह बतायें। अर्थात् देवताओं ने क्या कहा, दूसरे ने क्या कहा? इत्यादि इत्यादि न जानकर मैं तो केवल वास्तविकता जानना चाहता हूं, जो आपका अनुभव है। अर्जुन ने भी यही कहा था 'निश्चितं ब्रूहि'। मैं जानता हूं कि यह विषय गूढ़ अर्थात् विवेचन करने में बहुत कठिन है। अत: मैं किसी तर्क के आधार

पर नहीं पूछता हूं। वरन् अनुभूति को ही प्रधान मानता हूं। सर्वज्ञ शंकर का कहना तो है कि 'नान्यं तस्मान् नचिकेता वृणीते' यह पद श्रुति का वचन है अर्थात् श्रुति कह रही है कि नचिकेता दूसरे वर को नहीं जानता है। भाव यह है कि जिस नचिकेता ने जीवन की भी आशा छोड़कर पिता के धर्म का संरक्षण किया था, वह नचिकेता दूसरा वर नहीं मांग सकता। आंतरिक भाव यह है कि जब तक मनुष्य के मन में जीने की अभिलाषा भी मौजूद है, तब तक भी वैराग्य पूर्ण नहीं होता एवं पूर्ण वैराग्य के बिना आत्मज्ञान का उपदेश व्यर्थ होता है। इसके द्वारा श्रुति यह ध्वनित करती है कि न केवल नचिकेता परन्तु जो भी दूसरा अधिकारी नचिकेता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह कभी दूसरा वर नहीं चुनता है। इस प्रकार यह अधिकार निर्णयार्थ वाक्य है। अतः इसे संवाद के अंतर्गत न मानकर साक्षात् श्रुति वाक्य ही भगवान् भाष्यकारों ने स्वीकार किया है। वैसे भी नचिकेता यह कहे कि मैं नचिकेता नहीं चुनता हूं, इस प्रकार का अभिमान भरा वाक्य उसके लिये शोभा नहीं देता और उसके चरित्र के साथ उसकी संगति भी नहीं होती।

इस प्रकार श्रुति ने प्रथम वल्ली में नचिकेता के वैराग्य का वर्णन करके पूर्व पीठिका की रचना कर दी।

। प्रथम अध्याय प्रथम वल्ली समाप्त ।

अथ द्वितीया वल्ली

शिष्य की परीक्षा करके उसमें विद्या की योग्यता देखकर अब मृत्यु कहते हैं :—

अन्यत् श्रेयः अन्यत् उत एव प्रेयः ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति हीयते अर्थात् यः उ प्रेयः वृणीत ।।

श्रेयः = श्रेय	तयोः = उनमें से
अन्यत् = भिन्न (है)	श्रेयः = श्रेय को
उत = और	आददानस्य = ग्रहण करने वाले का
प्रेयः = प्रेय	साधु = भला
अन्यत् = भिन्न	भवति = होता है;
एव = ही (है)।	उ = तथा
नानार्थे = भिन्न प्रयोजन वाले	यः = जो
ते = वे	प्रेयः = प्रेय को
उभे = दोनों	वृणीते = चनता है
पुरुषं = मनुष्य को	अर्थात् = पुरुषार्थ से
सिनीतः = बांधते हैं।	हीयते = च्युत हो जाता है।

अब अभ्युदय और निःश्रेयस के विभाग का प्रदर्शन करते हुए विद्या और अविद्या का विभाग प्रदर्शन किया जायगा तथा केवल विद्या की इच्छा जिसमें है, उसकी प्रशंसा भी की जायेगी।

पाणिनी के प्रशस्यशः (५-३-६०) के अनुसार प्रशस्य को श्र आदेश हो जाता है। एवं द्विवचन विभज्योपपदेतरीयसुनौ (५-३-५७) से दो की तुलना में एक वस्तु बड़ी कहने पर ईयस् हो जाता है। इस प्रकार श्रेयस् का मतलब हुआ दो प्रशस्य अर्थात् प्रशंसनीय पदार्थों जो एक अधिक प्रशंसनीय हो। इसी प्रकार प्रिय को प्र आदेश होकर के प्रेयस् हो जाता है। अतः

प्रेयस् का अर्थ हुआ, दो प्रिय पदार्थों में से जो एक अधिक प्रिय हो। श्रुति की यह रचना यहां स्पष्ट बताती है कि दोनों ही प्रशस्य हैं और दोनों ही प्रिय हैं परन्तु एक प्रशस्य ज्यादा है और एक प्रिय ज्यादा है। इस प्रकार वेदांत की दृष्टि में जरथुस्त्र, मूसा, ईसा, आदियों की तरह पदार्थ दो प्रकार के नहीं हैं कि एक अच्छा ही और एक बुरा हो। प्रायश: द्वैतवाद यह मानता है कि जो प्रिय होता है, वह प्रशंसनीय नहीं होता एवं जो प्रशंसनीय होता है, वह प्रिय नहीं होता। परन्तु अद्वैत दृष्टि से हर पदार्थ या क्रिया प्रशंसनीय भी होती है और प्रिय भी होती है। दोनों में केवल मात्रा (Degree) का भेद है। प्रशस्य या प्रशंसनीय का तात्पर्य होता है जिसका शंसन किया जाये अर्थात् जिसकी स्तुति की जाये। शुभ कर्मों की ही प्रशंसा की जाती है। **प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द: पार्थ युज्यते** (गीता ७-२६) के द्वारा श्री कृष्ण यह कहते हैं कि प्रशंसनीय कर्म को ही सत्कर्म कहा जाता है। अत: जो नैतिक (Moral) कर्म हैं, वे श्रेय हैं तथा जो संसार में अपने व दूसरों की उन्नति के हेतु हैं वे प्रेय हैं। प्रेय का अर्थ अभ्युदय को विषय करता है। वह अभ्युदय इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। जो कुछ लोग प्रेय का अर्थ केवल संसार की भोग-परायणता को लेते हैं, वह श्रौत तात्पर्य नहीं हैं, वरन् इहलोक की उन्नति से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त जाने के उत्तरायण इत्यादि जितने भी साधन हैं, वे सब प्रेय का विषय हैं। कुछ आधुनिक लौकिक बौद्ध धर्म के उत्तान नामक ग्रन्थ में आया हुआ **'असंतश्चैव संतश्च नानायान्ति त्वितश्च्युता:। असंतो नरकं यान्ति सन्त: स्वर्गपरायणा.'** अथवा संयुक्त निकाय में आया हुआ **'तस्मान्सतांञ्चमसंतान्च नानाहोति इतो गति। असंतोनिरयं यान्ति संतो सग्ग परायणा।'** आदि के आधार से इस मंत्र का अर्थ करते हुए प्रेय से नरक जाने वाले इहलोक के कर्मों को लेना चाहते हैं। प्लेटो भी यह बताता है कि हम लोगों के दो शासन करने वाले एवं निर्देश देने वाले तत्व हैं जिनमें से एक सुख की तरफ ले जाता है, और दूसरा प्रयास करने से विशिष्ट निर्णय करने की शक्ति लाता है जो उत्तमता (Excellence) की तरफ ले जाता है। कभी-कभी इन दोनों में समन्वय हो जाता है एवं कभी-कभी विरोध। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कभी एक जीतता है कभी दूसरा। इस प्रकार प्लेटो, संयुक्त निकाय, उदान आदि को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता लगता है कि उनमें

प्रेय का अर्थ संसार के भोगों की प्रेयता को लेकर के ही कहा गया है। परन्तु यह श्रौत तात्पर्य नहीं है क्योंकि नरक जाने वालों को श्रुतियों में तो तृतीय मार्ग वाला माना है। 'स्थाणुमन्ये' (कठ ५-७) 'अथैतयोः यथोर्णकतरेण चन तानि क्षुद्राणि' (छांदोग्य ५-१०-८), आदि के द्वारा नरक की तरफ जाने वाले मार्ग को तो तीसरा मार्ग स्वीकार करते हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि संसार की तरफ ले जाने वाला मार्ग प्रिय है एवं यह प्रियतर अर्थात् प्रेय है। हर हालत में सर्वज्ञ शंकर तो स्पष्ट ही कहते हैं कि अविद्या के अंतः पाती होने और अविद्या रूप जगत की उन्नति देने वाले अभ्युदय कर्म ही यहां प्रेय शब्द से लिये गये हैं। अभ्युदय के कर्म भी प्रशंसनीय तो हैं ही क्योंकि नरक की तरफ ले जाने वाले दुष्कर्मों की अपेक्षा उत्तम हैं। यदि नरक गामी कर्मों को ले लिया जायेगा तो उन्हें प्रशंसनीय कहना नहीं बनेगा। कल्याण के मार्ग में चलने वाले को वैराग्य के द्वारा संसार के पदार्थों का दुःख कम होता जाता है। अतः उनमें भी प्रियरूपता है ही। किंच, जितना-जितना कर्त्तव्य का बोझ उतरता जाता है, उतना-उतना मनुष्य को हल्कापन अनुभव होता जाता है। इस दृष्टि से भी उनमें प्रियता है। लोक में भी देखने में आता है कि जब-जब मनुष्य को संसार के पदार्थ वाले सम्बंधों से दुःख अनुभव होता है तब तब कुछ समय के लिये उसे वैराग्य आदि में प्रिय बुद्धि हो जाती है जिसे लोक में श्मशान वैराग्य कहा जाता है। श्रेय मार्ग में भी प्रियता तो है ही। परन्तु श्रुति का तात्पर्य यह है कि प्रायः करके सभी पुरुषों को श्रेय मार्ग में चलने पर प्रियता का कम अनुभव होता है एवं प्रेय मार्ग उतना प्रशंसनीय नहीं है। इस दृष्टि से ही श्रुति ने श्रेय और प्रेय शब्द का प्रयोग किया है।

वस्तुतस्तु शुद्ध कर्मों (Moral) में समाज को संग्रथित रखने की एक विशिष्ट शक्ति है। अतः प्रायः करके समाज शुभ कर्मों की प्रशंसा करता है। समाज जितना ही संग्रथित होता है, उतना ही इन कर्मों से प्रशंसा मिलने के कारण मनुष्य इनकी तरफ अधिक से अधिक प्रवृत्ति करता है और उसमें प्रियता का बोध स्फुट हो जाता है। जो समाज जितना विशृंखलित होता चला जाता है उसमें नैतिक मूल्यों के प्रति उतनी ही हीन दृष्टि आने लगती है और शुभ कर्म करने वालों को उतना ही उसमें प्रियता का बोध कम होता जाता है। आज भारतीय जन जीवन में नैतिक अर्हतायें प्रायः

शून्य तक पहुंच चुकी हैं। अतः दुष्ट से दुष्ट प्रवृत्ति करने वाले में भी धन या पद को देखकर हमारे हृदय में एक प्रशंसनीयता का भाव उदय हो जाता है एवं सत्य, धैर्य, क्षमा, आदि को देखकर के भी यदि धन या सांसारिक वैभव की हीनता दीखती है तो हमें वह मनुष्य दयनीय मानव लगता है। नैतिक अर्हताओं से हमारे मन में उसके प्रति प्रशंसा का भाव उदय नहीं हो पाता। इसी का नतीजा है कि समाज में प्रतिदिन अधिक से अधिक नैतिक व्यक्तियों की न्यूनता होती चली जाती है एवं स्वयं नैतिक व्यक्ति भी प्रायशः अपने को हीन अनुभव करने लगे हैं और उनके मन में एक संदेह आने लगा है कि क्या हम ठीक रास्ते पर हैं। दुःख तो इस बात का है कि अनेक तथाकथित कर्मकाण्डी लोग प्रायश्चित्त के नाम पर अथवा दान इत्यादि के नाम पर इस प्रकार के अभ्युदय मार्ग शून्य पाप कर्म रत व्यक्तियों को न केवल एक मानसिक संतोष देने लगे हैं कि वह उतने बुरे नहीं हैं वरन् कहीं कहीं तो धर्मरत्न, दानवीर इत्यादि पदवियों से विभूषित करके धर्म के मूल पर ही कुठाराघात करने लगे हैं। स्वभावतः आज तो प्रेय मार्ग का उपदेश असम्भव सा होने लगा है क्योंकि लोग इस तृतीय मार्ग का ही अनुसरण करने वाले बनते जा रहे हैं। यम की दृष्टि में तो यह तृतीय मार्ग मानो इतना हेय है कि उसका वह विचार ही नहीं करता। इस प्रकार प्रेय का अर्थ यानी प्रयोजन ब्रह्मलोक पर्यन्त उत्तम गति है एवं श्रेय का प्रयोजन शिव है जैसा कि भाष्यकार कहते हैं **'श्रेय एव केवलं आददानस्य शिवं भवति'** केवल श्रेय के ग्रहण करने वाले को शिवरूपता की प्राप्ति होती है। इस प्रकार वह नानार्थे अर्थात् भिन्न प्रयोजन वाले हैं परन्तु श्रुति कहती है कि ये दोनों ही सिनीतः बांधते हैं। भाष्यकार इसका अर्थ ही करते हैं 'आत्मकर्त्तव्यतया प्रयुज्यते' अर्थात् आत्मा में विद्या के कर्त्तव्य या अविद्या के कर्त्तव्य रूप से ये दोनों प्रयुक्त करते हैं। तात्पर्य हुआ कि श्रेय मार्ग में जाने वाले विद्या मेरे को कर्त्तव्य है, इस भावना से बंधते हैं और प्रेय मार्ग में जाने वाले कर्म-उपासना और अविद्या मेरे लिये कर्त्तव्य है, इस प्रकार से बंधते हैं। वस्तुतः आत्मा कर्तृत्व भावना से रहित होने के कारण उसमें किसी भी प्रकार कृतिसाध्यता लाना बंधन है। ज्ञान के प्रसंग को सुनकर भी मनुष्य के मन में यही वृत्ति पैदा होती है कि मैं ज्ञान के साधनों में लगूं एवं अभ्युदय-

वाचक स्वर्ग आदि के प्रसंग को सुनकर यही प्रवृत्ति बनती है कि मैं इसके साधनों को करूं। अत: दोनों तरफ मनुष्य अपने में कर्त्तव्यता का आपादन करके बंधता है। जिस प्रकार लोहे का पिंजड़ा उसी प्रकार सोने का पिंजड़ा वस्तुत. पिंजड़ा ही है। उसी प्रकार यहां समझना चाहिये। आगे श्रुति कहती है कि पुरुषमात्र श्रेय या प्रेय रूपी प्रयोजनों से अपने ऊपर कर्त्तव्यता का आपादन करता है एवं उसके द्वारा बंधता है। परन्तु पुरुष ही इस प्रकार बंध सकता है। पुरुष का अर्थ करते हुए सर्वज्ञ शंकर कहते हैं **'पुरुषं अधिकृतं वर्णाश्रमादि विशिष्टं'** जो किसी न किसी अधिकार से सम्पन्न हो उसी को पुरुष कह सकते हैं। अधिकार का मतलब किसी न किसी कर्म को अपने लिये अवश्य कर्त्तव्य मानकर उसके न करने पर अपने में कर्त्तव्यभ्रष्ट होने का बोध है। इसी को अंग्रेजी में आत्मा की आवाज (Conscience) कहते हैं। जब तक किसी मनुष्य में किसी न किसी प्रकार की अधिकार सम्पन्नता या अधिकृति न हो तब तक उसे वस्तुत: पुरुष नहीं कहा जा सकता। केवल मकान में रहना, दो पैरों पर चलना, मनुष्यता का लक्षण नहीं है। इस शब्द के द्वारा भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि यहां विषय अधिकारों का चल रहा है, अधिकार रहित द्विपदों का नहीं। जो अपनी कामनाओं से बंधा हुआ है उनको न विद्या बांधती है और न कर्म उपासना रूपी अविद्या। वे तो जंगली जानवरों की तरह कामबद्ध ही हैं। परन्तु अपनी कामनाओं को छोड़ने पर कुछ लोग अमृत तत्व की इच्छा से श्रेय मार्ग में बंधते हैं जिसमें नैतिक अर्हायें (Moral values) प्रधान होती हैं और कुछ लोग प्रेयस् में बंधते हैं जिसमें कर्मकाण्ड, रीति रिवाज एवं समाज की मान्यतायें प्रधान होती हैं। अधिकृतं को वैदिक परम्परा के साथ मिलाते हुए आचार्यपाद दूसरा भी पुरुष का लक्षण करते हैं **'वर्णाश्रमादिविशिष्ट:'** भारतीय परम्परा में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी वर्ण, आश्रम आदि धर्मों से अपने को अधिकृत मानता है। जैसे **'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत्'** अर्थात् ब्राह्मण बृहस्पति सव में अधिकारी है। तात्पर्य है कि जिसमें ब्राह्मणत्व का अभिमान है, वह बृहस्पति सव न करने पर अपने आपको हीन मानता है। स्पष्ट ही है कि बृहस्पति बुद्धि के देवता हैं एवं ब्राह्मण यदि अपनी बुद्धि को परमेश्वर के अर्पण नहीं कर सका तो अपने आपको हीन समझेगा ही। इसी प्रकार अपने को गृहस्थ मानने वाला

'सदृशी भार्यां उपेयात्' अपने समान गुण वाली और कुल वाली एवं जो केवल अपनी कमाई के द्वारा गुजारा करे, ऐसी स्त्री के साथ ही विवाह करे। वैदिकों ने आजकल की पत्नियों की कमाई खाने की कल्पना भी नहीं की थी और न धन रूपी दहेज के लोभ से अपने कुल और शील को बेचने की ही उनके मन में कोई भावना आ पाई थी। जो गृहस्थ इस प्रकार की सदृशी भार्या को नहीं प्राप्त कर सकता वह अपने आपको हीन अनुभव करता है। गृहस्थत्व अभिमानप्रयुक्त यह कर्म हुआ। इसी प्रकार 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' जिसमें मैं संन्यासी हूं, ऐसा अभिमान है, उसमें वेदांत श्रवण न करने पर हीन भावना आयेगी। इस प्रकार भारतीय परम्परा में वर्णाश्रम आदियों को लेकर अधिकार की भावना हो अथवा आर्येतरों में और किसी प्रकार से अधिकार की भावना हो, अधिकार की भावना से ही पुरुषत्व की सिद्धि है, यह सर्वज्ञ शंकर का कथन है। इस प्रकार यद्यपि प्रेय रूपी पुरुषार्थ से सम्बन्ध वाली अविद्या और श्रेय रूपी पुरुषार्थ से सम्बन्ध वाली विद्या एक-एक पुरुषार्थ को विषय करने वाली है। अतः जैसे कान और नाक का विरोध नहीं, वैसे ही उनका भी विरोध न हो। इस प्रकार की शंका की जा सकती है, परन्तु विचार करने से लगता है कि ऐसा नहीं है। जब तक इनमें से एक का त्याग न किया जाये तब तक दूसरे का ग्रहण सम्भव नहीं। अतः एक ही पुरुष एक साथ दोनों का अनुष्ठान कर सके, यह असम्भव है। यह बात दूसरी है कि एक ही काल में भिन्न-भिन्न पुरुष इनका अनुष्ठान कर सकता है अथवा भिन्न-भिन्न कालों में एक पुरुष ही इनका अनुष्ठान कर ले। साधनचतुष्टय सम्पन्न होने पर विद्या की अनुभूति की सम्भावना आती है एवं उससे रहित होने तक अविद्या रूपी कर्म उपासना की। इस प्रकार दोनों अधिकारों में भेद समझ लेना चाहिये। साधनचतुष्टय सम्पत्ति प्राप्त-होने पर प्राणिमात्र श्रेय मार्ग का पथिक बनने का अधिकारी हो जाता है। यद्यपि अविद्या मार्ग को आगे अनेक प्रकार का बतायेंगे परन्तु विद्या मार्ग तो एक ही है। इसीलिये कर्म मार्ग के उपदेशक को पुरुष के अभिमान भेद को लेकर अनेक प्रकार के मार्गों का निरूपण करना पड़ता है। परन्तु विद्या मार्ग में तो ऐसी कोई भी आवश्यकता नहीं होती। विद्या में सर्वथा एक रूपता और अविद्या में सर्वथा अनेक रूपता। विद्या में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि भावनाओं का त्याग,

कर्म उपासनाओं में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व भावनाओं के भेद का समर्थन। विद्या में उपाधियों का त्याग एवं अविद्या में उपाधियों पर ही अधिक बल इत्यादि भेद होने से दोनों का सह समुच्चय बनता नहीं। वर्ण आश्रम, उमर अवस्था, कुल, शील इत्यादि के अभिमान को लेकर के ही अविद्या का मार्ग प्रवृत्त होता है एवं इन सबको छोड़ने के लिये ही विद्या का मार्ग। अतः जो लोग यह मानते हैं कि वैध कर्त्तव्यता ज्ञान के द्वारा विद्या और अविद्या की तरफ पुरुष स्वतः से ही प्रवृत्त हो जायेगा जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, इत्यादि अभिमानों से प्रयुक्त हुआ व्यक्ति अपने अपने वर्ण धर्मों में या गृहस्थ वानप्रस्थ आदि के द्वारा अपने आश्रम धर्मों में अथवा मण्डलाधीश (District Magistrate) कोटपाल (Superintendent of Police), खाद्य आयुक्त (Food commissioner), मण्डल वनाधिकारी (Dt. Forest officer) आदि आदि उन उन अभिमानों से प्रयुक्त होकर अपने अपने वैध कर्त्तव्यों में प्रवृत्त होते हैं। अथवा पिता, माता, भ्राता, भगिनी आदि अभिमानों से तत्तद् वैध कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। अथवा नागरिक भारतीय, पाकिस्तानी आदि अभिमानों से प्रयुक्त होकर तत्तद् कर्मों में प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार श्रेय और प्रेय में भी हो जाये, फिर उन्हें अलग अलग मानना क्यों आवश्यक हो रहा है? अनेक ज्ञान कर्म समुच्चयवादी एवं स्मार्त संन्यास को मानने वाले इसी प्रकार की युक्ति देकर चतुर्थ आश्रम रूपी संन्यास को ही संन्यास मानते हैं। परन्तु श्रुति ऐसा स्वीकार नहीं करती, यह इस मंत्र से अथवा अन्य भी अनेक स्थलों से सुस्पष्ट है। इसका कारण है। संसार के सभी अभिमानों से प्रयुक्त कर्म और उपासना चूंकि दृश्य रूपी फल अर्थात् किसी न किसी लोक को देती है एवं निःश्रेयस् मार्ग में ऐसा कोई फल नहीं मिलता वरन् सारे फलों की निवृत्ति होती है, अतः दोनों को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। भाव यह है कि अभ्युदय मार्ग से निःश्रेयस् मार्ग में जाना मानव की अपनी शक्ति का विनियोग है (Assertion of will)। मोक्ष अभ्युदय की पंक्ति में बैठने वाला एक अभ्युदय विशेष नहीं है। अतः अभ्युदय के साथ मोक्ष का न कोई कार्य कारण सम्बन्ध है और न कोई क्रम का सम्बन्ध है। यह बात दूसरी है कि जैसे शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने के पहले प्राणिमात्र पापी होते हैं, अतः मोटी दृष्टि से कहने वाला कह सकता है कि पापी ही शुभ कर्म में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार कुछ मंद बुद्धि वाले लोग श्रेय मार्ग

की प्रवृत्ति के पहले अभ्युदय के कर्मों में प्रवृत्ति देखकर यह कल्पना करते हैं कि जिसने पहले अभ्युदय कर्म कर लिया है, वही आगे श्रेय मार्ग में प्रवृत्त होता है। परन्तु जैसे पाप की शुभ कर्म के प्रति कोई कार्यकारणता नहीं यह विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है, ऐसे ही श्रेय के लिये कर्म उपासना की कोई कार्यकारणता नहीं। जब तक मनुष्य अविद्या में है तब तक उसे श्रेय मार्ग का उपदेश देना व्यर्थ होने से उसे प्रेय मार्ग ही बताया जा सकता है यह विषय दूसरा है। अतः जैसे पापी अपनी इच्छा का उपयोग करके ही पाप का त्याग करता है, उसी प्रकार शुभ कर्म करने वाला भी अपनी इच्छा का प्रयोग करके ही कर्मों से अतीत तत्व की तरफ जाता है। सर्वज्ञ शंकर, सुरेश्वर, पद्मपाद, आनंदगिरि आदि श्रुति हृदय वेत्ताओं ने इसीलिये बार-बार स्पष्ट किया है कि श्रेय मार्ग की तरफ कोई भी विधि किसी को प्रवृत्त नहीं कर सकती। सारी विधि को छोड़ने पर ही श्रेय मार्ग की प्रवृत्ति बनती है। बड़े लम्बे-चौड़े शास्त्रार्थ के बाद जहां विधि प्रतीत भी होती है, वहां सर्वतंत्रस्वतंत्र विद्वन्मूर्धन्य आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं '**विधिच्छायानीमानि वाक्यानि**' अर्थात् उन वाक्यों में जो विधि प्रतीत होती है, वह वस्तुतः विधि नहीं, वरन् विधि की छाया मात्र है। अतः जब तक किसी भी फल की कामना है, कुछ पाने की इच्छा है, तब तक प्रेय मार्ग का अवलम्बन करे और पाते पाते थक जाये एवं और कुछ न पाने की इच्छा रह जाये तब मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करे। अतः दोनों का एक साथ अनुष्ठान हो नहीं सकता क्योंकि एक में विधि प्रयुक्तत्व है और दूसरे में विधि प्रयुक्तत्व नहीं। कुछ लोग, इससे श्रेय मार्ग स्वच्छन्द आचरण का पोषक हो जायेगा, ऐसी सम्भावना करते हैं। यह सत्य है कि सांसारिक भोगमात्र में प्रवृत्त मनुष्य भी किसी विधि को स्वीकार नहीं करता। परन्तु उसके मन में सांसारिक भोग रूपी फल की कामना रहती है एवं कामनाओं की अधीनता भी रहती है। श्रेय मार्ग में प्रवृत्त न तो किसी भी प्रकार के फल की अभिलाषा वाला है और न कामनाओं के अधीन ही है। अतः उस प्रकार का स्वच्छन्द वाद तो उसमें सम्भव ही नहीं है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि सृष्टि चक्र में स्वतः नैतिकता (ऋत) अनुस्यूत है। अतः जैसे प्रकृति के नियम, वैसे ही नैतिक नियम। जिसको उन नियमों का ज्ञान न हो वह उन नियमों के विरुद्ध कार्य करके हानि उठाता है। परन्तु जिसको उन नियमों का ज्ञान हो उसको उनके

प्रति कोई विधि अपेक्षित नहीं होती। एक तल्ले पर से कूदने से नीचे गिरा जाता है, यह ज्ञान सभी प्राणियों को होने से इस विधि की जरूरत नहीं पड़ती कि ऊपर से मत कूदना। प्यास लगने पर पानी पीने की विधि की अपेक्षा नहीं होती। मल भर जाने पर उसके निष्कासन के लिये किसी आज्ञा को नहीं मांगा जाता। जैसे ये प्राकृतिक नियम हैं, वैसे ही धैर्य, क्षमा, अपरिग्रह, अस्तेय, शुचि, सत्य आदि प्राकृतिक नियम हैं। फल कामनाओं से इन प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कार्य किया जाता है एवं फल कामना जहां नहीं होती, वहां इन नियमों के अनुसार स्वतः प्रवृत्ति होती है। प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि किसी न किसी लोभ की दृष्टि से मनुष्य झूठ बोलता है। न अपना नुकसान करने के लिये झूठ बोलता है, न बिना किसी लाभ की इच्छा के झूठ बोलता है। यह बात दूसरी है कि कभी कभी बहुत झूठ बोलने के बाद एक दो झूठ वैसे ही बोल ले क्योंकि अभ्यास हो गया है। इसी प्रकार जहां अपना लाभ नहीं होता वहां तो मनुष्य धैर्य और क्षमा वाला बना ही रहता है। अतः लाभ की दृष्टि से ही नैतिक अर्हाओं से विरुद्ध जाया जाता है। इतना ही नहीं, किसी न किसी लाभ या हानि की आशंका को दूर करने के लिये मनुष्य हिंसा करता है। वह लाभ चाहे जीभ के स्वाद का हो, चाहे स्वर्ग आदि प्राप्ति का। इस प्रकार जब लाभ की दृष्टि और कामना दोनों हट गये तो नैतिक अर्हाओं का विरोध करने का कोई कारण ही नहीं रह जाता है। अतः ऐसा व्यक्ति स्वभावतः नैतिक आचरण करता है। जिस प्रकार रोगी पुरुष को स्वस्थ हो जाने पर उसका डाक्टर कहता है कि अब जो तुम्हारी इच्छा हो सो खा सकते हो तो इसका मतलब कोई यह नहीं लगाता कि मिट्टी या जहर खा सकते हो। परन्तु यही लगाता है कि जो सामान्यतः तुम्हारे शरीर के उपयोगी पदार्थ हैं, उन्हीं को खा सकते हो। उसी प्रकार जब श्रेय मार्ग के पथिक को कहा जाता है कि तुम विधि और निषेध से परे हो तो इसका मतलब यह लगाना कि वह स्वच्छन्द आचरण करेगा, जो उसको इह लोक में भी निंदा का पात्र बनायेगा और अंतःकरण में भी तनावों को पैदा करेगा, व्यर्थ बकवास मात्र है। होता यह है कि जिस व्यक्ति में अभी लाभ की इच्छा है अथवा कामनायें पड़ी हुई हैं, वह दुराचार में तो इन कामनाओं के द्वारा प्रवृत्त होता है, परन्तु समाज में यत्किंचित् सम्मान प्राप्त करने के लिये अपने को श्रेय मार्ग का पथिक सिद्ध

करना चाहता है। परन्तु इस प्रकार तो मांस खाने वाला अथवा शराब पीने वाला भैरव उपासना का या परदारारत भैरवी चक्र की उपासना का बहाना ढूंढ़ते ही हैं। अत: यह सत्य है कि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, ब्रह्म-चारित्व, गृहस्थत्व, भारतीयत्व, पाकिस्तानीयत्व, पुरुषत्व, स्त्रीत्व आदि आरोपित उपाधियों से प्रयुक्त विधि प्रतिषेध का त्याग तो श्रेय मार्ग करता है परन्तु आधारभूत जो धर्म हैं, वे तो उसमें स्वभाव से ही रहते हैं। आचार्य शंकर इसीलिये **श्रेय एवं केवलं** कहकर यह स्पष्ट करते हैं कि श्रेय मार्ग का प्रेय मार्ग के साथ उपादान होना असम्भव है। श्रेय को चुनने वाले को केवल श्रेय चुनना पड़ता है। प्रेय मार्ग में चलने वाला तो श्रेय को भी प्राप्तव्य मान लेता है। परन्तु श्रेय वाला ऐसा नहीं कर सकता। आगे श्रुति कहती है कि जो इस प्रकार केवल श्रेय का उपादान कर लेता है, वह साधु हो जाता है। साधु का अर्थ सत्पुरुष है। गीता में भी 'सद्भावे साधुभावे च' कहकर सभी शोभन व्यक्तियों को साधु शब्द से कहा गया है। कर्म त्यागी संन्यासी में भी साधु शब्द रूढ़ है। आनंद कुमार स्वामी ने तो 'असमा उभो दूर-विहार-वुत्तिनो गिही दारपोशी अममाचसुब्बतो' इत्यादि सुत्त निपात के अनुसार संन्यासी पवित्र व्यक्ति एवं गृही पत्नी का पोषण करने वाला, एक-दूसरे से भिन्न हैं और दोनों की आदतें सर्वथा भिन्न हैं, एक ने अहं को छोड़ दिया है और सुव्रतों को धारण कर लिया है इत्यादि कहकर श्रेय मार्ग के चुनने वाले को गृहत्यागी ही ग्रहण किया है। यद्यपि यहां भाष्य में ऐसा संकेत नहीं है। परन्तु सर्वकर्म संन्यास का अन्यत्र अनेक जगह भाष्य में प्रति-पादन किया ही गया है। इस प्रकार प्रेय कर्म जन्म-मरण आदि के हेतु होकर के बंधक रूप हैं और विद्या यद्यपि जन्म आदि के कारणों की निवर्त्तक है, फिर भी तत्व की दृष्टि से वृत्ति रूप होने से बंधक है, यह भाव है।

जो तो दूरदर्शी नहीं है एवं विमूढ़ है वह इस पारमार्थिक पुरुषार्थ रूपी प्रयोजन को न समझकर के इससे गिरता है एवं अनित्य पदार्थों को प्राप्त करता रहता है। अनित्य पदार्थों की प्राप्ति ही यहां श्रुति में 'हीयते' का अर्थ है। यहां परम पुरुषार्थ के लिये अर्थ शब्द का प्रयोग करके यम यह कह रहे हैं कि वैराग्य प्राप्ति के अनन्तर जिसे संसारी लोग अल्प पुरुषार्थ कहते हैं उसमें अर्थत्व दृष्टि भी नहीं रह जाती। ठीक भी है जैसे ओब्राय इण्टरकाण्टिनेण्टल में चाय पीने के बाद झुग्गियों की चाय की दुकान में बैठकर चाय पीने में

किसी भी प्रकार की अर्थरूपता की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही यहां समझना चाहिये । बड़े से बड़ा सम्राट एवं औद्योगिक चक्रवर्ती उसे ऐसे ही लगते हैं जैसे झुग्गियों में रहने वाले मलमूत्र में बिलबिलाने वाले व्यक्ति भारत के राष्ट्रपति को लगते हैं ।

: २ :

प्रश्न उठता है कि यदि दोनों करने में मनुष्य स्वतंत्र है तो फिर अधिकतर लोग क्यों प्रेय मार्ग का ही अनुसरण करते हैं:—

श्रेयः च प्रेयः च मनुष्यं एतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयः हि धीरः अभि प्रेयसः वृणीते प्रेयः मन्दः योगक्षेमात् वृणीते ॥

श्रेयः = श्रेय	धीरः = बुद्धिमान
च = और	प्रेयसः = प्रेय की अपेक्षा
प्रेयः = प्रेय	श्रेयः = श्रेय को
मनुष्यं = मनुष्य को	हि = ही
एतः = प्राप्त होते हैं	अभि = अधिक मानकर
च = तथा	वृणीते = चुनते हैं ।
तौ = उन दोनों को	मन्दः = मन्द बुद्धि
सम्परीत्य = आलोड़न करके	योगक्षेमात् = योग क्षम के कारण
धीरः = बुद्धिमान	प्रेयः = प्रेय को
विविनक्ति = अलग करता है ।	वृणीते = चुनते हैं ।

यद्यपि यह सत्य है कि मनुष्य श्रेय और पेय को चुनने में स्वतंत्र है, फिर भी साधन और फल का विवेक करना मन्द बुद्धि वाले के लिये सम्भव नहीं होता । जब मनुष्य में अधिकृत भावना आ जाती है अर्थात् यह भाव आ जाता है कि जो मेरा कर्त्तव्य (Conscience) है, उसको करूं, तब उसके सामने श्रेय और प्रेय दोनों उपस्थित हो जाते हैं । उसे लगता है कि श्रेय का साधन बड़ा कठिन है और प्रेय का सरल है । या उसे लगता है कि श्रेय के द्वारा जिसकी प्राप्ति होगी, उसमें कोई सुख नहीं है और उसका स्वरूप समझ में भी नहीं आता, जबकि प्रेय का स्वरू। समझ में भी र । है और सुखरूप भी प्रतीत होता है । अब तक जो भी सुख देखा है वह

भोक्ता और भोग्य भाव से सम्पन्न होकर के एवं श्रेय के बारे में कहा जाता है कि वहां भोक्ता और भोग्य भाव रह नहीं जाते। अतः वह कुछ अंधकार शून्य सा प्रतीत होता है। जैसा कि पद्मपादाचार्य कहते हैं कि रागी लोग प्रायः वृन्दावन में सियार बनकर रहना भी पसन्द करते हैं परन्तु निर्विषयक मोक्ष से घबराते हैं। अतः मन्दबुद्धि वालों को ये दोनों जब सामने उपस्थित होते हैं तो प्रेय ही अच्छा लगता है एवं इसीलिये अधिकतर लोग उसका ही चयन करते हैं। जब तक विवेक न आ जाये तब तक श्रेय का चुवाव सम्भव नहीं। किंच, यहां 'श्रेयश्चप्रेयश्च' के द्वारा श्रुति यह भी ध्वनित कर रही है कि साधारण पुरुषों को वे ऐसे मिलेजुले (व्यामिश्रीभूते) प्रतीत होते है कि उन्हें लगता है कि दोनों के साधन और फल भी एक ही हों। आज भी अनेक लोग कहते ही हैं कि कर्म और भक्ति योग से जो प्राप्त होता है, वही ज्ञान से भी प्राप्त होता है अथवा एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के ये सब भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। प्रशंसा दोनों की ही शास्त्रों में मिलती है और सत्पुरुष भी दोनों की प्रशंसा ही करते हैं। अतः साधारण पुरुषों को समझ में नहीं आता कि दोनों में क्या फरक है। साधन दृष्टि से भी दोनों ही में कुछ न कुछ करना पड़ता है, समझना पड़ता है, ध्यान धारणा करनी पड़ती है और कुछ त्याग करना पड़ता है। अतः उस दृष्टि से भी वह एक सा ही लगता है। यदि आनंदकुमार स्वामी के अनुसार यहां गृही और संन्यासी का प्रसंग लें तो भी अधिकतर लोगों को लगता है कि संन्यास में भी आश्रम, गुरु आज्ञा, शिष्य आदि का साधन गृहस्थ की तरह ही प्रतीत होता है। इन सब कारणों से वे दोनों में फरक नहीं कर पाते। यह जो श्रेय और प्रेय का मिलाजुला आना है, यही साधारण मनुष्य को चुनाव करने में असफलता दे देता है। उन्हें दोनों की एकता ही प्रतीत होती है। इस प्रकार चकारद्वय को परस्पर समुच्चय अर्थ वाला मानकर व्यामिश्रता का द्योतक समझना चाहिये। स्वरूप और फल का विवेक न होने पर प्रियतर लगने के कारण सामान्यतः प्रेय ही चुना जाता है। कोई एक बुद्धिमान हंस की तरह पानी मिले दूध में से दूध को अलग करके ग्रहण कर लेता है। वैसे ही वेद आदि सच्छास्त्रों में से श्रेय को चुन लेता है।

एतः—आ इतः चारों ओर से प्राप्त होता है, यह भाव है। वेदों को पढ़ने वालों से यह छिपा हुआ नहीं है कि वेद एक ही मंत्र, एक ही प्रसंग में

श्रेय और प्रेय को मिलाता रहता है। उन्हीं मंत्रों से सगुण ब्रह्म का वर्णन और निर्गुण ब्रह्म का वर्णन कर देता है। एक ही साधना का वर्णन करता है जो निरुपाधिक की तरफ भी जा सके और सोपाधिक की तरफ भी। श्रुति इसलिये ऐसा करती है कि जिससे अज्ञानियों को किसी प्रकार का संशय न हो पाये और ज्ञानी तो उसमें से वास्तविक चीज को ही चुन ही लेगा। जैसे माता घर में बीमार बच्चे को और स्वस्थ बच्चे को एक साथ भोजन खिलाने पर एक को पानी डाला दूध का दलिया और दूसरे को खीर इस ढंग से परोसती है कि दलिये वाले को लगे कि हम दोनों एक ही चीज खा रहे हैं। अन्यथा बीमार बच्चे को खीर की स्मृति से दुःख होता है। अथवा खिचड़ी बनाकर स्वस्थ बच्चे के लिये उसमें अन्दर ही अन्दर घी डाल देती है। ऐसा नहीं करती कि एक को जलेबी और दूसरे को सूखा फुलका दे दे। जैसे वहां बाह्य परिवेश एक ही रखकर के पदार्थद्वय है वैसे ही यहां पर भी एक ही शब्द समूह में श्रेय को छिपाकर रख दिया गया है और प्रेय स्पष्ट करके रख दिया गया है। यही वेदों की विशेषता है। अतः आ इतः के द्वारा ये कहा गया कि वेदों के सभी मंत्रों में चारों तरफ से दोनों एक साथ-साथ ही मिले हुए प्राप्त होते हैं। आचार्य शंकर के बाद आने वाले रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क, भास्कर आदि अनेक आचार्यों ने वैष्णव सम्प्रदाय का अर्थ करते हुए सर्वत्र निरुपाधिक तत्व से भिन्न सोपाधिक में ही सब उपनिषदों का तात्पर्य करने का प्रयास किया है। साधारण बुद्धिजीवी यह कह उठता है कि दोनों ने ही उपनिषदों का तात्पर्य ब्रह्मसूत्र के अनुसार सिद्ध कर दिया। अतः दोनों ही एक उद्देश्य को प्राप्त कराने वाले मार्ग हैं। थीबो जैसा शंकर और रामानुज दोनों भाष्यों का अनुवादक तो रामानुज भाष्य को ब्रह्मसूत्र के अधिक नज़दीक मानता है। क्योंकि ऊपर-ऊपर से देखने से ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है। यद्यपि यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्मसूत्रों में संकेत मात्र है और थीबो भी यह मानता है कि यह संकेत जहां से लिया गया, वह उपनिषद् तो शंकर के अर्थ का समर्थन करती है। इस प्रकार आ-इतः एतः शब्द का प्रयोग बहुत ही सार्थक है। भाष्यकारों ने तो इतः का यहां अर्थ ही अश्नुतः किया है अर्थात् सर्वत्र दोनों श्रेय और प्रेय व्याप्त हैं। तात्पर्य है कि भाष्य की दृष्टि से न केवल वेद आदि सच्छास्त्रों में वरन् जीवन के प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक विज्ञान में,

प्रत्येक सामाजिक स्थिति में, प्रत्येक मानस स्थिति में हमारे लिये चुनाव का प्रसंग है। प्रेय और श्रेय का चुनाव किसी एक क्षण का चुनाव नहीं, वरन् जीवन के प्रत्येक अंग में, प्रत्येक प्रत्यंग में निरंतर चुनाव करते रहना पड़ता है। जब श्रेय का चुनाव स्वाभाविक हो जाता है तब मनुष्य स्थित प्रज्ञ हो जाता है। अतः आचार्य शंकर की दृष्टि में तो श्रेय मार्ग और प्रेय मार्ग अपनी स्वातंत्र्य शक्ति का उपयोग है। जीवन के किसी एक क्रम को बदलना नहीं है। जीवन की किसी एक पद्धति को अपनाना नहीं है। प्रेय की परम्परा में श्रेय एक पदार्थ नहीं है वरन् किसी भी पद्धति में, किसी भी व्यवहार में, किसी भी स्थिति में विवेक पूर्वक श्रेय को लेना है या प्रेय को लेना है। इस प्रकार सर्वज्ञ शंकर तो इन दोनों मार्गों को दृष्टिभेद से ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतस्तु अद्वैत सिद्धान्त में एक ब्रह्म ही विद्या दृष्टि से सच्चिदानंदघन रूप दीखता है और उस रूप में वह क्रियाकारक फल आदि दोषों से रहित त्रिपुटी-मुक्त है एवं वही ब्रह्म अविद्या दृष्टि से देखे जाने पर क्रियाकारक फल भेद वाला, रूप रस आदि गुण युक्त, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन वाला प्रतीत होता है। विद्या और अविद्या दोनों दृष्टियों के चले जाने पर तो उसका स्वरूप प्रपंचोपशम शांत अद्वितीय अखण्ड एकरस, समरस शिव ही रह जाता है। मनुष्य का उच्चतम कल्याण यही है 'न सुख और न दुःख।'

एतः का सीधा अर्थ भी आयातः अर्थात् दोनों आये, ऐसा होता है। उस दृष्टि से भी मानो ये दोनों स्वभाव से ही उपस्थित होते रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ श्रेय की इच्छा भी बनी ही रहती है और प्रेय की इच्छा भी बनी रहती है। आये हुए दोनों में से विवेकी चुनता है और अविवेकी परिस्थितियों को अपने ऊपर हावी हो जाने देता है। वह ऐसा कहता है कि परिस्थितियां स्वयं उसके लिये चुनाव कर देंगी। अनेक व्यक्ति जीवन में यही करते रहते हैं। निर्णय तब तक टालते रहते हैं जब तक परिस्थिति इस ओर या उस ओर कुछ न कर दे। इस प्रकार का जीवन यहां उपनिषद् विवेकी का जीवन नहीं मानती। विवेकी तो स्वतन्त्र होकर के ही सदा श्रेय का चयन करता है। भगवान भाष्यकार यहां एकाधिक स्थल में स्वायत्त शब्द का प्रयोग करते हैं जो यह बताने के लिये है कि यह चुनाव न किसी प्राचीन वासनाओं के अधीन है, न किसी संसार के अधीन वरन् यह तो जीव का अपना ही निर्णय है। आगे श्रुति सम्परीत्य और

विविनक्ति के द्वारा यद्यपि विवेकी के जीवन का अनुवाद करती है परन्तु सर्वत्र अध्यात्म शास्त्र में यह नियम माना गया है कि जो सिद्ध के लिये स्वभाव होता है वही साधक के लिये कर्त्तव्य होता है। अतः बार बार सम्परीक्षण करना, मनन करना और फल, स्वरूप, साधन आदियों को अलग अलग करके देखना है। जो ऐसा करता रहता है, उसको धीरे-धीरे श्रेय का पता लगता रहता है। मनुष्य की बुद्धि सत्य के आग्रह वाली होती है। अतः जैसे जैसे उसको पता लगने लगता है, वैसे वैसे उस तरफ झुकाव बढ़ने लगता है। प्रायशः लोग मनुष्य को इस सम्परीक्षण और इस भेद से हटाकर के एक ऐसे घोटाले में डाल देते हैं कि विवेक असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। अतः श्रेय साधन के चुनने का उपाय यहां श्रुति ने 'सम्परीत्य विविनक्ति' बता दिया। प्रायशः लोग श्रेय मार्ग के चयन के लिये कर्म, उपासना आदि अनेक चक्रों का वर्णन करते हैं परन्तु उनसे तो कर्तृत्व भोक्तृत्व भाव और दृढ़ होता चला जायेगा। फल और साधन का भेद बढ़ता चला जायेगा और जब यह भेद बढ़ता जायेगा तो वहां से अकस्मात् अभेद की तरफ प्रवृत्ति होने की असम्भावना वैसी ही है जैसे पानी गरम करते-करते बरफ बन जाना। वेदांत इस प्रकार की किसी आश्चर्यजनक घटना पर विश्वास नहीं करता। अतः सम्परीत्य विविनक्ति इन दो साधनों को व्यक्ति जहां भी है, वहां करता रहे तो धीरे-धीरे बुद्धि का अनाग्रह होने से एक दिन वह श्रेय का चयन कर जाता है। किन विधि निषेधों में से होकर मनुष्य आता है, इसका कोई फरक श्रेय मार्ग की साधना में नहीं पड़ता। जब तक मनुष्य की बुद्धि में सूक्ष्मता नहीं आती अर्थात् बुद्धि मोटी बनी रहती है, तब तक सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति और उनका संरक्षण और उससे होने वाला शरीर और मन का स्वातंत्र्य ही मनुष्य को आकृष्ट करता रहता है। घोड़े अधिक चनों के मिलने से प्रसन्न रहते हैं परन्तु क्या मनुष्य भी इसी प्रकार का बन जाये। मनुष्य की विशेपता यह है कि वह अमृत तत्व की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति कर सकता है। इसीलिये योग क्षेम का अर्थ भाष्यकार करते हैं 'शरीराद्युपचय रक्षण निमित्तं' अर्थात् शरीर बढ़े और उसकी रक्षा हो इस कारण से ही लोग प्रेय मार्ग का चयन करते हैं। कुछ टीकाकारों ने यहां 'योगात् क्षेमात् योगक्षेमात्' ऐसा समास करके योग और क्षेम दोनों की अपेक्षा प्रेय का वरण करते हैं, ऐसा अभिप्राय भी प्रकट किया

है। यद्यपि अर्थ से इसका कोई विरोध नहीं होता परन्तु वैदिक ग्रन्थों में योग-क्षेम एक युग्म है और बिना किसी कारण के उनको अलग अलग अर्थों में ले जाना असंगत है। अर्थ तो यहां भी यही हो जायेगा कि क्षेम अर्थात् न वह कल्याण को चुन पाता है और न योग अर्थात् न उनके साधन को चुन पाता है। तात्पर्य है कि वह सृष्टि के प्रति एक भौतिक दृष्टिकोण को अपनाता है। आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत जरूरी है कि मनुष्य का हृदय शुद्ध हो और सांसारिक कामनाओं से रहित हो। प्रेय मार्ग में अपने दोषों को दूर करना एवं गुणों का आधान करना आवश्यक होता है और ज्ञान में आत्म-दृष्टि के द्वारा इन दोनों से असंगता प्राप्त करना। यह ठीक है कि अध्यात्म ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है और जब तक अज्ञान के रोग को दूर न किया जाये तब तक शिव का दर्शन भी असम्भव है। शिव दर्शन और शिव तादात्म्य तभी हो सकता है जब शम दम आदि आत्मनियंत्रण के द्वारा हम शुद्ध हो जायें। इस शुद्धि का श्रेय मार्ग के पथिक के लिये सबसे पहला साधन ही सम्परीत्य अर्थात् भली प्रकार से मन के द्वारा उनका आलोचन है। बार-बार जब हम इसका विचार करते हैं तब धीरे-धीरे हमें पता लगता है कि दोनों का विचार करने वाले हम इन दोनों से भिन्न और ऊर्ध्व हैं। इसी प्रकार किसी भी चीज का गौरव और लाघव विचार करने से उन दोनों को अलग-अलग कर पाते हैं। कर्म के अनुष्ठान में महान आयास, फिर भी फल दुःखयुक्त होता है, यह देखा जाता है। ज्ञान के अनुष्ठान में किसी प्रकार का परिश्रम भी नहीं और फल भी अनर्थ निवृत्ति और नित्य निरतिशय आनंद की प्राप्ति है। इस प्रकार का अन्वय व्यतिरेक करते करते उन्हें गौरव और लाघव का ज्ञान हो जाता है। परन्तु यह कर वही सकता है जो धीमान् हो। धीर में जो धैर्य का अर्थ है, वह भी यहां पर इष्ट है क्योंकि धैर्य वाला ही शनैः शनैः इसको करता है। अविवेकी एक बार सत्संग सुनकर अथवा एक उपनिषद् को पढ़कर के जैसे ही बुद्धि में वह बात थोड़ी सी आती है तो समझता है कि ज्ञान का उदय हो गया। किसी बात को जान लेना ज्ञान नहीं है। जैसे आचार्य शंकर कहते हैं कि काई के तालाब में स्नान करने पर काई को फाड़ने पर लगता है कि फट गई लेकिन डुबकी मारते न मारते फिर-काई ढांप लेती है। इसी प्रकार यहां समझना चाहिये। अतः जब बार बार हम इस विवेक को बढ़ाते रहते हैं,

तब अंत में जाकर परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान बनता है। धीरः का इसीलिये अर्थ किया गया है 'संस्कृता मतिः' अर्थात् जिसकी मति में संस्कार का आधान हो चुका है। जो अल्पबुद्धि पुरुष हैं, वे ऐसा नहीं कर सकने के कारण ही पशु, पुत्र, स्वर्ग आदि को चुन लेते हैं। योगक्षेम में यहां हेतु में पंचमी समझनी चाहिये जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमः' वैसे ही 'मन्दः वृणुते योगक्षेमः'। कहीं कहीं तुलनार्थक भी पंचमी होती है तब तो योगक्षेमात् का अर्थ धीर के साथ भी लग जायेगा। योगक्षेम की तुलना से धीर श्रेय को जानता है।

: ३ :

सः त्वं प्रियान् प्रियरूपान् च कामान् अभिध्यायन् नचिकेतः अति अस्राक्षीः।
न एतां सृंकां वित्तमयीं अवाप्तः यस्यां मज्जन्ति बहवः मनुष्याः॥

नचिकेतः = हे नचिकता !
सः = वह
त्वं = तुमने
प्रियान् = प्रिय
च = और
प्रियरूपान् = प्रिय रूप वाले
कामान् = काम को
अभिध्यायन् = विचार करके
अति = पूरी तरह से
अस्राक्षीः = छोड़ दिया।
एतां = इस
वित्तमयीं = धनप्रचुर
सृंकां = कुत्सित मार्ग को
न = नहीं
अवाप्तः = प्राप्त किया
यस्यां = जिसमें
बहवः = बहुत से
मनुष्याः = मनुष्य
मज्जन्ति = डूब जाते हैं।

मृत्यु कहते हैं कि मेरे द्वारा बार बार प्रलोभन में डाले जाने पर भी न तो प्रिय पदार्थ अर्थात् पुत्र आदियों को ही तुमने काम्यमान पदार्थ माना और न प्रिय रूप वाली रामाओं को ही। पुत्र आदि गौण आत्मा होने से प्रिय कहे गये। 'प्रियं रूप्यते निरूप्यते जन्यते यैः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो प्रिय को पैदा करती है उनको प्रियरूपा कहा गया। अर्थात् संसार में पदार्थ दो प्रकार के हैं। एक स्वतः प्रिय और दूसरे प्रिय को उत्पन्न करने वाले। पुत्र आदि स्वतः प्रिय लगते हैं, स्त्री आदि पुत्र को उत्पन्न करती है,

इसलिये प्रिय लगती है। नचिकेता ने दोनों के स्वरूप का चिंतन किया और यह पाया कि वे अनित्य हैं असार हैं। यत्नसाध्य हैं, अतिशयदोषग्रस्त हैं इत्यादि फलस्वरूप उसको उनमें ग्रहण की बुद्धि न होकर के त्याग की ही बुद्धि पैदा हुई। यही उसकी बुद्धिमत्ता है। छोड़ना भी दो तरह का होता है। ब्रह्म लोक, वैकुण्ठ लोक आदि की प्राप्ति के लिये तपस्या करते समय भी मनुष्य पुत्र, पत्नी इत्यादि का त्याग करता है परन्तु वह ब्रह्म लोक में या वैकुण्ठ लोक में जा करके उससे भी श्रेष्ठ दिव्यांगनाओं आदि के भोग की प्राप्ति से। परन्तु नचिकेता का त्याग ऐसा नहीं था वरन् ऐसे भोग हमें आगे कभी भी किसी भी हालत में प्राप्त न हों, इस दृष्टि से था। अत: उसे अति स्पष्ट कहा गया। अधिकतर मूर्ख पुरुष धन या धन वाले पदार्थों में ही प्रवृत्ति करता है। अत: भाष्यकारों ने वित्तमयीं का विशेषण ही बताया है **'मूढ़जनप्रवृत्तां वित्तमयीं'** अर्थात् **मूढ़जनेषु** प्रवृत्ता, **मूढ़-जनप्रवृत्तां तां धनप्रचुरां'** अर्थात् मूढ़ जनों में प्रवृत्त जो धन की प्रचुरता के लिये प्रवृत्ति है। मूढ़ जन धनप्राय: कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, यह तात्पर्य है। यह धन प्राप्त करने की सरणी कुत्सित सरणी है। सृतौ मार्गे से कुत्सि-तार्थ में यहां सृंकां शब्द बना है अर्थात् धन से प्राप्त होने वाली गतियां कुत्सित गतियां हैं। जिनकी तरफ तुम आकृष्ट होकर नहीं गये अर्थात् वे तुम्हें प्राप्त नहीं हुईं। भाष्यकार तो स्पष्ट ही सृंकां का अर्थ **सृतिं कुत्सितां** करते हैं। इस प्रकार से मृत्यु ने नचिकेता के शिष्य होने पर भी स्तुति करके यह बताया कि शिष्य की योग्यताओं का गुरु द्वारा बीच बीच में प्रशंसन आवश्यक होता है जिससे उसका उस मार्ग में हौसला बढ़ता रहे। इस धन वाले मार्ग में अनेक लोग डूबते रहते हैं। अगर यहां वित्त का अर्थ दैवी वित्त, मानुषी वित्त इत्यादि के द्वारा सभी कर्म और उपासनाओं को ले लिया जाये तब भी अधिकतर कर्म धन के अधीन होने से धन प्राय अर्थ बन ही जायेगा। अर्थात् बहुत से लोग कर्म और उपासना में ही गोता लगाते रहते हैं। भाष्यकारों ने बहव: का अर्थ अनेके किया है अर्थात् बहु शब्द मीमांसा के अनुसार त्रित्व में पर्य-वसित होता है। अत: सत्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी अथवा देव; दानव और मानव तीनों प्रकार के लोग इन मार्गों में ही जाते रहते हैं। इन तीनों गुणों या तीनों प्रकार की स्थितियों को छोड़ने वाला ही श्रेय मार्ग का आल-म्बन कर सकता है।

कुछ लोग इस सृंकां को वल्ली में कहे हुए सृंकां से एक करके जो मैंने तुम्हें भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म उपासनाओं का उपदेश दिया उसमें तू नहीं फंसा, ऐसे तात्पर्य का प्रतिपादन करते हैं। यह भी संगत ही है। इसी प्रकार कुछ लोग प्रियरूपान् का अर्थ जो प्रियवत् प्रतीत होता है, ऐसा भी करते हैं अर्थात् न तू प्रिय पदार्थों से आकृष्ट हुआ और न प्रिय प्रतीत होने वाले पदार्थों से तुमने धन का मार्ग नहीं पकड़ा जिसके द्वारा मनुष्य अपना नाश करता है। सृंकां का अर्थ माला से उपलक्षित बेड़ी भी हो सकता है। तब तात्पर्य होगा कि तुमने अपने को सांसारिक पदार्थ और उनकी प्राप्ति के साधन धन के द्वारा बेड़ी में नहीं डाला। जैसे बेड़ी में बहुत से मनुष्य अपने आपको डाल देते हैं। यह एक अद्भुत सत्य है कि मनुष्य स्वयं ही नौकरी विवाह इत्यादि के द्वारा बंधन में घुसता है और फिर कहता है कि मैं बंधन में पड़ा हुआ हूं मानो किसी दूसरे ने उसे बंधन में डाल दिया हो। अतः नचिकेता ने वही कार्य किया जो जातकों के अनुसार बुद्ध ने 'चक्कपरवत्तनं' का परित्याग करके किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी प्रलोभनों को छोड़ने वाले के लिये जो साम्राज्य मिलता है, वह तो अमरता के लिये ही भूखा और प्यासा होता है और अमरता में ही एकमात्र उसको वास्तविक तृप्ति की प्राप्ति होती है।

: ४ :

दूरं एते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या इति ज्ञाता
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामाः बहवः अलोलुपन्त ॥

या = जो	ज्ञाता = जाना गया है।
अविद्या = अविद्या	नचिकेतसं = नचिकेता को
च = और	विद्याभीप्सिनं = विद्यार्थी
विद्या = विद्या	मन्ये = मानता हूं (क्योंकि)
एते = वे	बहव: = बहुत से
विपरीते = विपरीत,	कामाः = कामों ने
दूरं = दूर-दूर,	त्वा = तुझे
विषूची = नाना गति वाली;	न = नहीं
इति = ऐसा	अलोलुपन्त = लुभाया।

पूर्व मंत्रों में श्रेय और प्रेय को अलग-अलग बताया है, उसी में अब हेतु बताते हैं। अविद्या और विद्या के मार्ग एक दूसरे से विपरीत हैं क्योंकि एक कर्ता, भोक्ता और भेद की तरफ ले जाने वाला है और दूसरा अकर्ता, अभोक्ता और अभेद की तरफ ले जाने वाला है। दोनों रास्ते एक-दूसरे से दूर-दूर ही होते चले जाते हैं। भाष्यकार लिखते हैं **'दूरं दूरेण महता अन्तरेण'** अर्थात् ये रास्ते कहीं भी कभी भी एक केन्द्र की ओर नहीं जाते। इसी प्रकार विपरीत का अर्थ करते हैं **'अन्योन्यव्यावृत्तरूपे'** अर्थात् एक दूसरे को व्यावृत करते हैं। जहां एक है वहां दूसरा नहीं। जिस प्रकार अंधकार और प्रकाश अन्योन्य व्यावृत्त रूप हैं उसी प्रकार श्रेय मार्ग विवेक रूप होने से और प्रेय मार्ग अविवेक रूप होने से सर्वथा एक दूसरे के विपरीत हैं। विषूची का अर्थ यहां विषूच्यौ समझना चाहिये और सुप् का लोप वैदिक समझना चाहिये अर्थात् संसार और मोक्षरूपी दोनों के फल अलग-अलग हैं। जो कामनायें थोड़ा भी अविवेक करने वालों को अपने वश में कर सकती हैं उन कामनाओं ने तुम्हें लोभ में नहीं डाला अर्थात् वे तुम्हें श्रेय मार्ग से विच्छिन्न करने में समर्थ नहीं हो पाईं। प्रायशः समझदार लोगों में भी पदार्थ उपस्थिति में उनके भोग की इच्छा का सम्पादन हो जाता है एवं जहां यह इच्छा सम्पन्न हुई वहीं मनुष्य श्रेय मार्ग से विच्छिन्न हो जाता है परन्तु तुम्हारे में ये भोग ऐसी इच्छा उत्पन्न नहीं करते, यह तात्पर्य है। अतः आचार्य शंकर की दृष्टि तो यह है कि जैसे ही मनुष्य में पदार्थों के प्रति उपभोग की वांछा उत्पन्न होती है, उसी क्षण मानो वह श्रेय मार्ग से पुनः प्रेय मार्ग की तरफ चला जाता है। जो व्यक्ति समग्र पदार्थों की उपस्थिति में भी उनके भोग की वांछा से ग्रस्त नहीं होता, वही निरंतर श्रेय मार्ग में चल सकता है। **'आत्मोपभोगाभिवांछासम्पादनेन श्रेयोमार्गात् विच्छेदनं'** यह उनकी स्पष्ट उक्ति है। समझने की बात यह है कि उपभोग श्रेय मार्ग से नहीं हटाता, वरन् उसकी अभि अर्थात् दृढ़तर वांछा अर्थात् इच्छा। यह ठीक है कि किसी भी सामान्य भोग के प्रति भी सामान्य इच्छा या वांछा आवश्यक होती है। रोटी खाने में प्रवृत्ति भी खाने की इच्छा के बिना नहीं हो सकती परन्तु जब वह इच्छा हम पर हावी हो जाये, तब वह अभिवांछा कही जाती है। अतः भोग मनुष्य को श्रेय मार्ग से नहीं हटाते क्योंकि प्रायः लोग कह दिया करते हैं कि आखिर श्रेय मार्ग में चलने वालों को भी तो सांसारिक

पदार्थों के साथ सम्बन्ध करना ही पड़ता है। परन्तु वे यह नहीं जानते कि भोग प्रतिबंधक नहीं है, वरन् उसकी अभिवांछा प्रतिबंधक है। वस्तुतः काम कार्यात्मिका अविद्या होती है एवं वैराग्य तत्व ज्ञानमयी विद्या होती है। भोग काल में भी एक की दृष्टि वैराग्य और तत्व की तरफ रहती है अर्थात् नाम रूप में दोष दृष्टि एवं निरुपाधिक में तत्त्व दृष्टि तथा दूसरे को नामरूप में कामात्मक दृष्टि और वास्तविकता में कर्मात्मक दृष्टि। अतः साधना की दृष्टि से जिसको भोग काल समझा जाता है, उसमें भी दोनों का दृष्टिभेद बना ही रहता है। गीता भाष्य में तो इन्द्रियों का विषय की सन्निधि में विकृत होना लोलुपता कही गई है। उस दृष्टि से तो तात्पर्य यह होगा कि इन विषयों की सन्निधि में भी तुम्हारी इन्द्रियां विकृत नहीं हुई। अथवा लुप विमोहने धातु से तू इनके द्वारा विमोहित अर्थात् व्याकुल नहीं हुआ, यह भी भाव है। अथवा लुप छेदने धातु से इन्होंने तुम्हारी दृढ़ता को तोड़ा नहीं अथवा तुमको उसने अपने अंतर्गत नहीं लिया या तुमको उसने पकड़ा नहीं या तुम्हें दबाया नहीं, यह शब्दार्थ हो सकता है। वस्तुतः इन सबका समुच्चय कर लेना चाहिये।

: ५ :

विद्या में अभिनिवेश कराने के लिये अविद्या के अधिकारी का वर्णन करते हैं:—

अविद्यायां अन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम् मन्यमानाः
*दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ाः अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः ।।

अविद्यायां = अविद्या के
अन्तरे = बीच में
वर्तमानाः = रहने वाले
स्वयं = अपने आपको
धीराः = धीर (और)
पण्डितं = पण्डित
मन्यमानाः = माननेवाले
दन्द्रम्यमाणाः = कुत्सित गति में जाने वाले
मूढाः = मूर्ख
परियन्ति = चक्कर काटते हैं;
यथा = जैसे
अन्धेन = अंधे के द्वारा
एव = ही
नीयमानाः = ले जाये जा रहे
अन्धाः = अन्धे (चक्कर काटते हैं।

* दन्द्रव्यमाणाः।

नचिकेता जैसे श्रेय के भाजन तो कम ही होते हैं, अधिकतर तो संसार भाजन ही होते हैं। अत: वे संसार के योग्य होकर अविद्या के बीच में ही रहते हैं। जिस प्रकार घनीभूत अंधकार में मनुष्य रहता है, उसी प्रकार वे अज्ञान के अंधकार में रहते हैं। घोर अंधकार में जहां भी रहो, ऐसा ही लगता है कि हम अंधकार के बीच में हैं। ठीक इसी प्रकार से अज्ञान के विषय में समझना चाहिये। देखा ऐसा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आपको संसार का केन्द्र समझता है और वहीं से सारी सृष्टि को समझने का प्रयास करता है। बड़े-बड़े विचारक भी इन विश्व ब्रह्माण्ड में मनुष्य जाति को ही केन्द्र मानकर के अनंत कोटि ब्रह्माण्ड का विचार करना चाहते हैं जो हास्यास्पद है। अनंत प्राणियों के एक-एक इंच में रहने पर भी मनुष्य जब इस पृथ्वी की भी बात करता है, तो केवल मनुष्य को ही यहां रहने वाला प्राणी स्वीकार करके। अत: यहां अविद्या के मध्य में रहने वाला कहा गया। अथवा यह जो शरीर कार्य करण संघात रूप है, यही अविद्या का मानो सार भाग है जिसका हमारे साथ सम्बन्ध है। इसके बीच में हम रहते हैं अर्थात् हमेशा अपने आपको शरीर के अन्दर ही अनुभव करते हैं एवं उसी से तादात्म्य अभिमान वाले हैं। इस दृष्टि से भी हम अविद्या के मध्य में रहने वाले हैं। भाष्यकार तो कहते हैं कि वर्तमान का अर्थ पुत्र, धन आदि सैंकड़ों तृष्णा के पाशों से हम चारों तरफ से वेष्टित अर्थात् बँधे हुए हैं। यही हमारी वर्तमानता है। अथवा हम इसी तृष्णा पाशों से बंधे हुए सारा वर्तन अर्थात् बर्ताव यानी व्यवहार करते हैं। किसी भी क्षण में अपने आपको इन पाशों से छूटा हुआ अनुभव नहीं करते। इस प्रकार बंधे हुए भी वे अपने आपको अत्यंत धीर अर्थात् प्रज्ञा वाला समझते हैं एवं पण्डित अर्थात शास्त्रकुशल समझते हैं। लोक में कर्मकाण्ड और तृष्णा में बंधे हुए लोगों को देखा जा सकता है कि वे किस प्रकार शास्त्र के बाल की खाल निकालकर अपने पाशों को ठीक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इतना ही नहीं, वे मानते हैं कि इन पाशों में बंधे हुए हम जो व्यवहार करते हैं, वह हमारे धैर्य को सिद्ध कर रहा है। जो इन पाशों को छोड़कर के आत्मज्ञान में रत होते हैं, वे तो भगोड़े हैं। संसार में धैर्यपूर्वक डट पाया, इतना ही नहीं, कई बार तो वेदांत विचार करने वाला भी अपने आपको धन कमाने के साधनों में लगा हुआ रखकर के अपने को धैर्य वाला मानता है और

कहता है कि हम इतने कष्ट सह सकते हैं, दूसरा तो इसके भय से भिक्षाटन से गुजारा करता हैं। किंच, वे लोग शास्त्र में आये हुए आत्मा के निर्लेपवाद का ऊटपटांग अर्थ करके बताते हैं कि ये सारे व्यवहार तो हमारा कार्यकरण संघात कर रहा है, हम तो निर्लिप्त हैं, तत्वनिष्ठा में रत हैं। इस प्रकार श्रुति कहती है कि ऐसे लोग निरंतर कुत्सित अर्थों में ही रत रहते हैं पाणिनी कहते हैं। 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' (३-१) अतः द्रमगती धातु से निन्दित अर्थ में ही 'यङ्' होकर के दन्द्रम्यमाणः शब्द बनेगा, अर्थात् अत्यंत कुटिल अनेक रूपों वाले जन्म मरण रोग आदि दुःखों वाली गति को प्राप्त होते रहते हैं। यद्यपि कुछ विचारकों ने यहां गतिम् का अर्थ उत्तरायण, दक्षिणायन आदि गति लिया है, परन्तु भाष्य में तो स्पष्ट ही 'जरामरणरोगादिदुःखैः गच्छन्तः' कहकर स्पष्ट करते हैं कि प्रत्यक्ष सिद्ध जो दुःख हैं, उन्हीं का यहां ग्रहण है। अथवा जो गत्यर्थक धातु होती है वह ज्ञानार्थक भी होती है। अत्यंत कुत्सित प्रकार के ज्ञान वाले वे लोग हैं। तात्पर्य है कि स्वार्थ सिद्धि के लिये वे अत्यंत चतुर हैं और उस चतुरता के कारण अनेक प्रकार की कुत्सित क्रियायें करते रहते हैं। मूढ़ का मतलब यहाँ अविवेकी ही है। संसार की अवधि को न देखना ही उनकी अविवेकिता है। इसीलिये वे लोग बार-बार उसी प्रकार के जरा, मरण आदि दुःखों के चक्र में पड़े रहते हैं। जिस प्रकार से अंधा दृष्टि से रहित होने के कारण कांटे, पत्थर, गड्ढे आदि विषम स्थानों में यदि नेता बन जाता है तो उसके पीछे चलने वाले बहुत से अंधों को महान अनर्थ की प्राप्ति करवाता है एवं वे कहीं कांटे चुभने से चिल्लाते हैं, कहीं पैर टूटने से, वैसी ही स्थिति हो जाती है। आज भी यही देखने में आता है कि जिनको अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र इत्यादि किसी का ज्ञान नहीं होता, वह नेता बन जाते हैं और नतीजा यह होता है कि वे कहते हैं कि चीजों का दाम घटेगा तब बढ़ता है, जब वे कहते हैं कि समाज श्रृंखलित होगा, तब वह विश्रृंखलित होता जाता है और सभी दुःख पाते हैं। फिर भी वे लोग तो यही मानते रहते हैं कि वे तो चाहते हैं लेकिन दूसरे सभी स्वार्थ के कारण उनकी मदद नहीं कर रहे हैं अन्यथा वे तो देश को उन्नति के शिखर पर पहुंचा देते।

दन्द्रम्यमाणाः पाठ स्वीकार करने पर विग्रहकामाग्नि से द्रुत अर्थात् पिघल गया है चित्त जिनका, ऐसा कर लेना चाहिये। तात्पर्य है कि जो अपनी दृष्टि में स्वयं ही बुद्धिमान हैं और अपने अज्ञान के विषय में उनका अज्ञान अत्यंत घोर है और इसीलिये बुद्धिमानी का बाना पहन लेते हैं। मुण्डक उपनिषद् में दन्द्रम्यमाणाः की जगह जंघन्यमानाः पाठ है। बाकी मंत्र ऐसा का ऐसा है।

: ६ :

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।
अयं लोकः न अस्ति परः इति मानी पुनः पुनः वशं आपद्यते मे ॥

साम्परायः = परलोक	न = नहीं
वित्तमोहेन = धन के मोह से	अस्ति = है।
मूढं = मोहग्रस्त,	इति = ऐसा
प्रमाद्यन्तं = प्रमाद करने वाले,	मानी = मानने वाला
बालं = बाल बुद्धि को	पुनः = बार
न = नहीं	पुनः = बार
प्रतिभाति = प्रतीत होता।	मे = मेरे
अयं = यह	वशं = अधीन
लोकः = लोक (है),	आपद्यते = होता है।
परः = दूसरा	

अब यमराज कहते हैं कि जो लब्धधन के कारण प्रमादी हो जाते हैं उन्हें ऐसा लगता है कि यह संसार ही सब कुछ है और इसके आगे कुछ नहीं एवं इसलिये वे बार-बार जन्मते मरते हुए मेरे अधीन बने रहते हैं। तात्पर्य है कि जो नचिकेता की प्रतीकता वाला वैराग्य रूप नहीं हैं वे लोग पुत्र धन आदि प्रयोजनों में आसक्त चित्त वाले होकर अविवेकी ही बने रहते हैं। पदार्थों में आसक्ति ही विवेक को रोकती है और इसलिये उनको लगता है कि इस संसार के आगे किसने देखा, उसको क्यों माना जाये? कुछ लोग (मानी = मननशीलाः) तो इसका दर्शन भी बना लेते हैं और कहते हैं कि हमारे सामने यह संसार है, अतः इसी के कर्त्तव्यों को करना वास्तविक है और यदि इसे उसने कर लिया तो हम चाहे परमात्मा को मानें, चाहे न मानें, हमें

परमेश्वर अच्छा ही फल देगा। कुछ तो एक कदम और आगे जाकर यह भी कहते हैं कि यह संसार परमेश्वर का बगीचा है। अतः यदि हमने इसे अच्छी तरह से रखा तो हम परमात्मा की ही तो सेवा कर रहे हैं। ये सब लोग वस्तुतः इस संसार को ही सत्य मानने वाले होते हैं। यदि कथंचित् परलोक के विषय में उनकी दृष्टि भी बनती है तो यही बनती है कि जैसे यहां स्त्री, अन्नपान आदि सृष्ट लोक हैं वैसे ही वहां भी होंगे। मूसा, ईसा, जरथुत्स आदि विदेशी पुराण तथा भारती पुराण, यूनानी पुराण एवं वेष्णवाचार्य आदियों के ग्रन्थ देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जिस परलोक की कल्पना करते हैं, उसमें तरह-तरह के अन्न पान, स्त्रियां ही प्रधान होती हैं।

सम् परेषते इति संपरायः अर्थात् सम्यक्=बराबर अच्छी प्रकार से, पर=पराक् काले अर्थात् देह पैदा के बाद ही ईयते=गम्यते, जाना जाता है, उसे सम्पराय कहते हैं अर्थात् परलोक। उसकी प्राप्ति कराने वाले साधन विशेष को साम्पराय कहते हैं, जिसे अंग्रेजी में Religion कहते हैं। या हिन्दुस्तानी में मजहब कहते हैं, उसके लिये वास्तविक संस्कृत का शब्द साम्पराय है। वेदांत दृष्टि से तो सम्यक् अर्थात् अच्छी प्रकार से परः माने भिन्न कोटि का है अर्थात् दृश्य द्रष्टा भाव से विनिर्मुक्त है। इस प्रकार से जिसे ईयते अर्थात् जाना जाता है, वही साम्पराय है और उसकी प्राप्ति का साधन ज्ञान ही साम्पराय है। अथवा पर और अपर ब्रह्म प्राप्तिकाल में ही प्रारब्ध नष्ट हो जाने के बाद जो समझ में आता है, वह पर और अपर ब्रह्म की प्राप्ति का साधन साम्पराय है। उसका साधन विशेष ओंकार का उपलक्षणा से ज्ञान अथवा ओंकार रूप उपाधि का अधिष्ठान रूप से ध्यान प्रसिद्ध है। इस प्रकार के साधन कर्मकाण्डी, अविवेकी, मूर्खों को जंचते ही नहीं और इनकी अपेक्षा भैरव, मराल (मरयम्मा) शीतला आदि कल्पित देवताओं की पूजा करते रहते हैं और उनसे उन्हें पुत्र, पशु, धन आदि की प्राप्ति होगी ऐसी आशा करते रहते हैं। साम्पराय के साधन शास्त्रीय हुआ करते हैं। परन्तु जो अविवेकी होते हैं, वे साम्पराय के साधन की तरफ अपनी दृष्टि नहीं करते और चूंकि अविवेक के कारण उन्हें इसका ज्ञान भी नहीं हो पाता तो फिर अनुष्ठान करना सम्भव ही कैसे हो सकता है। विवेकी के लिये अप्रमादी होना जरूरी है और पदार्थ में आसक्ति वाला उसी आसक्ति के कारण प्रमादी बना रहता है। किंच, धन एक विचित्र चीज है। जैसे जैसे मनुष्य के पास

धन आता है उसके अन्दर एक प्रकार का मद आता है कि मैं समझदार हूं, मैं शक्तिमान हूं। यह मद आ जाने पर वह बुद्धिमानों के प्रति प्रमादी बन जाता है और शास्त्र के प्रति भी, मेरे अनुसार शास्त्र हो, ऐसी भावना वाला हो जाता है। फिर उसको कोई न कोई व्यक्ति भी ऐसा मिल जाता है जो उसके मन के अनुकूल ही शास्त्र को लगा देता है और वह व्यक्ति अत्यंत प्रसन्न होकर के उसी को वास्तविक धर्म मानने लगता है। धनी में एक अभिमान और होता है कि मेरे कारण ही संसार के सब काम चलते हैं। यहां तक कि परमार्थ पथ के पथिक भी अन्न आदि के लिये मेरी अपेक्षा रखते हैं। इसके कारण वह परमार्थ के प्रति सर्वथा प्रमादी बन जाता है। इसीलिये ईसा ने कहा था कि चाहे ऊंट सुई के छिद्र में से निकल जाये परन्तु धनी आदमी कभी परमात्मा को नहीं पा सकता। सर्वज्ञ शंकर भी यही कहते हैं कि अर्थ अनर्थ का ही कारण होता है। यहां श्रुति भी वित्तमोह शब्द से इसी को स्पष्ट करती है। भाष्यकार भी कहते हैं 'वित्तनिमित्तेन अविवेकेन' धन ही उस अविवेक का निमित्त है। किंच धीरे-धीरे धन के द्वारा संसार में यश, प्रतिष्ठा, सुखभोग के साधन आदि प्राप्त करने का उसका और निश्चय हो जाता है कि धन से अतिरिक्त और कोई वास्तविक पुरुषार्थ नहीं है और उसके कमाने में तथा उसकी रक्षा करने में वह और ज्यादा जोर शोर से लग जाते हैं और जब उसमें आसक्त हो गये तो उसकी बुद्धि के सामने और ज्यादा अंधकार आ जाता है जो वास्तविकता को नहीं देखने देता। सर्वज्ञ शंकर ने इसलिये यहां मूढं का अर्थ किया है 'तमसा आच्छन्नं' अर्थात् अंधकार से उसकी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है। कुछ लोगों ने ऐसा अर्थ किया है कि धन के मोह के कारण मनुष्य को इस लोक के पदार्थों में भी भोगकाल में दुःख होने लगता है तो फिर उनसे परलोक के कार्य तो हो ही कैसे सकते हैं। इस प्रकार के लोगों को तो और भी निम्नकोटि का माना जायेगा। भगवान भाष्यकार तो अयं का अर्थ दृश्यमानः करके यही बताते हैं कि यहां जो देखने में आता है, वही लोक सब कुछ है। अथवा सूक्ष्म ध्वनि यह करते हैं कि परलोक दृश्यमान ही उन्हें जचता है। शास्त्रों में कही हुई सर्व भेद रहित अद्वितीय आत्मा नहीं। धन तृष्णा के अभिमान का ही यह भाव है। वस्तुतस्तु श्रुति भी लोगों को बालक बताती है। जैसे छोटा बालक केवल गोली और चाकलेट को ही वास्तविक उपादेय पदार्थ मानता है, सोने की गिन्नी या हीरे के खण्ड को भी

नहीं । बार बार समझाने पर भी कि अरे ! यह सोने की गिन्नी या हीरे का खण्ड है, इस गोली या चाकलेट से बहुत अधिक कीमती है फिर भी वह उसे जीभ से चखकर या अंटी में मारकर ही परीक्षा करना चाहता है । बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति वित्ताभिमान में डूबे हुए व्यक्ति की भी होती है क्योंकि वह सोचता है कि क्या यह परलोक अथवा परापर ब्रह्म का शास्त्र हमें अधिक धन दे सकेगा ।

भाष्यकार शंकर यहां पर 'मे वशं' का तात्पर्य बताते हैं **'जन्म-मरणादि-लक्षण-दुःखप्रबंध-रूढ़ः'** अर्थात् जन्म मरण आदि दुःख प्रवाह ही जिसका स्वरूप है उस पर आरूढ़ होते रहते हैं । यह आध्यात्मिक दृष्टि से ही घटता है अर्थात् वैराग्य हीन व्यक्तियों को इस प्रकार ही यम रूपी नियामक अपने नियमन में रखता है, किसी बाहरी देवता विशेष की आवश्यकता नहीं । यह प्रवाह उन्हें वैसे ही नियंत्रण में रखता है जैसे नदी के भंवर में पड़े हुए कीड़े को नदी का प्रवाह ही नियंत्रण में रखता है । यद्यपि कहने के लिये कह सकते हैं कि नदी ने उनको वश में कर रखा है परन्तु वहां किसी नदी व्यक्ति को मानना आवश्यक नहीं, ऐसा ही समझना चाहिये । वेदांत शास्त्र में एक परमेश्वर की ही शक्ति को यम आदि नामों से कहा गया है, उनका भिन्न व्यक्तित्व स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि एकमात्र परमेश्वर ही कर्मफलदाता ब्रह्मसूत्रों में बताया गया ।

यदि इस प्रकार से धर्म, अर्थ कामनाओं में ही संसार के सब लोग आसक्त रहेंगे तो विद्या का कोई अधिकारी ही नहीं होगा और उपनिषद् व्यर्थ हो जायेंगी, इस शंका का जवाब देते हुए भाष्यकार कहते हैं **'प्रायेण हि एवंविध एव लोकः'** अर्थात् नियम तो यही है कि लोग काम आदि में आसक्त होते हैं परन्तु यह प्रायोवाद है, अपवाद का वर्णन अगले मंत्र में श्रुति खुद करेगी ।

: ७ :

श्रवणाय अपि बहुभिः यः न लभ्यः शृण्वन्तः अपि बहवः यं न विद्युः ।
आश्चर्यः वक्ता कुशलः अस्य लब्धा आश्चर्यः ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

यः = जो	श्रवणाय = सुनने के लिये
बहुभिः = बहुतों के द्वारा	अपि = भी

न = नहीं	वक्ता = बताने वाला
लभ्यः = प्राप्त होता;	आश्चर्यः = अद्भुत है,
यं = जिसको	लब्धा = पाने वाला
शृण्वन्तः = सुनते हुए	कुशलः = निपुण है। (तथा)
अपि = भी	कुशलानुशिष्टः = कुशल के द्वारा शिक्षा पाकर
बहवः = बहुत	ज्ञाता = अनुभव करने वाला (भी)
न = नहीं	आश्चर्यः = अद्भुत (है)।
विद्युः = जान सकते।	
अस्य = इसका	

अनेक जन्मों में जो शुभ कर्म करता रहता है और उसके फलस्वरूप जिसके हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा हो जाती है, वह ईश्वरोपासना में रत होता है। ईश्वर की उपासना करते करते कामनाओं से विमुखता हो जाती है। तब ऐसा हजारों में कोई एक ही निरातिशय पुरुषार्थ और ब्रह्म को प्रत्यगात्म रूप से जानने में प्रवृत्त होता है। प्रवृत्त होने पर भी हजारों में कोई एक ही नचिकेता के जैसा आत्मवेत्ता बन पाता है। इसलिये कहा कि बहुत से लोगों को यह आत्म तत्व सुनने को भी नहीं मिलता। तात्पर्य यह है कि जैसे बादल की गरज सब लोग सुनते हैं परन्तु उस बादल की गरज का अर्थ कोई कोई ही समझ पाता है कि उसके द्वारा प्रजापति क्या उपदेश दे रहे हैं। उसी प्रकार अनेक लोग वेदांत को सुनते हुए भी और पाठ करते हुए भी वस्तुतः उसका श्रवण नहीं कर रहे हैं क्योंकि उसके तात्पर्य को नहीं समझ रहे हैं। भाव यह है कि श्रवण दृष्ट फल वाला है। श्रवण का फल किसी अगले जन्म में मिलता हो, ऐसा कुछ नहीं है। अतः जिनको उपनिषदों के सुनने पर भी साक्षात्कार नहीं होता उन्होंने श्रवण नहीं किया, ऐसा निश्चित है। निर्विषय पदार्थ के साक्षात्कार की उत्पत्ति इसीलिये नहीं हो पाती कि हम उसको सुनते ही अपनी बुद्धि का विषय बनाकर सविषय करना चाहते हैं। उसे जानने की इच्छा ही प्रतिबंधक हो जाती है। यथा-कथंचित् यदि उत्पन्न भी हो गया तो जैसे प्रतिभा से हुए ज्ञान में भ्रान्त दृष्टि रहती है, वैसा ही हो जाता है। अतः आत्मा की अविषयता पकड़ में नहीं आती। आत्मा विषय नहीं है, इस रूप से ही उसे विषय किया जाता है, यह रहस्य है। सामान्य दृष्टि से तो यदि सोचा जाये तो संसार में अनेक

प्राणी धन आदि आसक्ति में ऐसे लगे हुए हैं कि जिनको वेदांत सुनने का समय ही नहीं है। कुछ लोग यदि आध्यात्मिक मार्ग की तरफ बढ़ते भी हैं तो अनेक पंथ, मत-मतांतर उपस्थित हो जाते हैं और उनके बाह्य आकर्षण सरलता अथवा सांसारिक फलों की प्राप्ति इत्यादि के प्रलोभन में आकर मनुष्य फिर भी वेदांत श्रवण में नहीं जाता। वेदांत इह लोक और परलोक में कुछ भी प्राप्त करवाने की आशा नहीं देता। अतः इस तरफ तो वही आ सकता है जिसमें वैराग्य पूर्ण रूप से उत्पन्न हो गया हो। अत: कहा गया कि बहुत से लोगों को वह सुनने को भी नहीं मिलता। बहुत से लोग सुनकर के भी उसको समझने में असमर्थ रहते हैं। श्रुति में विद्युः में लिङ शक्यार्थ में कर लेना चाहिये 'शकि लिङ् च' (पाणिनी ३-३-१२)। यह एक प्रकार से उनका दुर्भाग्य ही माना जायेगा क्योंकि ऐसी एक सम्भव चीज सुनकर के भी वे उसमें अपने मन को स्थिर नहीं कर पाते। यहां पर विद् का अर्थ केवल शब्दार्थ ज्ञान न लेकर के उसमें स्थिर होना अर्थात् उपासना करना लेना चाहिये। भाष्यकार तो कहते हैं कि वे असंस्कृत होने के कारण ही नहीं जान पाते। तात्पर्य यह है कि बाइस्कोप के गन्दे गीत साधारण आदमी भी मजे के साथ गाता है और समझता है परन्तु ओंकारनाथ ठाकुर के शास्त्रीय संगीत को वही समझ सकता है जिसे स्वर, राग और ताल का संस्कार है। आजकल के वेश्याओं के चित्रों को देवी के वस्त्र पहनाकर के चिकने कागज में रंगीन स्याही के द्वारा अनेक लोगों में पूजा करने की भावना उत्पन्न हो जाती है। परन्तु माइकेलेन्जलो के स्थापत्य को समझने के लिये अति सूक्ष्म स्थपति विज्ञान की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जिसमें आत्मज्ञान के संस्कार नहीं हैं वह इसको श्रवण करके भी इसमें स्थिर नहीं हो पाता। सभी ने यह अनुभव किया होगा कि अनेक बार वेदांत शास्त्र को सुनने पर मनुष्य बड़े प्रेम से समझा हुआ लगता है लेकिन थोड़ी देर बाद ही दुकान खोलने अथवा दफ्तर (Office attendance) चला जाता है। जब शनैः शनैः अतिदीर्घ काल तक वेदांत के संस्कार पड़ते चले जाते हैं, तब अंततोगत्वा मनुष्य की उर्ध्व वृत्ति बनती है। सर्वज्ञ शंकर तो अति दुःख के साथ कह उठते हैं 'अभागिनः असंस्कृतात्मानः'। इसी प्रकार जो इस आत्मतत्व को समझ ले और फिर भी अनात्मविद् का अभिनय करके इसे उपदेश दे, वह भी एक आश्चर्य है क्योंकि बुद्धि से संगत होता नहीं।

जब तक गुरु शिष्य, साध्य साधन आदि भेदों को स्वीकार न किया जाये, तब तक उपदेश बनता नहीं और आत्मज्ञानी की दृष्टि में यह भेद एक क्षण को भी होता नहीं। फिर भी असम्भव को सम्भव करते हुए वह अद्वितीय शिव रूप अपने को द्वितीय शिवरूप से रखकर उपदेश की प्रवृत्ति करता है। जैसे संसार में असम्भव चीज को देखकर आश्चर्य किया जाता है वैसे ही यहां श्रुति तत्ववेत्ता उपदेशक को एक आश्चर्य बताती है। किंच, अनेक तत्व वेत्ता इस स्थिति को प्राप्त करके मौन ले लेते हैं, अतः उपदेश नहीं देते। आत्मवेत्ताओं में उपदेशक का होना तो दुर्लभ है। इस प्रकार शिष्य और गुरु दोनों ही दुर्लभ हैं। यह कहना श्रुति का तात्पर्य है। इस प्रकार के आत्मवेत्ता से आत्मा को सुनकर के भी अनेकों में कोई एक ही निपुण बुद्धि वाला उसको ग्रहण कर पाता है। कुशल से मतलब है युक्ति के द्वारा स्वयं विचार कर प्रातिभ ज्ञान से अनुभव करने में समर्थ। उपदेश देने वाला भी जब तक निपुण नहीं होगा तब तक शिष्य के समग्र संदेहों को दूर नहीं कर पायेगा। धर्म के मार्ग में युक्तियों की आवश्यकता नहीं होती वहां तो केवल किसी चीज को मान लेना मात्र है। परन्तु आत्मा इस प्रकार का विषय नहीं। अतः जब तक गुरु में ऐसी योग्यता न हो कि शिष्य के सारे संदेहों को दूर कर सके तब तक शिष्य की स्थिति बन ही नहीं पाती। आधुनिक युग में नये नये प्रकार की शंकाओं का उद्भव पाश्चात्य दर्शन, पाश्चात्य विज्ञान, पाश्चात्य समाजशास्त्र आदियों के द्वारा हुआ है। शिष्य के हृदय में से जब तक इनके विषय में संदेह निवृत्त न हो जायें तब तक यह सम्भव नहीं कि शिष्य आत्मज्ञान को प्राप्त कर सके। इसीलिये सर्वज्ञ शंकर ने उपदेशसाहस्री में गुरु का स्वरूप बताते हुए उसे 'ऊहापोह समर्थ' बताया। जब ऐसे उपदेशक के द्वारा पूरी तरह से शिक्षा प्राप्त हो जाती है तब उसके बाद शिष्य ज्ञाता अर्थात् अनुभवी बनता है। यह जो अत्यंत असम्भव कार्य, वह भी हो जाता है। अतः तब तक ज्ञान प्राप्त करने वाले शिष्य की प्रशंसा करते हुए उसे भी एक आश्चर्य बताते हैं। इस प्रकार उपदेशक और उपदेश्य दोनों की प्रशंसा यहां की गई है। इस प्रकार से इससे नचिकेता की प्रशंसा की जा रही है कि वह शिव प्राप्ति के लिये लगा हुआ है तो कितना दुर्लभ कार्य कर रहा है। आत्मा इतना सूक्ष्म तत्व है कि उसकी तरफ प्रवृत्ति काफी कठिन है। आत्मा के

गम्भीर स्तरों में प्रवेश करना एक गुह्य रहस्य है। यद्यपि थोड़े लोगों में ही इसके प्रति वास्तविक प्रयोजनता होती है (Earnest purpose) और ऐसे लोगों को भी ऐसे साधन बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होते हैं जिसमें आत्मज्ञान हो सके।

: ८ :

न नरेण अवरेण प्रोक्तः एषः सुविज्ञेयः बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिः अत्र न अस्ति अणीयान् हि अतर्क्यं अणुप्रमाणात्।।

अवरेण = सामान्य	अनन्यप्रोक्ते = भेददर्शी के कहने पर
नरेण = मनुष्य के द्वारा	गतिः = ज्ञान
प्रोक्तः—कहा जाकर	न = नहीं
बहुधा = बहुत प्रकार से	अस्ति = होता है।
चिन्त्यमानः = सोचा हुआ (भी)	हि = क्योंकि
एषः = यह	अणुप्रमाणात् = अणुपरिमाण से भी
सुविज्ञेयः = भली प्रकार जाना	अणीयान् = अत्यंत सूक्ष्म,
न = नहीं जाता	अतर्क्यं = तर्क का अविषय (है)।
अत्र = इस विषय में	

जो व्यक्ति स्वयं आत्मज्ञानी नहीं है वही यहां सामान्य व्यक्ति कहा गया है। यद्यपि अवर शब्द में नीचे की भावना है परन्तु उसका तात्पर्य यही है कि जिसने परब्रह्म को नहीं जाना है, वही अवर अर्थात् अभी नीचे है। बिना अनुभव के यदि कोई केवल शास्त्र ज्ञान के बल पर आत्मज्ञान का उपदेश दे भी देवे तो भी उसकी बात को शिष्य कभी ठीक प्रकार से समझ नहीं सकेगा। स्वाभाविक है कि जो तत्व जितना ही गूढ़ होता है, उसके विषय में अनुभवी भिन्न भिन्न प्रकार से कहते हुए और शिष्य से भिन्न भिन्न प्रकार से सुनते हुए स्पष्ट यह जान लेता है कि शिष्य ठीक समझ रहा है या नहीं। अन्यथा 'उष्ट्रो नाम पक्षिविशेषः' नाम वाला काण्ड हो जाता है। एक अध्यापक ने भूगोल में पढ़ रखा था कि ऊंट रेगिस्तान में उड़ता चला जाता है। जब किसी शिष्य ने पूछा कि ऊंट क्या चीज होती है तो उसका तात्पर्य उसको बता दिया कि वह एक परिन्दा है। इसी प्रकार केवल शास्त्र के आधार पर जो ज्ञान होता है, वह संगत नहीं होता। गुरु की बात का

तरह-तरह से शिष्य को मनन करना पड़ता है क्योंकि बिना मनन किये बुद्धि की स्थिरता हो नहीं सकती। वेदांत को छोड़कर अन्य मत-मतान्तरों में इस मनन को कोई स्थान नहीं है वरन् वहां तो जो कह दिया गया, उसी को मान लो और उसी के अनुसार ध्यान करते रहो। विष्णु का रंग सांवला है तो है। जब ऐसा ध्यान करेंगे तो सांवले का ही ध्यान करना पड़ेगा। अतः जब गुरु की किसी बात को शिष्य अनेक युक्तियों के द्वारा बार-बार सोचेगा और गुरु के पास आयेगा तो यदि गुरु अनुभवी नहीं हैं अथवा तीक्ष्ण बुद्धि का नहीं है तो या तो उसे उन्हीं युक्तियों को दोहराने के लिये कहेगा और थोड़ा भी विचार इधर उधर चला गया तो समझेगा कि सिद्धान्त का विरोध हो रहा है। अथवा शिष्य की जो सूक्ष्म बुद्धि वाली वृत्तियां हैं, उनको समझ ही नहीं पायेगा। आजकल प्रायः ऐसा देखा जाता है। विवेकियों का तो यहां तक अनुभव है कि रामानुज का विशिष्टाद्वैत, वल्लभ का शुद्धाद्वैत एवं वेदांती का केवलाद्वैत आपस में इतना घुलमिल जाता है कि अच्छे से अच्छे वेदांत के उपदेशक उनमें गड़बड़ कर जाते हैं। संसार को अज्ञान प्रसूत कहते-कहते इसे एक भूल बता जाते हैं। भूल से हम अपने आपको जीव समझ रहे हैं या हम अपने स्वरूप को भूल गये हैं इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य होता है कि पहले किसी समय में अपने को ब्रह्मरूप समझते थे। उसका नतीजा होगा कि अज्ञान पैदा होने वाला हो जायेगा और फिर मोक्ष के बाद भी पैदा हो सकेगा, तो फिर मोक्ष ही असम्भव हो जायेगा। इस प्रकार अनेक मिलते जुलते सिद्धांतों को लोग मिला दिया करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि अनुभवी व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर शिष्य के भिन्न भिन्न प्रकार के चिंतनों का परिहार करके वास्तविक सिद्धान्त की उसके अंतःकरण में स्थापन कर सके।

बहुधा चिन्त्यमानः का अर्थ यह भी हो सकता है कि परमेश्वर का प्रतिपादन शास्त्रों में बहुत प्रकार से किया गया है और जब तक उन सबमें अनुस्यूत आत्मतत्व को नहीं समझ लिया जाता तब तक किसी एक देवता विशेष का ही परमेश्वर रूप से प्रतिपादन कर दिया जाता है जो साधक को पथभ्रष्ट कर देता है। इसी बात को दूसरी पंक्ति में स्पष्ट किया कि जब तक ऐसा व्यक्ति उसका उपदेश न करे जिसने उसको प्रत्यगात्म रूप से जान लिया है, तब तक इस परमाणु से भी सूक्ष्मतर पदार्थ को जानना असम्भव

है। बहुधा चिंत्यमानः का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जब तक मनुष्य की बहुत्व में सोचने की प्रवृत्ति रहती है (God conceived as pluarality) तब तक अद्वितीय एकरस समरस शिवात्मतत्व का ज्ञान सम्भव नहीं होता। चूंकि अब तक हर चीज में बहुत्व सोचने की आदत पड़ी हुई है, अतः आत्मा के विषय में भी हम उसी प्रकार सोचने लग जाते हैं। अनन्य का तात्पर्य है कि जिसने ब्रह्म को, अपने से वह अन्य नहीं है, इस प्रकार से जान लिया। जैसा कि ऐकहार्ट कहता है कि कुछ लोग इतने सीधे हैं कि वे समझते हैं कि ईश्वर वहां रहता है और हम यहां। वस्तुतः ऐसा नहीं है। ईश्वर और मैं एक हूं। जब इस प्रकार का अनन्य ज्ञान हो जाता है, तभी वह प्रवचन (प्रोक्ते) पूर्ण निश्चय के साथ कर सकता है। अनुभव के बल पर वे मत मतांतरों के झगड़े से ऊपर उठे हुए होते हैं।

कुछ लोगों ने ऐसा अर्थ भी किया है कि जो नीचे अर्थात् अवर नहीं है अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष के द्वारा उपदेश करने पर इसका ज्ञान होता है, एवं कुछ लोगों ने तो अपने से भिन्न अर्थात् किसी न किसी गुरु के द्वारा उपदेश दिया जाकर भी ज्ञान होता है, ऐसा अर्थ भी किया है। कुछ और लोगों ने ऐसा अर्थ भी किया है कि अनन्य अर्थात् नीचे दर्जे के उपदेशों के द्वारा, ऐसे व्यक्ति के द्वारा किया जाता है जो शास्त्र को तो जानते हैं परन्तु बुद्धिमान नहीं हैं और इसीलिये उसकी बात अनेक प्रकार से समझी जाती है क्योंकि उसका कहना स्पष्ट नहीं होता। ऐसे द्वैतवादियों का तो यह भी कहना है कि जिस व्यक्ति को कहीं कोई भेद नहीं दीखता, उससे जब उपदेश सुना जाता है तो कोई ज्ञान ही उत्पन्न नहीं हो पाता। यहां तक कि सामान्य कोटि का ज्ञान भी नहीं उत्पन्न हो पाता। चूंकि वह अत्यंत सूक्ष्म है, अतः बुद्धि के द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता, परन्तु ये सभी अर्थ प्रसंग विरुद्ध एवं प्रकरण विरुद्ध होने से त्याज्य हैं।

गति का अर्थ संसार गति भी किया जा सकता है अर्थात् संसार गति से छूटने का और कोई उपाय नहीं है। अथवा ब्रह्मज्ञान से आगे और कुछ नहीं है अर्थात् और कहीं जाने वाली गति नहीं है। आत्मा अतर्क्य है का मतलब यही है कि इन्द्रियज्ञान और उस पर आधारित समझ से उसको नहीं समझा जा सकता। प्रातिभ ज्ञान से तो उसका प्रत्यक्ष होता ही है। वस्तुतस्तु अवरेण का अर्थ प्राकृतिक बुद्धि वाला ही होता है। सामान्य पुरुष प्रकृति

सम्बन्धी बातों को ही समझ पाता है अर्थात् जैसे प्रकृति से ही पशु आदियों में देह आदि अभिमान रूपी बुद्धि आती है, वैसे ही जिसकी देह आदि अभिमान वाली बुद्धि है, वह प्राकृतिक बुद्धि यहां अवर शब्द से कही गई। रहस्य यह है कि शंकावादी यह कहना चाहता है कि शब्द और वाक्य रचना के ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान हो जायेगा एवं वाक्यार्थ व्युत्पत्ति वाले आचार्य के द्वारा जब उपदेश दिया जायेगा तो स्वाधिकार सामर्थ्य से ज्ञान हो जायेगा। अतः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की आवश्यकता नहीं है। परंतु सिद्धान्ती का कहना है कि यह वाक्यार्थ की व्युत्पत्ति बिना ब्रह्मनिष्ठा के बनती भी नहीं। मनुष्य का अभिमान ही प्राकृतिक बुद्धि अर्थात् अवरत्व है। सुविज्ञेय अर्थात् अच्छी तरह से जाना जाये, क्योंकि उसके विषय में बहुधा अर्थात् बहुत प्रकार से आत्मा है, नहीं है, कर्त्ता है, अकर्त्ता है, शुद्ध है, अशुद्ध है, इत्यादि प्रकारों से वादी लोगों द्वारा चिंत्यमान चिंतन किया गया है। न केवल शून्यवादी क्षणिक विज्ञानवादी इत्यादि अवैदिक दर्शन ही वरन् नैयायिक, सांख्य, मीमांसक आदि वैदिक दर्शन भी आत्मा के विषय में एक निश्चित मत वाले नहीं हैं और उनकी भिन्नताओं से साधारण आदमी को भ्रम होना स्वाभाविक है। विप्रतिपत्ति जहां होती है, वहां अनुभवी वेदांती का यह कहना कि ब्रह्म आत्मा से अभिन्न ही है, ज्ञान उत्पन्न करा सकता है अन्यथा नहीं। अतः अनन्यप्रोक्ते कहा। सर्वज्ञ शंकर इसीलिये अनन्ये का अर्थ करते हैं—**अपृथक् दर्शिनः** अर्थात् जो प्रतिपाद्य ब्रह्म को आत्मा से अपृथक् एक करके समझता हो। इस एकता के ज्ञान को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं और शिष्य बुद्धि के परिपाक के द्वारा जीवन्मुक्त के हृदय में उपदेश देने की प्रेरणा बनती है एवं जब वह उपदेश देता है तभी आत्मा का ज्ञान होता है, यह भाव है। उसके उपदेश से पता लगता है कि आत्मा में अस्ति नास्ति इत्यादि रूप अनेक प्रकार की गति अर्थात् चिंता नहीं है, क्योंकि वह **'सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वात्'** अर्थात् सारे ही विकल्पों की गति वहां असत् हो जाती है। इस प्रकार भाष्यकार अनन्य रूपी विषय से अविषय लक्षणा करते हैं। इस लक्षणा को यदि स्वीकार न किया जाये तो आचार्य-पाद की अध्याहार करके व्यवस्था बन सकती है। अर्थात् स्वात्म रूप जो अनन्य आत्मा उस आत्मा के कहने पर ही गति बनती है। जब तक उस आत्मा को अन्य समझता है तब तक उसका ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि यहां कोई दूसरा

ज्ञेय है ही नहीं । इसका उपसंहार करते हुए आचार्यपाद कहते हैं **'ज्ञानस्य हि एषा परा निष्ठा यत् आत्मैकत्वविज्ञानं'** ज्ञान की यही परम निष्ठा है कि आत्मा की एकता का अनुभव हो। अतः गंतव्य के भाव से ही यह गति नहीं है । अथवा जन्म मरण रूपी गति अनन्य आत्मा के कह देने के बाद नहीं रह जाती क्योंकि विज्ञान के फलरूपी मोक्ष में और विज्ञान में व्यवधान नहीं होता । विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि अनन्य अर्थात् स्वात्मभाव को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है ऐसे आचार्य के द्वारा प्रोक्ते अर्थात् कहे जाने पर आत्मा के विषय में अनवगति अर्थात् अज्ञान रह ही नहीं सकता । सर्वज्ञ शंकर इस अर्थ का पोषण करते हुए कहते हैं **'भवति एवमवगतिः तद्विषया श्रोतुः तदास्मि अहं इति आचार्यस्य इव'** अर्थात् श्रोता को आत्मा के बारे में भी ज्ञान हो ही जाता है कि वह शिव तत्व मैं ही हूं । जिस आचार्य को ज्ञान है कि मैं शिव तत्व हूं, इस प्रकार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के द्वारा कहे जाने पर आत्मा सुविज्ञेय है, यह पूर्व पंक्ति से सम्बन्ध सरल हो जाता है। जब तक यह अभिन्न ज्ञान न हो, तब तक तो आत्मा अणु से भी अणु अर्थात् न समझने लायक है । अतर्क्यम् का तात्पर्य केवल तर्क से अर्थात् अपनी बुद्धि से कभी भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता । जैसा कि सर्वज्ञ शंकर कहते हैं कि तर्क करके यदि आत्मा को अणुपरिमाणी सिद्ध करोगे तो कोई दूसरा वादी आकर उससे भी अणुतर एवं कोई तीसरा आकर उससे भी अणुतम। इस प्रकार से **'नहि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचित्'** कुतर्क की कहीं भी स्थिति नहीं हो पाती । अतः संदेह बना ही रहता है। मध्यकाल की संत परम्परा में यह देखने में आता है कि कोई तुरीयातीत की कल्पना करता है तो कोई तुरीया-तीतातीत की, अथवा कोई भ्रमर गुफा में तीसरे दरवाजे तक जाता है तो कोई नवें दरवाजे तक । इसी प्रकार से कोई अपने ईश्वर को तीसरे आसमान पर बिठाता है तो कोई सातवें आसमान पर । इत्यादि-इत्यादि प्रकार से जब तक उसको आत्मा से अभिन्न नहीं माना जायेगा तब तक इन कुतर्कों की कभी समाप्ति नहीं हो सकती । यद्यपि यहाँ बहुधा चिन्त्यमानः में मनन को कहा गया है और आगे ही अतर्क्य भी कहा गया है। परन्तु यहां यह समझना चाहिये कि श्रुति अनुकूल तर्क का मूल होने से प्रामाण्य है, परन्तु केवल तर्क अमूल होने से निषिद्ध है। केवल तर्क से कभी निश्चय भी नहीं हो पाता।

: ९ :

न एषा तर्केण मतिः आपनेया प्रोक्ता अन्येन एव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वं आपः सत्य-धृतिः वत असि त्वादृक् नः भूयात् नचिकेतः प्रष्टा ॥

प्रेष्ठ = हे प्रियतम।	नचिकेतः = हे नचिकेता !
अन्येन = दूसरे के द्वारा	यां = जिसको
एव = ही	त्वं = तुमने
सुज्ञानाय = सुज्ञान के लिये	आपः = पाया है
प्रोक्ता = कहे हुए	बत = निश्चय ही
एषा = इस	सत्यधृतिः = ठीक निर्णय वाले
मतिः = निश्चय को	असि = हो।
तर्केण = तर्क से	त्वादृक् = तुम्हारे जैसा
न = नहीं	नः = हमको
आपनेया = हटाना चाहिये,	प्रष्टा = प्रश्नकर्त्ता
	भूयात् = होवें।

अब श्रुति बताती है कि द्वैत बुद्धि से भिन्न बुद्धि वाले आचार्य के द्वारा जब भली प्रकार ज्ञान कराने के लिये उपदेश दिया जाता है तब स्वभावतः स्वयं उसकी बुद्धि या दूसरों के ग्रन्थ उस बुद्धि को हटाने लगते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि वह निश्चय तर्क के अधीन न होकर के तर्क उस निश्चय को उत्पन्न कराने में केवल सहकारी है। तात्पर्य यह है कि आगम को न जानने वाले तार्किक अपनी बुद्धि से परिकल्पित करके जो कुछ भी बकते रहते हैं। अतः जिस तर्क में आगम ही अधिक परिमाण में मिले, वह तर्क ही ग्राह्य होता है। आगमों में आत्म मति का ही अधिकतर प्रतिपादन है। अतः आगम का अभिज्ञ आचार्य के द्वारा दिया हुआ उपदेश ज्ञान को उत्पन्न करता है। यद्यपि वह आचार्य तार्किक होने के कारण निश्चय कराने के लिये तर्क का विनियोग भी करता है चूंकि तर्क तर्क से कट सकता है। अतः अपनी बुद्धि से अथवा दूसरे शास्त्रों के तर्कों से उसको काटने का प्रयास नहीं करना चाहिये क्योंकि तर्क तर्क से कटने पर भी आगम का वचन तो वैसा का वैसा रह गया और जो तर्क आगम के बिना किया जाता है, वह तर्क कट

जाने पर तो कुछ भी नहीं बचता। अतः आगम पर आधारित तर्क ही प्रमाण हो सकता है।

अथवा आगम के द्वारा प्राप्त ज्ञान को आगम से ही प्राप्त किया जा सकता है। केवल तर्क से अर्थात् अपनी बुद्धि से विचारमात्र से नहीं। यहां तर्केण का मतलब तर्केण एव एवं आपनेया का मतलब प्रायेण कर लेना चाहिये। अत्यंत प्रसन्न होकर के नचिकेता को मृत्यु अपना प्रियतम बताता है। ठीक भी है क्योंकि मनुष्य की सबसे अधिक प्रेमास्पदता आत्मा में होती है और जो शिष्य स्वात्मैक्य में स्थिर हो जाता है वह गुरु का आत्मा ही बन जाता है। इस तर्क अगम्य मति को बताते हुए मृत्यु नचिकेता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि इस निश्चय को तुमने मेरे वर प्रदान से प्राप्त कर लिया। वस्तुतस्तु अभी प्राप्त किया नहीं है परन्तु अत्यंत सन्निधि में यहां भूतकाल समझना चाहिये। जैसे कोई व्यक्ति तैयार हो रहा हो और दूसरा कहे 'कितनी देरी है, मैं तो जा रहा हूं' तो वह व्यक्ति कहता है यह लो मैं तो आ गया यद्यपि वह अभी सीढ़ी के ऊपर ही होता है। जैसे वहां आ गया का अर्थ शीघ्र आने वाला हूं, है, वैसे ही यहां आपः का मतलब शीघ्र पाने वाला है, समझना चाहिये। इसके द्वारा यह भी संकेतित कर दिया गया कि मृत्यु पूर्ण आचार्य है और नचिकेता पूर्ण शिष्य और जहां गुरु शिष्य दोनों पूर्ण होते हैं, वहां दृढ़ विश्वास से कहा जा सकता है कि एकरस समरस स्वातम अद्वितीय तत्व ज्ञान अवश्यंभावी है। सत्य विषय में जो धृति वाला हो, उसे सत्यधृति कहते हैं।

सुज्ञानाय का अर्थ 'साक्षात्काराय' समझना चाहिये अर्थात् जैसे प्रोक्ता का मतलब 'प्रकर्षेण उक्ता' अर्थात् युक्ति से समझना, वैसे ही युक्ति से आगम के अनुसार भी समझाने में गुरु के हृदय में दो भाव होते हैं। पहले तो शिष्य के हृदय में संस्कार रूपी भूमि तैयार हो, जब तक इस उद्देश्य से सुनाया जाता है तब तक तो संस्कार तैयार होते हैं, और जिसमें गुरु इस दृष्टि से सुनाते हैं कि इसे साक्षात्कार हो जाये, तब साक्षात्कार उत्पन्न होता है। एक ही वाक्य का उद्देश्य भेद से फलभेद तो हो ही जाता है। जैसे एक ही साले शब्द का प्रयोग अनेक दिन से बिछड़े हुए मित्र के प्रति करने पर प्रेम उत्पन्न होता है एवं किसी से झगड़ा होकर के करने पर क्रोध उत्पन्न होता है, वैसे ही यहां समझना चाहिये।

यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से बत शब्द का प्रयोग शोक या दु:ख में किया जाता है परन्तु यहां भाष्यकारों ने इसका अर्थ अनुकंपा किया है। तात्पर्य है कि मृत्यु यद्यपि वर प्रदान के कारण आत्मविद्या का उपदेश करते हुए देखे जाते हैं परन्तु शिष्य की योग्यता को देखकर ही वस्तुत: यहां भी उपदेश हो रहा है। अर्थात् आत्मविद्या का उपदेश केवल अनुकंपा से ही गुरु किया करते हैं। इसका द्योतन करने वाला बत शब्द है। अथवा भाष्य का अर्थ यह समझ लेना चाहिये कि अन्य प्राणियों के प्रति मानो मृत्यु अनुकंपा करते हुए कहते हैं कि वे आत्मज्ञान में प्रवृत्ति नहीं करते, कितने शोक या दु:ख की बात है। अथवा बत अर्थात् कितना शोक है कि तुम्हारे जैसे अनेक शिष्य हमको प्राप्त नहीं हुए। अथवा त्वया आप: तुमने जिसको पाया इसमें तुम का विशेषण बताते हुए कह दिया कि 'सत्यधृतिर्बतासि' चूंकि सत्य को तुमने दृढ़तापूर्वक पकड़कर रखा अर्थात् अनेक प्रलोभनों के देने पर भी तुम सत्य की निष्ठा से हिले नहीं। अथवा मैंने तुम्हें सत्य से डिगाने का प्रयत्न किया, इससे बत अर्थात् मुझे दु:ख है। यहां मृत्यु स्पष्ट ही कहते हैं कि न केवल शिष्य गुरु को ढूंढ़ता है बल्कि गुरु भी योग्य शिष्य को ढूंढ़ने में लगा ही रहता है। सभी शिष्य और वस्तुत: तो सभी जीव आत्मज्ञानी के ही अपने बद्ध रूप हैं। अत: उनके प्रति उसका प्रेम स्वाभाविक होता ही है।

: १० :

जानामि अहं शेवधि: इति अनित्यं न हि अध्रुवै: प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
तत: मया नाचिकेत: चित: अग्नि: अनित्यै: द्रव्यै: प्राप्तवान् अस्मि नित्यं ।।

अहं = मैं	अध्रुवै: = अनित्य (द्रव्यों) से
शेवधि: = निधि	न = नहीं
अनित्यं = अनित्य है	हि = ही
इति = ऐसा	प्राप्यते = प्राप्त किया जाता है।
जानामि = समझता हूं;	तत: = उनसे
हि = क्योंकि	मया = मेरे द्वारा
तत् = वह	नाचिकेत: = नचिकेता
ध्रुवं = ध्रुव (आत्मा)	अग्नि: = अग्नि

चितः = चयन की गई;	नित्यं = नित्य को
अनित्यैः = अनित्य	प्राप्तवान् = प्राप्त हुआ
द्रव्यैः = पदार्थों से	अस्मि = हूं ।

अत्यंत संतुष्ट होकर नचिकेता को अपने से भी अधिक प्रज्ञा वाला बताते हैं । मृत्यु कहते हैं कि इस बात को जानता हूं कि अनित्य पदार्थों से नित्य परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर, भी मैंने नाचिकेताग्नि का चयन करके सापेक्ष्य नित्य याम्यपद को प्राप्त किया और तुमने तो उसे भी छोड़ा है । अतः तू मेरे से भी श्रेष्ठ है । यह एक प्रकार से प्रेष्ठ का ही स्पष्टीकरण है ।

शेवधिः का मतलब निधि होता है । कर्मफलों की भी लोग वैसे ही इच्छा करते हैं जैसे निधि की । अतः यहां कर्मफलों को शेवधि कहा गया । कर्मफल हमेशा अनित्य ही होते हैं । अनित्य पदार्थों के द्वारा या अनित्य कार्यकरण संघात के द्वारा निष्पन्न होने के कारण उनके फल अनित्य ही हो सकते हैं । अतः नित्य दुःख रूप निधि की प्राप्ति तो अनित्य द्रव्यों से हो सकती है परन्तु परमात्मा रूपी निधि जो नित्य है, न उनसे प्राप्त हो सकती और न अनित्य कार्यकरण संघात के द्वारा ही हो सकती है । इससे जो कुछ लोगों का मानना है कि ध्यान या समाधि के अभ्यास से अथवा शरणागति से उसकी प्राप्ति हो सकती है, वे भी अवैदिक सिद्ध होते हैं क्योंकि ध्यान भी अनित्य ही है एवं शरणागति भी मन की वृत्ति है जो अनित्य ही है । अतः उनसे नित्य परमात्मा की प्राप्ति असम्भव है । ऐसा जानने पर भी मैंने उनके द्वारा साधन किया एवं उसके द्वारा याम्य पद में अधिकृत होकर के इस पद पर आरूढ़ हूं ।

विवेक दृष्टि से विचार करने पर तो यहां पूर्वापर के बीच में ततः को कार्यकारण भाव में लगाना कुछ विचित्र सा लगता है एवं मूल मंत्र में अपि का अध्याहार भी करना पड़ जाता है । सूक्ष्म दृष्टि से तो ऐसा लगता है कि तत् पद उन अध्रुव पदार्थों को विषय करता है । अर्थात् अध्रुव पदार्थों के द्वारा जब मनुष्य नाचिकेताग्नि का चयन करता है अर्थात् विविदिषु जब वैराग्य के लिये उन कर्मों को निष्पन्न करता है तभी उसके द्वारा ईश्वर कृपा प्राप्त होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है । तात्पर्य है कि अनित्य द्रव्यों

से नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः तू ऐसे अनित्य द्रव्यों में नहीं फंसा। उन अनित्य द्रव्यों को एवं अनित्य कार्यकरण संघात को मैंने तो अग्निरूपी परमात्मा में लगा दिया और उसके द्वारा मैं इस तत्वनिष्ठा को प्राप्त कर सका। भाष्य का तात्पर्य यह समझ लेना चाहिये कि शुभ कर्मों के दीर्घ काल तक करने के संस्कारों से वासित जो अंतःकरण एवं देह आदि हैं, वे जीवन्मुक्त अवस्था में उपदेश देने के अधिकारी होते हैं एवं जीवन्मुक्ति को भी सुख का साधन तथा लोक संग्रह का केन्द्र बना पाते हैं। 'तेन अहं अधिकारापन्नः' यहां अधिकार का मतलब ब्रह्म विद्या परम्परा का अधिकार समझना चाहिये। तब याम्यं स्थानं का मतलब होगा कि जीवन्मुक्तावस्था में प्रायशः समाधि की अवस्था रहने से आत्मविद्या भी मानो ऐसे ज्ञानी से लोक में प्रकाश पा लेती है। अतः यह समाधि का साधन हुआ। आपेक्षिक नित्यता तो इसकी भी है ही क्योंकि विदेह कैवल्य में यह भी समाप्त हो जाती है।

शेवधिः शब्द पुल्लिंग है। अतः यहां अनित्यं पद का प्रयोग आर्ष समझना चाहिये। **यमयति नियच्छति इति यमः** ऐसा अर्थ करने पर तो चूंकि मैंने ईश्वर की आराधना की, अतः मुझे लोक संग्रह के कार्य में जंतुओं के ऊपर नियंत्रण करना पड़ता है। एवं उनके शुभ कर्मों के अनुसार आशीर्वाद आदि देकर उनकी कामनाओं की पूर्ति तथा अधिकारी को देखकर आत्मज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। हे नचिकेता! तुमने इस प्रकार बिना परिश्रम के भी जो मैं तुम्हें कर्मफल दे रहा था, उनको स्वीकारा नहीं, अतः तुम उच्चतर भूमिकाओं को सरलता से प्राप्त कर लोगे। लोक संग्रह के कार्य में रत होने पर भी व्यवहार चूंकि सत्य और अनृत का मिश्रण है, अतः आत्मज्ञानी उसे हेय दृष्टि से ही देखता है तदपेक्षया नित्य निरंतर श्रवण मनन, निदिध्यासन में रत निवृत्ति प्रारब्ध वाले को अपने से भी अधिक सुखी अनुभव करता है। ठीक भी है क्योंकि जितने क्षण व्यवहार में बीतते हैं, वे आत्मसुख से तो वंचित करते ही हैं। आत्मज्ञानी को यद्यपि व्यवहार में भी सूक्ष्म आनंद की वृत्ति बनी रहती है परन्तु आत्म चिंतन में जैसी उसकी स्फुटता होती है, उससे तो कुछ धुंधलापना आ ही जाता है। यह बात दूसरी है कि प्रारब्ध के अनुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति आत्मज्ञानी के व्यवहार में फरक लाती ही है एवं इसके प्रति

आत्मज्ञानी के हृदय में कोई विशेष शोक या क्लेश भी नहीं होता परन्तु प्रवृत्ति से निवृत्ति अच्छी है, यह सिद्धान्त तो हमेशा ही सत्य है। स्वयं ज्ञानी की दृष्टि में तो प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों एक जैसी ही बनती हैं। यह श्रेय और प्रेय को सिनीत: कहते हुए बता आये हैं।

यहां कुछ लोगों ने अनात्म पद का अर्थ यह करने का प्रयत्न किया है कि अनित्य द्रव्यों के द्वारा कर्म उपासना के द्वारा भी नित्य पदार्थ की प्राप्ति हो सकती है, यह श्रुति का तात्पर्य है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि तृतीय पाद में यह कह आये हैं कि अग्नि में सब कुछ अनित्य जला देने पर ही नित्य की प्राप्ति सम्भव है। अत: जैसे यदि कोई कहे कि अपना सारा धन दूसरे को दे देने से ही गरीबी आती है तो इसका तात्पर्य यह नहीं लगाया जा सकता कि धन गरीबी का कारण है, यद्यपि सब कुछ दे देने में धन का विनियोग है; वैसे ही अनित्य को जला देने से अर्थात् परमेश्वर अर्पण कर देने से अनित्य की तरफ गति होती है, इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि अनित्य पदार्थ से नित्य की गति होती है। मैक्समूलर और ह्यूम ने तो इसे नचिकेता के द्वारा कहा हुआ वाक्य माना है। परन्तु नचिकेता ने तो अब तक किसी भी अनित्य पदार्थ के प्रति अपनी प्रवृत्ति को दिखाया ही नहीं है। यह बात दूसरी है कि इस अनित्य कार्यकरण संघात का ही प्रयोग उस संघातातीत को प्राप्त करने के लिये करना पड़ेगा क्योंकि यही तो हमारे पास एकमात्र साधन है।

किंच, यह भी यहां बताया जा रहा है कि जब अग्निचयन से याम्य पद की प्राप्ति हो सकती है अर्थात् परमेश्वर की तरफ परमेश्वर को प्रतीक मानकर के भी प्रवृत्ति करने से समष्टि संसार का शासन मिल सकता है तो साक्षात् परमेश्वर की तरफ जाने से तो और कितना बड़ा फल मिलेगा।

: ११ :

कामस्य आप्तिं जगत: प्रतिष्ठां क्रतो: आनन्त्यम् अभयस्य पारं।
स्तोममहत् उरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीर: नचिकेत: अति अस्राक्षी:।।

कामस्य = कामनाओं की
आप्तिं = पूर्ण प्राप्ति को,
जगत: = जगत की
प्रतिष्ठां = प्रतिष्ठा को,

क्रतो: = क्रतु के
आनंत्यम् = अनन्त (हिरण्यगर्भ) पद को
अभयस्य = निर्भयता की
पारं = सीमा को,
स्तोममहत् = महान स्तुति के योग्य,
उरुगायं = विस्तृत गति को,
प्रतिष्ठां = कीर्ति को
दृष्ट्वा = देखकर
धीर: = बुद्धिमान
नचिकेत: = नचिकेता ने
धृत्या = धैर्य से
अति = बिल्कुल
अत्राक्षी: = त्याग दिया।

जो हिरण्यगर्भ पद तक भी विरक्त हो जाता है, उसी को ब्रह्मज्ञान में अधिकार होता है। नचिकेता के इस अधिकार को देखकर पुन: स्थिति की जा रही है। नचिकेता ने सभी कामनाओं की प्राप्ति को भी हेय समझ करके छोड़ा। जहां कामनाओं की समाप्ति होती है, ऐसा पद ही हिरण्यगर्भ का पद है क्योंकि हिरण्यगर्भ की प्राप्ति होने के बाद कोई कामना ऐसी नहीं रहती जो पूर्ण न हो जाये। यह हिरण्यगर्भ पद ही अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव आदि सारे साध्य रूप जगत का आश्रय है क्योंकि हिरण्यगर्भ की प्राप्ति का मतलब होता है सर्व रूप की प्राप्ति। विश्व के कण-कण और क्षण-क्षण में जो अपने आपको वैसा ही अनुभव करता है जैसा सारे मनुष्य अपने को अपने शरीर में, उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं। इस हिरण्यगर्भ पद की प्राप्ति नाचिकेताग्नि के चयन रूप कर्म और उपासना से होती है। यहां पर क्रतो: का अर्थ प्रधान रूप से हिरण्यगर्भ की उपासना ही लेना चाहिये। चूंकि इससे परे और कोई फल नहीं है, इसीलिये इसको यहां अनंत के नाम से कह दिया। यहां पहुंचकर मनुष्य के सारे भयों की निवृत्ति हो जाती है। अत: इसको निर्भयता की अंतिम सीमा कहा है। सभी देवताओं के द्वारा सगुण ब्रह्म रूपी हिरण्यगर्भ की ही स्तुति की जाती है। अत: उसे स्तोम कहा गया। अणिमादि अनेक शक्ति तथा समग्र विश्व के चलाने के ऐश्वर्य आदि गुणों से विशिष्ट होने के कारण उसे यहां महद् कहा गया। तात्पर्य है कि उससे और अधिक कोई भी स्तुति के योग्य नहीं है। सबसे अधिक समय तक हिरण्यगर्भ का पद ही रहता है। अत: उसे उरुगाय कहा गया। अथवा उरु का अर्थ व्यापक भी किया जा सकता है। इससे अधिक और कोई व्यापकता प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार के फलों को ललचाये जाने के लिये यमराज के

द्वारा दिखाये जाने पर भी नचिकेता उनके द्वारा थोड़ा भी आकृष्ट नहीं हुआ, यह उसके महान धैर्य का प्रमाण है। विवेक बुद्धि की यही पराकाष्ठा होती है कि बड़े से बड़े आकर्षणों से भी अविवेकी की तरह आचरण न किया जाये। चूंकि नचिकेता परब्रह्म परमात्मा को ही चाहता था, अतः सारे संसार के भोग समूहों को देखकर के भी और किसी चीज में आकृष्ट नहीं हुआ। ऐसे उत्तम गुण वाले नचिकेता की तरह परमात्मपद की प्राप्ति कर पाता है। अन्यथा सामान्यतः तो यह देखा जाता है कि यद्यपि अल्पभोगों के उपस्थित होने पर भी मनुष्य परमात्मा की तरफ से अपने आपको हटा करके सांसारिक पदार्थों में प्रवृत्त हो जाता है। जैसा कि कई बार देखा जाता है कि वेदांत की कथा और एक लाख रुपये के फायदे में से चुनना हो तो अच्छे से अच्छे वेदांत के विचारक एक लाख रुपया लेने चले जाते हैं और वेदांत की कथा छोड़ देते हैं। कभी कभी तो हेतु भी दे देते हैं कि कथा तो रोज सुन ही लेंगे परन्तु वहां हृदय यही है कि एक लाख रुपया अधिक उपादेय है, कथा कहां जाती है। इस प्रकार नचिकेता इच्छा की पूर्ति इत्यादि जो कर्म और उपासनाओं का अंतिम परिणाम है, उसको देखकर के तथा अतिदीर्घ कीर्ति की प्राप्ति को देखकर के भी अपने उद्देश्य से विचलित नहीं हुआ। क्रतोरानन्त्यम् का यह अर्थ भी हो सकता है कि कर्म और उपासना का जो फल है वह जन्म मरण का अनंत चक्र पैदा करता है। इसी प्रकार 'अभयस्य पारं' का यह तात्पर्य भी हो सकता है कि संसार के इह लोक में भय ही भय है और ब्रह्म लोक में अभय का किनारा अर्थात् अभय का पार है। उरुगायं का अर्थ यह भी हो सकता है कि वह अतिदूर है। ये सब अर्थ पौराणिक लोक दृष्टि से संगत होने पर भी वेदांत में तो अवस्थाओं को ही मानने के कारण उतने संगत नहीं होते। परन्तु सामान्यतः इन अर्थों से भी कोई विरोध नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो कर्म और उपासना के द्वारा सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं उन्हें अंतिम प्राप्त होने लायक पद हिरण्यगर्भ है। इस प्रकार कर्म और उपासना के अंतिम प्राप्तव्य हिरण्यगर्भ अथवा स्वर्ग एवं ज्ञानकाण्ड के द्वारा प्राप्तव्य परम शिव का विरोध इस मंत्र में स्पष्ट किया। वेदांत दृष्टि से तो जब तक द्वैत से पार नहीं जायेंगे, तब तक न वास्तविक कामनाओं की समाप्ति होगी एवं न निर्भयता की प्राप्ति होगी क्योंकि ये सब तब तक सापेक्षिक ही बने रहेंगे।

अथवा कामस्याप्तिं से प्रतिष्ठां तक के सभी पदों को परम तत्वविषयक निरपेक्ष दृष्टि से समझ लेना चाहिये। अर्थात् सभी कामनाओं की समाप्ति जगत का अधिष्ठान, अनंतता, निर्भयता, सर्वव्यापकता इत्यादि को देखकर अर्थात् उनके उद्देश्य से नचिकेता ने बुद्धिमत्तापूर्वक बाकी सभी सांसारिक पदार्थों का त्याग कर दिया।

: १२ :

तं दुर्दर्शं गूढ़ं अनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरः हर्षशोकौ जहाति॥

अध्यात्मयोगाधिगमेन = अध्यात्म योग के द्वारा जानकर
दुर्दर्शं = कठिनाई से देखे जाने वाले,
गूढ़ं = गहन
अनुप्रविष्टं = छिपे हुए,
गुहाहितं = बुद्धि में स्थित,
गह्वरेष्ठं = खड्ड में स्थित,
पुराणं = पुरातन
तं = उस (प्रसिद्ध)
देवं = महादेव को
मत्वा = ध्याकर
धीरः = बुद्धिमान्
हर्षशोकौ = हर्ष शोक को
जहाति = छोड़ देता है।

कार्यकरण संघात से भिन्न जो शुद्ध आत्मा अपने ज्ञान के द्वारा सकारण संसार को नष्ट करके परम आनंद प्राप्ति का साधन है एवं विचारशील के लिये जो एकमात्र धर्म है, उसकी अब प्रशंसा करते हैं। यह परमात्म तत्व अनुभव करने में अत्यंत सूक्ष्मता के कारण दुःखप्रद प्रतीत होता है। अतः उसको दुर्दर्श कहा गया है। यद्यपि कुछ लोगों ने अत्यंत परिश्रम के द्वारा इसकी प्राप्ति होने से इसकी दुर्दर्शता की सिद्धि की है। परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मज्ञान तो अनायास होता है, आयास का तो वहां प्रश्न ही नहीं है। अतः यहां पर दुःखेन दर्शनं में तात्पर्य परिश्रम से नहीं वरन् अतिसूक्ष्मता से है। पंचमहाभूतों में कार्यों की अपेक्षा कारण सूक्ष्म होता है। पृथ्वी की अपेक्षा जल, जल की अपेक्षा अग्नि, अग्नि की अपेक्षा वायु और वायु की अपेक्षा आकाश सूक्ष्म है। आकाश की अपेक्षा ब्रह्म की सूक्ष्मता तो कारण होने से स्वतः ही है एवं वही अंतिम कारण होने से सूक्ष्मतम हो, इसमें कहना ही क्या। यही उसकी दुर्दर्शता की व्याख्या है। यहां केवल दुर्दर्श ही नहीं वरन्

गूढ़ार्थं कहना भी है। युक्ति और प्रत्यक्ष की वहां गति न होने से ही वह गूढ़ है। प्रकृति के विकार जो रूप, रस आदि विषय, उनके अनुभवों से यह हमेशा ढका रहता है। अतः इसे अनुप्रविष्ट कहा गया। बुद्धि रूपी गुफा में इसकी उपलब्धि होने से इसे बुद्धि में स्थित कहा जाता है। यद्यपि स्वरूप से तो यह सर्वव्यापक है परन्तु साधक को वहीं प्राप्त होता है। यह समग्र ब्रह्माण्ड मानो एक बड़ा भारी गह्वर अर्थात् खड्डा है क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के अनर्थों का संकट बना ही रहता है। इसमें स्थिति होने से ही इसे गह्वरेष्ठ कहा गया। गुहाहितं से त्वं पदार्थ का संकेत था और गह्वरेष्ठ से तत्पदार्थ का। जब तक इस विषम संसार के अधिष्ठान रूप से आत्मा को नहीं जान लिया जाता, तब तक इसे वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता। अथवा राग, द्वेष आदि अत्यन्त आयास को उत्पन्न करने वाले संकट हैं। उनको प्रकाशित करने वाला होने से इसे गह्वरेष्ठ कहा गया। अथवा यह शरीर इन्द्रिय आदि संघात ही एक तरह का गह्वर है और उसमें स्थित होने से यहां गह्वरेष्ठ है।

इन पदों में परस्पर कार्य कारण रूपता भी समझी जा सकती है। अर्थात् चूंकि गह्वरेष्ठ है अतः गूढ़ है। गूढ़ है अतः गुहाहित है, गुहाहित है अतः गह्वरेष्ठ हैं, अतः दुर्दर्श है इत्यादि। आत्मा सनातन होने से ही पुराण कही जाती है। विषयों से चित का उपसंहार करना अध्यात्म योग है एवं ऐसा चित्त जब आत्मा में समाहित किया जाता है तब अध्यात्म योग कहा जाता है। इस अध्यात्म योग के द्वारा ही उसकी प्राप्ति होती है। आत्मा की प्राप्ति और आत्मा की अधिगति अर्थात् ज्ञान एक ही चीज है। वस्तुतः यही वह योग है जिससे एक रस, समरस शिव की प्राप्ति होती है। अन्य हठ योग आदि की वेदांत मार्ग में कोई आवश्यकता नहीं। जितना जितना विषयों से चित्त को हटाकर आत्मा में स्थित किया जाता है, उतना ही उतना उसका प्रकाश स्पष्ट होता चला जाता है। अपने आप का उत्कर्ष समझ कर मनुष्य हर्षित होता है और अपना अपकर्ष समझकर शोक में पड़ता है। वैपरीत्येन, दूसरे के उत्कर्ष से दुःख और दूसरे के अपकर्ष से सुख भी मूर्ख लोगों में देखा जाता है। जब उत्कर्ष और अपकर्ष को अपने से भिन्न अज्ञान जन्य कार्य करण संघात में समझ लेता है तब उसे उत्कर्ष, अपकर्ष से हर्ष, शोक होना सम्भव नहीं। अतः स्वतः ही हर्ष शोक

छूट जाते हैं। वस्तुतः हर्ष शोक उसको स्वतः ही छोड़ जाते हैं। उसे छोड़ने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कुछ आचार्यों के मत में तो धीरः से श्रवण लिया गया है। अध्यात्म योग से मनन लिया गया है। मत्वा से निदिध्यासन लेकर 'हर्ष शोकौ जहाति' से साक्षात्कार लिया गया है। इस प्रकार यम ने पूर्व वल्ली में 'यो यं वरो गूढ़मनु प्रविष्टो' के द्वारा कहे हुए तत्त्व को यहां बता दिया कि वह गहन महादेव इस संसार के भीतर छिपा हुआ है एवं अपने भीतर भी छिपा हुआ है। साधारण त्रिपुटी के द्वारा इसे समझना असम्भव है परन्तु फिर भी अध्यात्म योग के द्वारा इसे अधिगत किया जा सकता है। इस मंत्र में तरह-तरह के विशेषणों के द्वारा उस तत्व में प्रवेश करना कठिन बताते हुए उसमें घुसने का तरीका भी बताया जा रहा है। देव शब्द से अन्यत्र भी अनेक जगह देवाधिदेव महादेव परमात्मा का संकेत मिलता है।

: १३ :

एतत् श्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यं अणुं एतं आप्य
सः मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये॥

मर्त्यः = मनुष्य
एतत् = इसको
श्रुत्वा = सुनकर (तथा)
सम्परिगृह्य = अच्छी तरह से ग्रहण करके (तथा)
धर्म्यं = धर्म से अविरुद्ध को
प्रवृह्य = अलग करके
एतं = इस
अणुं = सूक्ष्म तत्व को
आप्य = प्राप्त करके
सः = वह
मोदनीयं = मोदक को
लब्ध्वा = प्राप्त करके
मोदते = हर्ष करता है।
हि = निश्चय ही
नचिकेतसं = नचिकेता को
विवृतं = खुला हुआ
सद्म = ब्रह्मधाम वाला
मन्ये = मानता हूं।

आगे कहे जाने वाले आत्म तत्व को गुरु की कृपा से सुनकर एवं वही मेरा सच्चा आत्मा है इस प्रकार उसका ग्रहण करके अर्थात् समझ करके मरण-धर्मा मनुष्य अमर बन जाता है। यहां मर्त्य पद के द्वारा यह कहा कि इस आत्मज्ञान के लिये मनुष्य मात्र का अधिकार है। श्रुत्वा के द्वारा गुरु

के विना इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह बताया। सम्परिगृह्य के द्वारा जब तक उसका आत्मभाव से ग्रहण न हो तब तक श्रवण की अवधि बताई। यह आत्म तत्व धर्मविरुद्ध होगा क्योंकि विधि निषेध से परे है, इस शंका को दूर करने के लिये उसे धर्म्यं अर्थात् धर्म अविरुद्ध कहा। यद्यपि वह धर्म से भिन्न है किन्तु धर्म से विरुद्ध नहीं है (A moral but not Im-moral) इसके बाद निदिध्यासन बताते हुए कहा कि इसको शरीर आदि से विवेक के द्वारा अलग करे और इस प्रकार अलग करने पर यह सूक्ष्म आत्मा यद्यपि नित्य प्राप्त है परन्तु लगता है कि प्राप्त हो गया। इसके द्वारा निदिध्यासन बता दिया। इस प्रकार प्राप्त करने पर साधक जो वस्तुत: संसार अवस्था में भी अपनी झलक से मोदन करता था, वह अब स्वयं प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि जब-जब बुद्धि वृत्ति शांत होती है तब-तब उसमें आत्मा की झलक आ जाने से ही सुख की प्राप्ति होती है परन्तु अब तो आत्मा स्वत: प्राप्त हो गया। अत: अब तो नित्य निरंतर हर्ष ही हर्ष आत्मवेत्ता को बना रहता है। यही वस्तुत: परब्रह्म परमात्मा का परम धाम है (सद्म)। यद्यपि पुराण आदि में ब्रह्मधाम का वर्णन अपर ब्रह्म के वर्णनों से भी किया गया है परन्तु श्रुति यहां उस आत्मा को ही सद्म कह रही है। नचिकेता के लिये उसका द्वार खुल गया है अर्थात् नचिकेता उसकी तरफ चल दिया है। आत्मा अपना स्वरूप होने से उसका ार तो हमेशा ही खुला हुआ है परन्तु जब हम उसके अभिमुख होते हैं, तब वह द्वार खुल गया, ऐसा प्रयोग किया जाता है। गीता में भी 'स्वर्गद्वारमपावृतं' इत्यादि के द्वारा कठ की ही छाया दिखायी गयी है। तात्पर्य है कि मृत्यु कहते हैं कि मैं तुम्हें मोक्ष के योग्य मानता हूं। मर्त्य अर्थात् मृत्यु के अधीन। अत: नचिकेता रूपी शिष्य मृत्यु रूपी गुरु के अधीन होने के कारण मर्त्य कहा जाता है।

ब्रह्मसद्म खुल गया है, इसमें यह भी ध्वनि हो सकती है कि ब्रह्म ने मानो तुम्हें चुन लिया है। तब 'यमेवैषवृणुते' इत्यादि श्रुतियों का यहां समन्वय कर लिया गया। सद्म का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उसमें नचिकेता नित्य निरंतर निवास कर सकेगा। अर्थात् अनेक बार ऐसा होता है कि विवेक आदि करके आत्म तत्व को प्राप्त करने के बाद भी मनोनाश और वासना क्षय की कमी के कारण मनुष्य उसमें निरंतर नहीं रह पाता है। परन्तु नचिकेता ऐसा नहीं है।

किसी चीज के सार को भी धर्म्य कहते हैं। तब तात्पर्य होगा कि इस सारे जगत का वह परमात्मा ही एक मात्र सार है और हमें संसार के अन्दर से वास्तविक परमात्म तत्व को मानो निचोड़ के निकालना है। इस पक्ष में धर्म्य को अणु का विशेषण माना जा सकता है अर्थात् वह परमात्मा अत्यंत सूक्ष्म है और विचार के द्वारा ही उसको सार रूप से निकाला जा सकता है। ऋग्वेद के सोमरस को निचोड़ने का या सोमसवन का यही वास्तविक तात्पर्य है। इसके आगे आये हुए मोद मोदते मोदनीयं आदि शब्द भी सोम सव का ही निर्देश करते हैं क्योंकि वैदिक साहित्य में सोम ही मोद देने वाले पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। विवेकी की दृष्टि में तो यहाँ धर्म्यम् और मोदनीयं को साथ-साथ करके श्रुति यह बताती है कि जो हमारा वास्तविक अंतस्तम तत्व है, वही सबसे बड़ी अर्हा भी है और वही आनंद रूप भी है। अतः अर्हा (Value) तत्व (Metaphysical ultimate) एवं आनंद (Aesthetic essence) एक ही है, ऐसा वेद का कथन है। मोदते में जो आनंद को क्रिया पद की दृष्टि से रखा गया है, वह यह बताने के लिये कि अंतिम तत्व सब भावनाओं से रहित कोई शुष्क स्थिति नहीं है। प्रायः बौद्ध एवं न्याय तथा सांख्य दृष्टि के विचारक आत्म तत्व को एक भावहीन निष्प्राण तत्व मान लेते हैं परन्तु वेदांत तो उसे सब भावों का एकमात्र स्रोत मानता है। अतः वह प्राणों का प्राण है, प्रिय का प्रिय है।

: १४ :

बार बार यम के द्वारा अपनी एवं आत्म तत्व की प्रशंसा सुनते-सुनते नचिकेता उस आत्म तत्व के प्रति और ज्यादा आकृष्ट होकर उसके उपदेश को अतिशीघ्र प्राप्त करने की उतावली से कहता है :—

अन्यत्र धर्मात् अन्यत्र अधर्मात् अन्यत्र अस्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूतात् च भव्यात् च यत् तत् पश्यसि तत् वद ॥

यत् = जो	अन्यत्र = भिन्न
धर्मात् = धर्म से	अस्मात् = इस
अन्यत्र = भिन्न	कृताकृतात् = कृताकृत से
अधर्मात् = अधर्म से	अन्यत्र = भिन्न

च = और	तत् = तत्व को
भूतात् = भूत से	पश्यसि = अनुभव करते हो
च = तथा	तत् = उसको
भव्यात् = भव्य से	वद = बताओ ।
अन्यत्र = भिन्न	

यह स्वाभाविक है कि जो जिस चीज को जानना चाहता है वह उसके बारे में उतावला होता है और यह भी उतना ही सत्य है कि जिसने जिस चीज को जान लिया, वह उस चीज के बारे में जब भी सोचने लगता है तो उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाता । यमराज अनुभूत तत्व वाले हैं अतः बार-बार उस आत्मतत्व की प्रशंसा कर रहे हैं । परन्तु नचिकेता चाहता है कि वह इस तत्व को जल्दी से जल्दी प्राप्त करे । अतः वह कहता है कि यदि आप मुझे योग्य समझते हैं और मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मुझे उस तत्व का उपदेश दें । यह तत्व शास्त्र में बताये हुए विधि-निषेध रूप अनुष्ठान एवं फल तथा करने के साधनों से सर्वथा भिन्न प्रकार का होने से उसे धर्म से भिन्न कहा जाता है । अधर्म से तो वह सर्वथा भिन्न है ही, इसमें कहना ही क्या । इसी प्रकार वह कृत अर्थात् कार्य एवं अकृत अर्थात् कारण इन दोनों से भी भिन्न है अर्थात् न वह किसी का कार्य है, न वह कारण है । यद्यपि जगत का कारण ब्रह्म को बताया गया है लेकिन वह तो केवल अधिष्ठानमात्र होने से। उसमें वास्तविक कारणता नहीं वरन् अज्ञान के द्वारा कारणता का आरोप है । इसी तरह भूत और भव्य से भिन्न होने से वह तीनों कालों से अतीत है । अथवा भूताच्च और भव्याच्च में जो चकारों की द्विरुक्ति है उससे वर्तमान काल का ग्रहण कर लेना चाहिये अर्थात् वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों से भिन्न है । इस प्रकार सारे व्यवहारों के अतीत जो तत्व है, उसका उपदेश आप मुझे करें, यह नचिकेता का भाव है। अथवा भूत और भव्य से भिन्न है अत: आत्म तत्व सदा (वर्तमान) है एवं उसमें किसी प्रकार का प्रवाह (Duration) नहीं है । तात्पर्य यह है कि नचिकेता उस गूढ़ सत्ता को जानना चाहता है जिसमें देश काल वस्तु, धर्म, अधर्म की उपाधि हट चुकी है एवं जो कुछ भी काल में घटित होता है उस सबसे जो परे है। तैत्तिरीय उपनिषद् (२-९) में स्पष्ट ही कहा है कि मैंने अच्छे काम क्यों नहीं किये और पाप क्यों किया इसका आत्मज्ञानी को अनुताप नहीं होता।

'एतंहवा न तपति किमहं साधु न कुर्व किमहं पापमकरवम् ।' इसी प्रकार से (Mirror of simple souls) में भी कहा गया है कि हे पुण्य! मैं तुमसे छुट्टी लेता हूं क्योंकि अब तुम्हारी सेवा बहुत निम्न कोटि की हो गई है। किसी समय मैं तेरा गुलाम था और हर चीज में तेरी आज्ञा मानता था परन्तु अब मैं तुम्हारे पंजे से छूट चुका हूँ (Virtues ! I take leave of you. Ever more your service is too trivallous. Once I was your servant in all things, to you obedient, but now I am delivered from your thraldom).

: १५ :

सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति तपांसि सर्वाणि च यत् वदन्ति ।
यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॐ इतिएतत् ॥

यत् = जिस	इच्छन्तः = इच्छा करते हुए
पदं = पद को	ब्रह्मचर्यम् = ब्रह्मचर्य को
सर्वे = सारे	चरन्ति = पालते हैं ।
वेदाः = वेद	तत् = उस
आमनन्ति = प्रतिपादन करते हैं	पदं = पद को
च = तथा	ते = तुम्हें
यत् = जिसको	संग्रहेण = संक्षेप से
सर्वाणि = सारे	ब्रवीमि = बताता हूं,
तपांसि = तप	ॐ = ओम्
वदन्ति = बताते हैं,	इति = यह
यत् = जिसकी	एतत् = वह है ।

कुछ लोग पद का अर्थ शब्द करते हैं। उनका तात्पर्य है कि सारे वेद आदि के द्वारा ओम् का ही प्रतिपादन है। परन्तु प्रतिपादन किसी शब्द का नहीं हुआ करता, वरन् अर्थ का हुआ करता है। अतः सर्वज्ञ शंकर ने यहां पद का व्याकरण सिद्ध सुप् तिङन्त अर्थ न करके पदनीयं गमनीयं अर्थात् जिसे प्राप्त किया जाये ऐसा अर्थ किया है। तात्पर्य है कि वे सारे

वेद बिना किसी विभाग के या बिना किसी अपवाद के एकमात्र परमात्मपद का ही प्रतिपादन करते हैं। सर्वे के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि वेदों में जो कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड का त्रिविध भेद करते हैं वह श्रुति सिद्ध नहीं है। यह बात दूसरी है कि कोई भाग परम्परा और कोई साक्षात् परमात्म पद का प्रतिपादन करे। किंच इसको सर्वप्रथम कहकर के यह भी बता दिया कि साक्षात् वेदों का श्रवण तो ज्ञान के प्रति साक्षात् कारण है एवं तप और ब्रह्मचर्य ज्ञान के साधन रूप से प्रयुक्त हैं। आचार्य आनंदगिरि तो ऐसा मानते हैं कि जो वेद का आम्नाय से अध्ययन करने में असमर्थ हैं, उनके लिये क्रम से ज्ञान हो जाये। अथवा जो मन्दाधिकारी विचार करने में असमर्थ हैं, उन्हें विचार की योग्यता प्राप्त हो जाये, इसके लिये तप और ब्रह्मचर्य बताये गये हैं। सारे ही तप परमात्म प्राप्ति के लिये ही हैं एवं गुरुकुल वास आदि जो ब्रह्मचर्य के नियम पालन किये जाते हैं, वे भी ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा करने के लिये ही हैं। संक्षेप से उस पद को ओम् कहा जाता है। अर्थात् यद्यपि सारे वेदों में उस परमात्मा का निरूपण किया गया है परन्तु ओम् के विचार से वे सारे रहस्य झटपट समझ में आ जाते हैं।

सर्वज्ञ भाष्यकार भगवान शंकर तो '**ॐ शब्दवाच्यं ॐ शब्दप्रतीकं च**' ऐसे ॐ के दोनों अर्थ करते हैं। यह शब्द समूह स्वयं भी एक रहस्यमय सूत्र है। अतः इसका अर्थ भली प्रकार समझ लेना चाहिये। जैसे किसी शब्द के उच्चारण करने पर हृदय में जिस किसी चीज की फुरणा हो जाती है, वह उस पद का वाच्य कही जाती है। जैसे पानी, इस शब्द का उच्चारण करते ही हृदय में द्रवात्मक रस गुण युक्त द्रव्य विशेष की फुरणा हो जाती है। अतः पानी का वही अर्थ हुआ। चित्त को सर्वथा एकाग्र करके ओंकार का उच्चारण करने पर सारे ही विषयों से अनुपरक्त हुआ हुआ केवल संवित् मात्र का स्फुरण होता है। अतः ओंकार का इस प्रकार अवलम्बन करने से उसका वाच्य ब्रह्म मैं हूँ, यह बोध उत्तम बोध है। मध्यम अधिकारी के लिये ओंकार का उच्चारण करते हुए जो स्फुरण होता है, वह ब्रह्म मैं हूं, ऐसा ध्यान कर्त्तव्य है। जो इसमें भी असमर्थ हो, वह मध्यम अधिकारी तो ओम् शब्द का जो नाद है, उसको प्रतीक मानकर के वही ब्रह्म है, ऐसी दृष्टि करे।

: १६ :

एतत् हि एव अक्षरं ब्रह्म एतत् हि एव अक्षरं परं ।
एतत् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा यः यत् इच्छसि तस्य तत् ॥

एतत् = यह	एतत् = इस
अक्षरं = अक्षर	अक्षरं = अक्षर को
हि = ही	हि = ही
एव = निश्चित रूप से	एव = निश्चित रूप से
ब्रह्म = ब्रह्म है,	ज्ञात्वा = ध्याकर
एतत् = यह	यः = जो
अक्षरं = अक्षर	यत् = जिसको
हि = ही	इच्छति = चाहता है
एव = निश्चित रूप से	तस्य = उसका
परं = परब्रह्म है;	तत् = वह (हो जाता है) ।

तत्व विचार में जो अधिकारी नहीं है उन्हें ओंकार की उपासना का विधान किया था, उसी का यहां पर फल बताते हुए ओंकार की स्तुति करते हैं । ओंकार ब्रह्म का वाचक है और ब्रह्म का प्रतीक है । अतः यदि उसको अपरब्रह्म समझ करके प्रतीक उपासना की जाती है तो अपरब्रह्म की प्राप्ति होती है । उसको परब्रह्म का वाचक मानकर के यदि उपासना की जाती है तो परब्रह्म की प्राप्ति होती है । पर और अपर दोनों ब्रह्म की प्राप्ति ओंकार और प्रतीक से हो जाती है, यह तात्पर्य है । अथवा उत्तम अधिकारी को ओंकार का ज्ञात्वा अर्थात् स्वरूपज्ञान करने से परब्रह्म से एकता की प्राप्ति एवं दूसरों को उसकी उपासना करके (ज्ञात्वा) उसकी प्राप्ति हो जाती है । भाष्य में जो प्रतीक पद है, उससे वाचक् की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये । तात्पर्य यह हुआ कि जैसा अधिकारी होता है, उसको वैसा ही फल मिल जाता है । जब परब्रह्म और अपरब्रह्म की भी उसके प्रसंग से प्राप्ति हो जाती है तब संसार की किसी भी अन्य कामना की प्राप्ति हो जाये इसमें तो कहना ही क्या, यह भाव है ।

वस्तुतः अति प्राचीन काल से ही ओंकार उपासना वेदों में बताई गई है । समग्र वेदों का परमात्मा ही एकमात्र पर्यवसान है, । उनके जितने भी

धार्मिक कृत्य हैं उन सबकी भी वही गति है। अतः उस परमात्मा का कोई विशिष्ट नाम या प्रतीक आवश्यक होने से वेदों ने अतिरहस्यमय इस ओम् पद का प्रतिपादन किया। माण्डूक्य उपनिषद् में अकार उकार मकार एवं अमात्रा के द्वारा इसका विस्तार से वर्णन किया है। यद्यपि डायसन जैसे विद्वानों का कहना है कि चूंकि ब्रह्म वाणी और मन के अतीत था अतः अर्थ रहित ओम् को ब्रह्म का नाम माना गया। परन्तु जिन्होंने थोड़ा भी निरुक्त की दृष्टि से विचार किया है वे जानते हैं कि यह शब्द अतिशय अधिक अनेक अर्थों वाला भले ही हो अर्थ रहित तो किसी भी हालत में नहीं है। इसे तैत्तिरीय संहिता के अनुसार प्रणव कहा जाता है एवं होता जिस समय में इसका उच्चारण करता है उस समय इसे लम्बा करके बोलता है। ब्राह्मणों में अध्वर्यु जब कभी होता ऋग्वेद के मंत्र को बोलता है तो उसके उत्तर में 'हां' के अर्थ में उच्चारण करता है। ऐतरेय ब्राह्मण में ओम् को स्पष्ट रूप से ही वेदों का और संसार का सार बताया है। इसे वहां पर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, व्याकृत, अव्याकृत सभी तत्वों का स्वरूप कहा है। अतः अनेक श्रुतियों के रहते हुए इसे अर्थहीन वाक्य मानना किसी भी प्रकार से संगत नहीं है। ओंकार उपासना परमहंस सम्प्रदाय का एवं वेदांत साधना का अभिन्न अंग है और व्यावहारिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि समग्र भारतीय साधन परम्पराओं में इस पद को स्वीकार किया गया है। बौद्ध भी 'ओं मणि पद्मे हुं' एवं जैन भी 'ओं नमः सिद्धानां अरिहन्तानां' इत्यादि पदों में ओंकार का प्रयोग मंत्र रूप में ही करते हैं। इदानीं काल में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अन्य सब प्रतीकों को हटाने पर भी ओम् की प्रतीकता को स्वीकार किया है। शैवों का तो यह सर्वस्व है क्योंकि ओंकार जलहरी युक्त शिवलिंग का ही चित्र मात्र है। गीता के १५वें अध्याय का १५वां श्लोक 'वेदैश्चसर्वैरहमेव वेद्यः' एवं आठवें अध्याय का ११वां श्लोक 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये' प्रायः इस मंत्र का ही अनुवाद है।

: १७ :

एतत् आलम्बनं श्रेष्ठं एतत् आलम्बनं परं ।
एतत् आलम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

एतत् = यह आलम्बनं = आलम्बन

श्रेष्ठं = श्रेष्ठ (है),
एतत् = यह
परं = सर्वोच्च
आलम्बनं = आलम्बन (है) ।
एतत् = इस
आलम्बनं = आलम्बन को
ज्ञात्वा = ध्या कर
ब्रह्मलोके = ब्रह्मलोक में
महीयते = महान् होता है ।

ओंकार ही ब्रह्म प्राप्ति के सहारों में सबसे प्रशस्यतम है एवं पर और अपर दोनों ब्रह्म को विषय करने के कारण यही सर्वोच्च आलम्बन है। परब्रह्म को प्राप्त करने पर वह ब्रह्मरूप होकर के ब्रह्म की तरह उपास्य हो जाता है; अर्थात् सांसारिक पदार्थों की कामना करने वाले भी उसकी उपासना करते हैं क्योंकि उसकी उपासना से सभी सांसारिक कामनायें पूर्ण हो जाती हैं; एवं ज्ञान की कामना से भी उसकी उपासना करते हैं क्योंकि उसके उपदेश एवं कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अपर ब्रह्म के उपासक ब्रह्मलोक में जाकर के महान् पद को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह पर और अपर दोनों ब्रह्म की प्राप्ति के साधनों में श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि गायत्री, पंचाक्षर इत्यादि भी अपर ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं परन्तु यही श्रेष्ठ है।

यदि पर शब्द का अर्थ मंत्र में ब्रह्म किया जाये तो भी यहां पर से उपलक्षणा करके पर और अपर दोनों ब्रह्म का ग्रहण कर लेना चाहिये। पर और अपर ब्रह्म वस्तुतः तो एक ही हैं, यह भाव है। ज्ञान की दृष्टि से ब्रह्म एव लोकः ब्रह्मलोक अर्थात् उसको सर्वत्र ब्रह्म का ही अनुभव होता है। उपासना की दृष्टि से तो ब्रह्मणो लोकः ऐसा तात्पर्य समझ लेना चाहिये।

: १८ :

निरवशेष आत्मा को आलम्बन और प्रतीक रूप से ओंकार बताया जिसे मन्द और मध्यम अधिकारियों का साधन कहा गया। अब उत्तम-अधिकारी के लिये ओंकार आलम्बन जिस आत्मा का है, उसके साक्षात् स्वरूप का निरूपण करेंगे :—

न जायते म्रियते वा विपश्चित् न अयं कुतश्चित् न बभूव कश्चित् ।
अजः नित्यः शाश्वतः अयं पुराणः न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

विपश्चित् = मेधावी
न = न

जायते = पैदा होता है	नित्यः = नित्य,
वा = और न	शाश्वतः = अक्षय,
म्रियते = मरता है ।	पुराणः = सनातन
अयं = यह	अयं = यह (आत्मा)
कुतश्चित् = किसी कारण से	शरीरे = शरीर के
कश्चित् = कुछ और	हन्यमाने = मारे जाने पर
न = नहीं	न = नहीं
बभूव = होता ।	हन्यते = मारा जाता ।
अजः = जन्म रहित,	

उत्पत्ति और नाश के निषेध से सभी छः भाव विकारों का निषेध समझ लेना चाहिये । अतः वह किसी भी प्रकार से विकारी नहीं बनता, यह तात्पर्य है। उसके चैतन्य का कभी भी लोप नहीं होता क्योंकि वह चैतन्य स्वभाव है । अतः उसे मेधावी कहा गया । विवेकी तो ऐसा भी समझते हैं कि आत्मा का ज्ञान करने वाला विपश्चित् अर्थात् मेधावी अपने आपको न जन्मनेवाला समझता है न मरने वाला क्योंकि वह अपने आपको नित्य संवित् स्वभाव वाला ही समझता है । यह आत्मा किसी दूसरे कारण से उत्पन्न नहीं होता और न अपने आपसे ही उत्पन्न होता है एवं यह कभी दूसरे पदार्थ के रूप में भी नहीं बदलता । इसीलिये यह अज और नित्य है । शाश्वत का मतलब है कि इसमें कभी किसी प्रकार की कमी नहीं आती । जो पहले भी नया ही होता है उसे पुराना कहते हैं । अतः आत्मा कभी भी पुराना नहीं होता वरन् सर्वथा नित्य ही बना रहता है । प्रायः करके पुराण शब्द का अर्थ पुराना अतः जीर्ण होता है परन्तु यहां भाष्य में स्वयं ही निरुक्ति की है 'पुरापि नव एव' । अतः जो कुछ लोग आत्मा की एक रूपता से उसे उकताने वाला (Bore) समझते हैं, वह भूल है । वस्तुतस्तु आत्मज्ञान भी कभी ऐसा नहीं होता एवं न उसकी प्रकृति में ही ऐसी श्मशानगत एकरूपता देखने में आती है । अथवा जो चीज अपने अवयवों को कम या बेशी करती है, वह ऐसा करने पर नई कही जाती है । आत्मा निरवयव होने से कभी भी वृद्धि या हानि वाला नहीं बनता । अवयव हीन होने के कारण ही उसको शस्त्र आदि से मारना असम्भव है । जिस प्रकार आकाश निरवयव है तो घट के अन्दर रहते

हुए भी घट के फोड़ने से फूटता नहीं। उसी प्रकार निरवयव होने के कारण आत्मा शरीर में रहने पर भी शरीर के कटने पर या विकृत होने पर न कटता है और न विकारी होता है।

पूर्व मंत्र में ओंकार के आलम्बन का उपदेश देकर साधनहीन साधन बताया गया क्योंकि जो जिसका साधन नहीं कर सकता उसके लिये उसका उपदेश निरर्थक होता है। अब ओंकार की उपासना जिसने कर ली है ऐसे साधक को ज्ञान का उपदेश संगत है।

यदि आत्मा को ब्रह्म से भिन्न माना जाये तो ब्रह्म में जन्म-मरण, उत्पत्ति, अनित्यता, अशाश्वतता आदि की प्राप्ति ही नहीं होगी और तब श्रुति अप्राप्त का निषेध करने के कारण निरर्थक तथा हेय हो जायेगी। अतः जन्म आदि के प्रतिषेध के द्वारा ब्रह्म का उपदेश देने वाली श्रुति ब्रह्म को आत्मस्वरूप ही बता रही है, यह विवेकियों को स्पष्ट है। नचिकेता का प्रश्न था कि मरने के बाद आत्मा रहता है या नहीं ? यहां यमराज कहते हैं कि शरीर के मरने और जन्मने से आत्मा में कोई विकार ही नहीं आता अतः मरने के बाद और मरने के पहले और जीवन काल में भी आत्मा का स्वरूप एक जैसा ही बना रहता है। इस प्रकार यमराज ने नचिकेता के प्रश्न का हृदय मानो खोलकर रख दिया। गीता के दूसरे अध्याय का २०वाँ श्लोक प्रायः इसका ही अनुवाद है।

: १९ :

नचिकेता ने जो मृत्यु का रहस्य पूछा था उसका जबाव देते हुए स्पष्ट रूप से मृत्यु कहते हैं कि आत्मा और मृत्यु का कभी सम्बन्ध ही नहीं होता। आत्मा जीव का वास्तविक सत्य है (सत्यस्यसत्यं)। जब आत्मा स्वयं अपने आपको जान लेता है और जो अनात्मा (नाम रूप) है उससे तादात्म्य करना छोड़ देता है तब स्वयं ही सब धर्मों का फल हो जाता है :—

हन्ता चेत् मन्यते हन्तुं हतः चेत् मन्यते हतं ।
उभौ तौ न विजानीतः न अयं हन्ति न हन्यते ।।

हन्ता = मारने वाला	हन्तुं = मारूंगा (ऐसा)
चेत् = यदि	मन्यते = समझता है,

हतः = मार खाने वाला	विजानीतः = समझते हैं।
चेत् = यदि	अयं = यह (आत्मा)
हतं = मार खाई (ऐसा)	न = न
मन्यते = समझता है (तो)	हन्ति = मारता है
तौ = वे	न = न
उभौ = दोनों	हन्यते = मारा जाता है।
न = नहीं	

शरीर मात्र को ही आत्मा मानने वाला शरीर को मारने पर अपने को मारने वाला समझता है और शरीर के मार खाने पर अपने को मार खाने वाला समझता है। परन्तु जो शरीर में रहने वाला निर्विकार आत्म-तत्व को समझ गया है वह तो शरीर के मारने पर या मार खाने पर भी वैसा ही निर्विकार बना रहता है एवं कभी भी यह नहीं समझता कि मैंने मारा या मार खाई। जो ऐसा मानते हैं, वे वस्तुतः अपनी आत्मा को जानते ही नहीं हैं। आत्मा सर्वथा विकारों से रहित है एवं आकाश की तरह निरवयव सर्वव्यापक है। प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा सर्वथा अविकारी है तो धर्म अधर्म का कोई अधिकारी न होने से संसार की ही उपलब्धि नहीं होनी चाहिये। अतः भाष्यकार इस सम्भावना का जवाब देते हुए कहते हैं **'अनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारः, न ब्रह्मज्ञस्य, श्रुतिप्रामाण्यात् न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः'**। अर्थात् धर्म और अधर्म जिसका स्वभाव है, ऐसा संसार अनात्मज्ञ का ही विषय है अर्थात् अज्ञान के कारण ही संसार की प्रतीति और संसार में अज्ञान के कारण ही व्यवस्था की दृष्टि से धर्म और अधर्म की कल्पनायें हैं। धर्म की कल्पना से पुण्य करके सुख की कल्पना, अधर्म की कल्पना से पाप की कल्पना होकरके दुःख की कल्पना, यह सारा संसार अज्ञान से ही प्रवृत्त होता है। जिसके अज्ञान से जो प्रवृत्ति होती है, वह उसके ज्ञान से निवृत्त हो जाती है। अतः ब्रह्मज्ञानी को धर्म और अधर्म तथा संसारकी दृष्टि नहीं बनती। **'यदज्ञानात् प्रवृत्तिस्यात् तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेत्'** इत्यादि वार्तिक इसमें प्रमाण है। लोक में भी देखा जाता है कि अंधेरे में मनुष्य खड्डे में गिरता है क्योंकि उसे खड्डे का ज्ञान नहीं है। प्रकाश आने पर फिर उस खड्डे में नहीं गिरता क्योंकि अज्ञान दूर हो गया। यह कहना कि प्रकाश में खड्डे में मनुष्य नहीं गिरता, इसलिये अंधेरे में भी नहीं गिर सकता, हास्यास्पद ही

हो सकता है। अतः जब तक अज्ञान रहेगा तब तक धर्म अधर्म भी रहेंगे। अज्ञान की निवृत्ति के बाद धर्म अधर्म स्वतः निवृत्त हो जायेंगे। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है एवं युक्ति भी प्रमाण है। यह भाष्य का हृदय है। कहा भी है कि 'विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता । अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा । संसार में से जिसने नामरूपात्मक अनात्मा से आत्मा को अलग कर लिया उसको करते हुए भी कर्तृत्व की प्रतीति नहीं होती क्योंकि वह हमेशा ही निर्लेपता को जानता है। इस विषय में श्री कृष्ण जनक दृष्टांत हैं। जो अपने शरीरमात्र की दृष्टि वाला है, वह आत्मा का अनुभव कैसे कर सकता है। गीता के दूसरे अध्याय का १९वां श्लोक प्रायः इस मंत्र का अनुवाद है।

: २० :

अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्मा अस्य जन्तोः निहितः गुहायां ॥
तं अक्रतुः पश्यति वीतशोकः धातुप्रसादात् महिमानं आत्मनः ॥

अस्य = इस	महीयान् = महत्तर (है),
जन्तोः = प्राणी के	तं = उस
गुहायाम् = गुहा में	आत्मनः = आत्मा की
निहितः = छिपा हुआ	महिमानं = महिमा को
आत्मा = आत्मा	अक्रतुः = चितारहित,
अणोः = अणु से	वीतशोकः = शोकरहित हुआ हुआ
अणीयान् = अणुतर,	धातुप्रसादात् = धातुओं की शान्ति से
महतः = महान से	पश्यति = देखता है।

आत्मज्ञान के प्रकार और साधनों का निरूपण करते हैं। आत्म दर्शन हमेशा ही प्राणी को अपनी हृदय गुफा में ही होता है। ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके पर्यन्त सभी प्राणियों के हृदय में ही आत्मा स्थित है। इससे जो आत्मा का दर्शन अपने से बाहर करने का प्रयत्न करता है उसको आत्मदर्शन कभी नहीं हो सकता, यह बताया। आधुनिक युग में साधारण लोग कोई बाह्य शब्द सुनते ही अथवा कोई तेज आदि बाह्य पदार्थों का दर्शन करते ही उसी को आत्मदर्शन समझ लेते हैं। परन्तु श्रुतियों में बार

बार यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा का दर्शन इस प्रकार कभी सम्भव नहीं। वह आत्म तत्व अणु से भी अणुतर है और महान से भी महत्तर है। यह यद्यपि बाह्य दृष्टि से विरोधी लगता है परन्तु वस्तुतः उसमें कोई विरोध नहीं है। आत्मा को महान किसी परिमाण को लेकर नहीं कहा जाता। परमेश्वर की महत्ता का मतलब है कि वह अपनी सत्ता सब पदार्थों को देता है एवं किसी भी परिमाण के पदार्थ को वह व्याप्त करके रहता है एवं सबको व्याप्त करके तथा सत्ता देने के बाद भी वह और ज्यादा व्यापक एवं ज्यादा सत्ता देने वाला बना रहता है, अतः बिना किसी परिमाण और बिना किसी संख्या के उसकी महत्ता अनंत है। यहां महीयान् अर्थात् महत्तर शब्द का प्रयोग करके यह बताया जा रहा है कि जितने भी बड़े परिमाण अथवा संख्या की तुम कल्पना कर सकते हो उससे वह फिर भी बड़ा ही रह जाता है। महत्तम कहने से एक अंतिक सीमा की प्रतीति होती है जो श्रुति का तात्पर्य नहीं है। भाव यह है कि हम अपनी कल्पना से जितने महान की कल्पना करेंगे वह उससे और आगे है। इस प्रकार हमारे महान की कल्पना को लेकर उसमें महत्तर का आरोप है, स्वरूप से नहीं। इसी प्रकार अणीयान् का भाव भी समझना चाहिये अर्थात् जितने छोटे की हम कल्पना कर सकते हैं उस कल्पना की अपेक्षा से वह फिर भी सूक्ष्म ही बना रहता है। स्वतः अपने परिमाण को लेकर उसे सूक्ष्मतम नहीं कह सकते। अणु छोटा होता है। परमेश्वर की प्रकृति में अणु शब्द का अर्थ यह होता है कि वह सब प्रकार की स्थूलताओं (Solidity) से बाहर है एवं सभी प्रकार की दूरियों से भी बाहर है अर्थात् वह किसी से दूर नहीं है। सभी पदार्थों के अन्दर वह बिना किसी रुकावट के या विकीर्णता (Displacement) के प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये उसकी अणुता में भी न परिमाण है और न गुण है वरन् उसको दिखाया ही नहीं जा सकता, ऐसा असीम अनंत है। इतना ही नहीं वह सब चीजों को जानता है। फिर भी स्वतः अज्ञात् ही बना रहता है। इसलिये भी उसको अणु कहा जाता है। प्रायशः लोगों के परिमाण की दृष्टि से ही सोचने के आदी होने से ऐसा प्रयोग हो जाता है। यद्यपि ये दोनों विरुद्ध विशेषण लगते हैं। लेकिन सोचने पर पता लगता है कि कारण हमेशा सूक्ष्म परन्तु व्यापक हुआ करता है। सूक्ष्मता को बताने वाला अणु शब्द है और व्यापकता को बताने वाला महत्

शब्द है। वस्तुतः दोनों विशेषणों को मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में जो भी अणु या महत् है, आत्मा अपने नित्य रूप से तद्रूप ही है। आत्मा का अर्थ स्वयं स्वरूप अर्थात् खुद हुआ करता है। अतः तात्पर्य यह है कि पदार्थ अपने स्वयंपने, स्वरूपता या खुदपने से रहित होने पर असत् ही हो जायेगा। चूंकि अपने स्वयंपने से ही किसी भी पदार्थ की सत्ता सिद्ध होती है, अतः स्वयं अर्थात् आत्मा ही उस रूप से प्रतीत हो रहा है, यह भाव है। यहां सर्वज्ञ शंकर स्पष्ट करते हैं कि यह आत्मा ही सारे नामरूप, वस्तु उपाधियों वाला है। यद्यपि यह सारे नामरूप वस्तु उपाधियों वाला है फिर भी हृदय में इसकी उपलब्धि होती है, यह भाव है। दार्शनिक भाषा में कहा जाये तो कह सकते हैं कि अणुत्व, महत्व आदि अध्यासों से अधिष्ठान रूप से ही आत्मा का ज्ञान होता है एवं उनका अधिष्ठान होकर के ही उसको अणु महत् इत्यादि कहा जाता है स्वरूप से नहीं। उस आत्म दर्शन का साधन सर्वप्रथम अक्रतु बताया। क्रतु अर्थात् संकल्प या कामना। दृष्ट अदृष्ट समस्त बाह्य विषयों से जिसकी बुद्धि उपरत हो गई है, वही अक्रतु कहा जाता है। बाह्य दृष्टि से हटनें पर ही प्रत्यगात्मा की स्थिति रूप परमात्मा का दर्शन बनता है, यह भाव है। शंका हो सकती है कि कामनाओं की रहितता तो गहरी नींद में भी होती है परन्तु वहां तो आत्मदर्शन नहीं हो पाता। अतः भगवान भाष्यकार **'दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिंग मात्मानम्'** कहकर के बताते हैं कि जब कभी किसी भी चीज का दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान आदि होता है तब उन्ही चिह्नों के द्वारा आत्मा को समझा जाता है। जैसे बिजली को लट्टू, पंखे इत्यादि के चलने से ही समझा जाता है। चूंकि गहरी नींद में ये सब क्रियायें नहीं होतीं, अतः उसको समझा भी नहीं जा सकता। गोपालेन्द्र तो भाष्यपंक्ति का दर्शन के उद्देश्य से विहित श्रवण मनन और विज्ञान अर्थात् निदिध्यासन ही जिसका लिंग अर्थात् साधन है, ऐसा अर्थ करते हैं। वस्तुतः आत्मा एक तरफ ज्ञान का आधार है। अर्थात् जहां जहां ज्ञान होता है वहां वहां ज्ञान रूप से उसकी स्थिति है। अणुत्व का ज्ञान होने से वह अणु रूप है। महत्त्व का ज्ञान होने से वह महत् रूप है। इसी प्रकार दर्शन, श्रवण इत्यादि का ज्ञान होने से वह उन जगहों में भी स्थित है, यह भाव है। अन्यथा कहीं आत्मा को वामन कहा गया है, कहीं अंगुष्ठ परिमाण कहा गया है एवं कहीं विराट् देह वाला कहा गया है

परन्तु यह सब ध्यान के लिये उपयोगी होने पर भी वस्तुतः इनका जो ज्ञान है, वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। कुछ अविचारशील लोग तो वामन या अंगुष्ठ परिमाण आदि को पिछड़ी हुई बातों के रूप से स्वीकार करते हैं, (Old animistic) परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि वैदिक साहित्य में तो प्राचीन दृष्टि से भी विराट् का वर्णन मिलता है। और तथाकथित अर्वाचीन साहित्य में भी अंगुष्ठ परिमाण और वामन आदि शब्द मिलते हैं। अतः इसमें किसी भी प्रकार की दार्शनिक, ऐतिहासिक प्रवृद्धि देखना असंगत ही है। ज्ञान की दृष्टि से देखने पर तो यही मान सकते हैं कि जब कभी ज्ञानेन्द्रियों से अथवा अंतःकरण से वृत्ति बनती है तब उसमें सदा ज्ञान दृष्टि से स्थिर होने का प्रयत्न ही कर्तव्य है।

अक्रतु का अर्थ किसी प्रकार के प्रयास या तनाव से रहित भी होता है। जब मनुष्य बाह्य किसी पदार्थ की इच्छा से रहित हो जाता है तो फिर उसमें एक प्रकार का स्थैर्य (Unstriving) आ जाता है। इच्छा ही आत्मा को विक्षिप्त करती है एवं इसकी दृष्टि ही स्वरूप से च्युत करती है। इस प्रकार यह मंत्र इस चीज पर जोर देता है कि जब तक मन में किसी भी प्रकार का संघर्ष, चिंता आदि रहती है तब तक इच्छा शक्ति शान्त नहीं होती और बिना इच्छा के शान्त हुए आत्मज्ञान नहीं हो सकता। जितनी-जितनी मनुष्य को श्रद्धा उत्पन्न होती है, उतनी ही उतनी उसको स्थिर शान्ति की प्राप्ति होती है, और जब इस प्रकार की स्थिति बनती है तभी शिव दर्शन सम्भव होता है। यदि मनुष्य आत्मज्ञान के लिये भी आतुर होकर के आयास करना चाहता है तो वह भी एक तरह से आत्मज्ञान के लिये रुकावट बन जाता है। जीवन में सहज भाव बिना आये हुए परमात्म दर्शन असम्भव है। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं कि **'कामिभिः दुर्विज्ञेयः अयमात्मा'** कामियों द्वारा आत्म दर्शन असम्भव है। यद्यपि मुमुक्षा में मोक्ष की इच्छा है, परन्तु इस इच्छा में एक स्वाभाविक सरलता होनी चाहिये, तनाव पैदा करने वाली स्थिति नहीं। जब तक हम मोक्ष को अपने से भिन्न कोई दूसरी चीज समझते हैं, तब तक यह तनाव दूर नहीं होता। परन्तु जब हम जानते हैं कि हमारा अपना स्वरूप ही मोक्ष है और केवल अपनी कल्पनाओं और तनावों के द्वारा हमने अपने ऊपर बंधन का आरोप कर लिया है तब एक स्वाभाविक सरलता आती है एवं मन तथा इन्द्रियां शांत अर्थात् प्रसन्न हो जाती हैं जिनको यहां धातुप्रसाद

से कहा गया। जब जब मन और इन्द्रियां शान्त और चेतना जाग्रत रहती हैं तब तब आत्म-दर्शन की स्थिति बनती है। वीतशोक: के द्वारका किसी भी प्रकार की विगत बातों का स्मरण संकेतित है। जिस प्रकार अक्रतु: भविष्य से चिंता रहित बनाने को कह रहा है उसी प्रकार वीतशोक: भूत से मुक्त होने को कह रहा हैं। क्रतु का अर्थ संकल्प होता ही है। यद्यपि कहीं कहीं पाठभेद में श्वेताश्वतर के अनुरोध से धातु: प्रसादात् पाठ भी मान लिया है, जिसका अर्थ होगा जगत के विधाता परमेश्वर के प्रसाद अर्थात् अनुग्रह से आत्मदर्शन होता है। परन्तु प्रसंग के अनुसार यहां यह इष्ट नहीं लगता। अत: मन आदि इन्द्रियों को ही शरीर को धारण करने वाले होने से यहां धातु पद से कहा गया है। यही अर्थ संगत है। आत्मा की महिमा तो यही है जो पूर्व श्लोक में कही गई है कि वह न कभी कर्त्ता बनता है और न कर्म बनता है। अत: कर्म निमित्त वृत्ति क्षय से रहित ही रहता है।

पश्यति का अर्थ यहां यह आत्मा मैं हूं इस प्रकार का साक्षात्कार लेना चाहिये। यदि पश्यति के बाद वीतशोक: पठित होने के कारण उसे फल में गिना जाये तो अर्थ होगा कि साक्षात्कार के फलस्वरूप शोकरहित हो जाता है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि देहली दीपक न्याय से इसका अन्वय दोनों तरफ कर लेना चाहिये।

धातु का अर्थ शरीरगत सप्तधातु का ग्रहण भी हो सकता है। जब तक अधिक भूख, अथवा अधिक भोजन, अधिक जागना, अथवा अधिक सोना, अधिक बैठना अथवा अधिक चलना आदि असम्यक क्रियाओं के द्वारा शरीर में धातु-विपर्यय होता रहता है तब तक आत्मज्ञान सम्भव नहीं। अनुभव में भी आता है कि जब शरीर बीमार नहीं होता तब तो स्वाभाविक रूप से मनुष्य में देह की वृत्ति नहीं उठती, परन्तु शरीर में किसी भी प्रकार का रोग आ जाने पर देहाकार वृत्ति प्रबल हो जाती है। यदि ध्यान करने बैठे और पैर में या सिर में दर्द हो तो कभी भी वृत्ति स्थिर नहीं हो पाती और न गहरे जा पाती है। अत: उसका भी यहां संग्रह करना ठीक ही है। धातु प्रसाद के इस अर्थ का हठयोगपरक तात्पर्य नहीं लेना चाहिये क्योंकि वे तो स्वयं देह में अधिकाधिक अध्यास करवाते जाते हैं। एक सहज सरल स्वाभाविक, तनाव विक्षेप आदि से रहित जीवन ही आत्मज्ञान का मुख्य साधन है।

: २१ :

अनेक रूपों वाली मणि जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार की, भिन्न-भिन्न कोनों से मान होती है एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की उपाधियों की सन्निधि में उसके रंग आदि भी बदल जाते हैं परन्तु वह नाना रूप नहीं होती, अथवा चिंतामणि के पास जिस-जिस चीज का विचार आता है, उस-उस चिंतित पदार्थ की उपाधि से युक्त होके ही वह प्रतीत होती है लेकिन यह उसकी वास्तविकता नहीं है। इसी प्रकार स्थिति, गति, नित्य, अनित्य आदि अनेक विरुद्ध धर्मों की प्रतीति आत्मा में उपाधि के कारण होती हैं परन्तु वह वस्तुतः विरुद्ध धर्म वाला नहीं है। इस कारण ही वह दुर्विज्ञेय भी हो जाता है परन्तु विचारशील पण्डितों के द्वारा सुविज्ञेय भी हो जाता है। जो उपाधि से उसको अतिरिक्त करके नहीं देख सकता उसके लिये दुर्विज्ञेय और जो उपाधियों में अनुस्यूत उसको देखता है, उसके लिये सुविज्ञेय। प्रायशः मनुष्य परमात्मा को सब नाम रूपों से भिन्न एक अलग नाम रूप वाला अथवा पदार्थान्तर रूप से देखना चाहता है और ऐसा न दीखने पर वह नहीं दीखा, ऐसा मानता है। तात्पर्य यही है कि प्राकृतिक पुरुष अब तक के अनुभवों के अनुसार परमात्मा को पदार्थ विशेष मानता है। जैसे सोने के भिन्न-भिन्न आकारों को छोड़कर कोई कहे कि मुझे शुद्ध सोना दिखाओ तो बिना आकार के सोना दिखाना असम्भव होता है। परन्तु भिन्न-भिन्न आकारों को देखकर उसमें अनुस्यूत सोने का ज्ञान सुलभ होता है। वैसे ही यहां है। अतः मृत्यु उस रूप से ही उसका उपदेश करते हैं :—

आसीनः दूरं व्रजति शयानः याति सर्वतः ।
कः तं मदामदं देवं मत् अन्यः ज्ञातुं अर्हति ॥

आसीनः=बैठा हुआ	मदामदं=प्रसन्न और अप्रसन्न
दूरं=दूर	देवं=महादेव को,
व्रजति=जाता है;	मत्=मेरे से
शयानः=सोया हुआ	अन्यः=भिन्न
सर्वतः=सब जगह	कः=कौन
याति=जाता है।	ज्ञातुं=जान
तं=उस	अर्हति=सकता है।

प्रायश: जो बैठा हुआ है, वह चलता नहीं है, जो सोया हुआ है, वह कहीं जाता नहीं है परन्तु ऐसे विरुद्ध धर्म आत्मा में प्रतिपादित करके उसकी सर्वरूपता को बताना इष्ट है। मद का अर्थ समद अर्थात् हर्ष के साथ है अतः अमद अर्थात् बिना हर्ष के। इन विशेषणों से मानसिक वृत्तियों की विरुद्ध—धर्मता बता दी।

मत् अन्य: का अर्थ यहां मेरी तरह सूक्ष्म बुद्धि वाले पण्डित से भिन्न है। परमेश्वर विश्वरूप है, अतः इसको समझने के लिये सूक्ष्म बुद्धि चाहिये, यह भाव है। रुद्री के नमकाध्याय तथा गीता के ११वें अध्याय में विश्वरूप का वर्णन इसी दृष्टि से किया गया है। इसे कोई अजीबोगरीब दर्शन नहीं समझना चाहिये। इन्द्रियों के उपशम को ही शयन कहते हैं। ऐसी स्थिति में केवल सामान्य विज्ञान मात्र रह जाता है। उस केवल सामान्य विज्ञान की सर्वव्यापकता को यहां 'जाना' बताया। जब विशेष विज्ञान में स्थिति होती है तो अपने रूप से स्थित हुआ ही मन आदि की गतियों से उनकी उपाधि वाला हुआ दूर जाता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वह यहीं विद्यमान रहता है, यह तात्पर्य है। मैं मनुष्य हूं, मैं नीले रंग को देखता हूं इत्यादि परिच्छिन्न विज्ञान विशेष विज्ञान कहे जाते हैं। जाग्रत व स्वप्न में मन आदि के व्यापार का साक्षी हुआ कूटस्थ बना रहता है, यही उसका बैठे हुए रहना है। मन आदि व्यापारों के द्वारा विषय देश में प्रतिबिम्ब रूप से जाता है, यही उसका जाना है।

कः से सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा अन्वय व्यतिरेक कुशलता की अत्यंत कमी को ध्वनित किया गया। "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' इत्यादि के द्वारा गीता में भी यही कहा गया है। ईशावास्य उपनिषद् के चतुर्थ व पंचम मंत्रों में भी इसी विचार को प्रकट किया गया है। इस प्रकार के विरुद्ध गुणों को बताने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म को परिच्छिन्नता (Empirical Determination) द्वारा नहीं समझा जा सकता। ब्रह्म एक साथ ही स्थिर, शान्त भाव वाला एवं सक्रिय, सशक्त भाव वाला है। समझने के लिये एक को शिव और एक को शक्ति कह दिया जाता है। कहीं-कहीं एक को ब्रह्म और दूसरे को ईश्वर कहा गया है। परन्तु यह सत्य है कि शक्ति या ईश्वर, शिव या परब्रह्म का ही सक्रिय व्यक्तीभवन है। हम चूंकि उसकी इस वास्तविकता को नहीं समझते, अतः

हम अज्ञान में हैं। यहां मदामदं कहकर के यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि अंतःकरण के सत्वगुण की वृत्ति में हर्ष होने पर और रजोगुण तमोगुण की वृत्ति में अहर्ष होने पर आत्मा की आनंदरूपता में कोई फरक नहीं आता। जब तक हर्ष के प्रति कामना बनी हुई है, तब तक हम प्राकृत कामी हैं और सर्वज्ञ शंकर की दृष्टि में इसके रहते आत्मज्ञान असम्भव है।

: २२ :

इस ज्ञान का फल बताते हैं :—

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेषु अवस्थितं।
महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा धीरः न शोचति ॥

शरीरेषु=शरीरों में	विभुं=व्यापक
अशरीरं=शरीर रहित,	आत्मानं=आत्मा को
अनवस्थेषु=चंचलों में	मत्वा=समझकर
अवस्थितं=अचंचल,	धीरः=बुद्धिमान
महान्तं=महान,	न शोचति = शोक नहीं करता।

आत्म ज्ञान से शोक के पार चला जाता है अर्थात् आत्मवेत्ता को कभी भी शोक नहीं होता। स्वतः अपने रूप से वह अशरीर ही है। वह आकाश की तरह सब पदार्थों में रहते हुए भी उनसे असंग ही बना रहता है। शरीर में अभिमान वाला तो जीव है, आत्मा नहीं, यह भाव है। देव, पितृ, मनुष्य आदि शरीर सारे के सारे अनवस्थित हैं अर्थात् कब नष्ट हो जायें, इसका कोई ठिकाना नहीं। लेकिन उन सबमें वह नित्य और अविकारी बना हुआ विद्यमान रहता है। अनवस्थेषु शरीरेषु ऐसा भी अन्वय किया जा सकता है। शरीरों में अवस्थित कहने से घट, पट आदि में वह नहीं है, ऐसी सम्भावना न हो जाये, इसलिये हमने उपर्युक्त अन्वय किया है।

शरीरों में कहने से इसमें परिच्छिन्नता की प्रतीति न हो जाये, इसलिये विभुं कह दिया। उसकी व्यापकता अथवा अशरीरता किसी क्रिया से साध्य

नहीं, वरन् स्वाभाविक है। यह आत्मा शब्द से बताया। आत्मानं अर्थात् स्वरूपं। अथवा आत्मा अर्थात् अपने से अभिन्न प्रत्यग् की ब्रह्म से एकता का प्रतिपादन करने के लिये है। आत्म शब्द से प्रत्यगात्म विषय ही मुख्य रूप से लिया जाता है, यह प्रसिद्ध ही है। अतः इस प्रकार अपने प्रत्यगात्मा को चुनकर मैं ही वह अशरीर विभु तत्व हूं, मनुष्य धीर अर्थात् बुद्धिमान बन जाता है। इस बुद्धिमत्ता का ही फल है कि शरीर आदियों के विकार के द्वारा उसमें कभी भी शोक की सम्भावना नहीं होती। अस्थिर चीजों को जाते देखकर जो एक प्रकार का शोक होता है, वह उन पदार्थों के अन्दर विद्यमान स्थिररूपता को देखने वाले को कभी नहीं हो सकता। धीर पुरुष जानता है कि यद्यपि व्यवहार काल में कार्य करण संघातों में वह परिवर्तन वाला दीखता है परन्तु वह सचमुच तो इन सब भावों से सर्वथा रहित है।

: २३ :

न अयं आत्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यं एव एषः वृणुते तेन लभ्यः तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

अयं=यह	एव=ही
आत्मा=आत्मा	एषः=यह (साधक)
न=न	वृणुते=चुनता है
प्रवचनेन=वेदाध्ययन से,	तेन=उस (चुनने) के द्वारा
न=न	एषः=यह
मेधया=मेधा से,	आत्मा=आत्मा
न=न	लभ्यः=पाया जाता है।
बहुना=बहुत बार	तस्य=उसका (आत्मा)
श्रुतेन=सुनने से	स्वाम्=अपने
लभ्यः=मिलता है।	तनूं=शरीर को
यं=जिस (आत्मा) को	विवृणुते=खोल देता है।

यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है परन्तु ठीक उपाय के द्वारा सुविज्ञेय भी है। परन्तु जिन उपायों को सामान्यत: ज्ञान के प्रति काम में लाया जाता है, वे यहां कारगर नहीं होते। अतः उनका निषेध किया गया। प्रायः करके वेद के द्वारा धर्म का ज्ञान होने से अनेक वेदों का अध्ययन करके हम

आत्मा को जान लेंगे, ऐसी दृष्टि बन सकती है । परन्तु ये कल्पनायें यहां नहीं चल सकतीं क्योंकि अत्यधिक अध्ययन यहां इष्ट नहीं है । प्रवचन का अर्थ व्याख्यान भी किया जा सकता है । तब तात्पर्य होगा कि वेदों के अनेक प्रकार के अर्थ करने मात्र से भी आत्मज्ञान सम्भव नहीं । मेधा का अर्थ ग्रन्थ के अर्थ को ठीक-ठीक प्रकार से समझ लेने की शक्ति, अथवा अपनी ही नई-नई युक्तियों को सोचने की प्रज्ञा शक्ति है । ये दोनों ही साधन आत्मज्ञान में काम नहीं देते । तात्पर्य हुआ कि न परम्परा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके इसे जाना जा सकता है और न स्वत: अपनी बौद्धिक शक्ति से। ज्ञान के ये दो साधन प्रसिद्ध हैं। तीसरा साधन हो सकता है कि वर्तमान काल के अनुभव करने वाले लोगों से भिन्न-भिन्न प्रकार से उसका श्रवण किया जाये। परन्तु श्रुति कहती है कि यह भी उसका उपाय नहीं है। रहस्य यह है कि परमात्मा बिना सहायता के केवल अपनी बुद्धि या प्रज्ञा से नहीं जाना जा सकता । जब तक वह स्वयं अपने आपको प्रकट नहीं करते ज्ञान संभव नहीं है जब अपने आपको किसी के सामने प्रकट कर देते हैं, तब उसका ज्ञान सरल हो जाता है । जो तो परमात्मा को सगुण रूप (Personal God) का ही समझते हैं, वे यहां ईश्वर कृपा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। ठीक इसी प्रकार का मंत्र मुण्डक उपनिषद् में आया है और वहां सर्वज्ञ शंकर ने भी इस अर्थ को स्वीकार किया है। परन्तु यहां प्रकरण का भेद है। अत: यहां निर्गुण ब्रह्म की आत्मा से अभिन्नता मानकर के ही आचार्य शंकर ने 'यं' का अर्थ स्वात्मानं किया है । तात्पर्य है कि जो केवल अपनी आत्मा का ही वरण कर लेता है, उसको आत्मा की प्रकृति का ज्ञान हो जाता है। जब हम अपने आपको सर्वथा ज्ञान, इच्छा, क्रिया, ज्ञाता, कर्त्ता, इच्छुक आदि भावों से रहित बनाकर किसी भी प्रकार की कल्पनाओं और विचारों से रहित कर लेते हैं तब एक ज्ञानमय संवित् प्रकाश प्रतिभात हो जाता है और वह मानो हमारी आत्मा को अपनी तरफ खींच ले जाता है। ध्यान की गम्भीरता, संयम, प्रार्थना, शास्त्र चिंतन एवं आत्मनिरीक्षण से आती है । यद्यपि ज्ञानी साधक जानता है कि जो यह संवित् हमें अपनी तरफ खींचती है, वह वस्तुतः हम खुद ही हैं। परन्तु फिर भी खिचाव की प्रतीति तो होती ही है । जैसे-जैसे ध्यान की गम्भीरता बढ़ती है, वैसे-वैसे उस परम शिव का अधिक-अधिक आभास होने लगता है जिसके लिये

आत्मा न कोई तैयारी कर सकता है और न उसमें तैयार होने की सामर्थ्य ही है। और न वह इस साक्षात्कार को जबरन लाने में समर्थ ही है। तब ऐसा लगता है कि वह हमारा शुद्ध रूप परासंवित् ही सक्रिय होकर के मानो अपनी विशेष कृपा से अपना बना रही है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से तो लगता है कि सभी कुछ परमेश्वर से ही आया है। जिन कार्य करण-संघातों का हम प्रयोग करते हैं, जिन संस्कारों के द्वारा हम आकृष्ट होते हैं, वे सब भी तो परमेश्वर के ही दिये हुए हैं। अतः विवेकी की दृष्टि में प्रार्थना, ध्यान, सत्कर्म, सद् विचार, सच्छास्त्र में श्रद्धा, सद्गुरु से सम्बन्ध सभी कुछ शिव कृपा के द्वारा ही सम्भव होता है। जो जीव जितना ऊर्ध्व गमन करता है, वह उतना ही उसकी कृपा को प्राप्त कर सका है। चूंकि उच्चतम शिखर पर पहुंचने वाले अति न्यून होते हैं अतः वे मानो शिव के साक्षात् भेजे हुए गण ही हैं। यद्यपि वेदांत की दृष्टि से हमारे अन्दर ही वह शिव विद्यमान है, यह सत्य है एवं अन्दर रहने वाला शिव ही हमको अपनी तरफ खींच रहा है, परन्तु जो आत्मा में स्थित शिवरूपता को अपनी चेतना में ला पाया वह भी इसीलिये कि अंदर बैठे शिव ने उसे शुद्ध करके इस लायक बनाया। वह तभी अन्दर की दृष्टि करने वाला बना। बिना किसी की मदद पाये हुए केवल प्राकृत जीवात्मा प्रकृति के गुणों से बद्ध हुआ कैसे प्रकृति रहित चीज को प्राप्त कर सके। अथवा उसके लिये इच्छा भी कर सके। शिव कृपा की चेतना स्वतः ही एक आध्यात्मिक अनुभव है। यदि मनुष्य के हृदय में यह भावना आ जाती है तो फिर शिव ज्ञान समीप ही है। मानवीय प्रकृति अपने आप को इतना कमज़ोर अनुभव करती है कि वह अपनी मदद अपने आप करने में भी अपने आपको असमर्थ पाती है। परन्तु इस असमर्थता का ज्ञान भी तो प्रकृति नहीं होने देती। श्री कृष्ण के शब्दों में 'मैंने आज यह पाया, कल वह पाऊंगा' इत्यादि भावनाओं से ग्रस्त हुआ प्राणी अपनी असमर्थता को भी नहीं जानता। अतः अपनी असमर्थता का ज्ञान स्वतः ही शिवकृपा का रूप है। यदि जीव को अपने आप से मुक्त होना है एवं अपनी वास्तविकता को जो कि पूर्णता है, पहुंचना है तो फिर किसी न किसी साधक शक्ति की अन्दर आवश्यकता है ही। वेदांतों का यह उद्घोष है कि जीव वस्तुतः अपनी शिवरूपता प्राप्त करने के लिये ही बनाया गया है। शुरू में चूंकि जीव को

अभ्यास है किसी भी शक्ति को बाहर से आने वाली देखने का, अतः यहां भी वह समझता है कि कहीं बाहर से यह शक्ति उसमें प्रविष्ट हो रही है। परन्तु जब आगे बढ़ जाता है, तब पाता है कि उसी की जीवरूपता में शुद्ध आत्मा साक्षी भाव से नित्य स्थित रहा है एवं चूंकि वह अपने आपको अंतःकरण की वृत्ति से एक करके देखता रहा है, इसलिय उसको लगता रहा है कि वह शक्ति बाहर से आ रही है, परन्तु वस्तुतः तो वह अहं के साक्षी रूप से अहं को प्रकाश देते हुए सदा ही उसके अन्दर विद्यमान रही है। प्रकृति को जीवात्मा के साथ एक समझना चाहिये परन्तु यह भी समझना चाहिये कि जीव की पूर्णता में शिव की सक्रियता भी सम्मिलित है। जब तक यह शिव हमें ज्ञान न दे, तब तक मोक्ष असम्भव है। शिव ही हमारे में कार्य करके शिवेच्छा को उत्पन्न करता है और फिर शिव के अनुकूल कर्मों में प्रवृत्ति कराता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल कुछ सिद्धान्तों को रट लेने से अथवा परोक्ष ज्ञान से कार्य नहीं चलता वरन् शिव निष्ठा, शिव कृपा, शिव इच्छा एवं प्रार्थना की पुकार के द्वारा उसकी प्राप्ति सम्भव होती है। जब हमारा सब कुछ जलने लगता है तथा वह परमेश्वर कितना ही धुंधला प्रतीत क्यों न होता हो और अन्य चीज कितनी ही स्पष्ट प्रतीत क्यों न होती हो, फिर भी जब तक पूर्ण जोर के साथ उस परमेश्वर की ही तरफ नहीं जाते, तब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो पाती। यह जो चुनाव है, इसी को यहां पर कहा गया है। यह चुनाव किस प्रकार जीव में प्रकट होता है, इसे आगे विस्तार से बताया जायेगा। परन्तु यहां तो यही कहा जा रहा है कि प्रवचन, मेधा, बहुश्रुतता इत्यादि का त्याग करके जब यह साधक केवल अपनी आत्मा की ही प्रार्थना करता है तब वरण करने वाले आत्मा के द्वारा स्वयं अपना ही आत्मा जाना जाता है। रहस्य बताते हुए आचार्य शंकर कहते हैं 'निष्कामस्य आत्मानं एव प्रार्थयतः आत्मनैव आत्मा लभ्यते' निष्काम भाव से आत्मा की ही प्रार्थना करने वाले को आत्मा के द्वारा ही आत्मा का ज्ञान होता है क्योंकि ऐसे आत्मकाम को वह आत्मा अपने आपको उघाड़कर अपनी वास्तविक पारमार्थिक यथार्थता को प्रकट कर देता है। आचार्य आनन्द गिरि के मत में तो यहां पर परमेश्वर का अर्थ आचार्य कर लिया गया है अर्थात् परमेश्वर रूप आचार्य के अनुग्रह से ही आत्मा की प्राप्ति होती है। अतः उनकी दृष्टि में जब व्यक्ति केवल आत्मा

का ही वरण करता है तब गुरु उससे एक होकर के उसे आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान करा देते हैं । अथवा अपनी आत्मा का ही जब साधक श्रवण मनन आदि के द्वारा वृणुते अर्थात् समझते भजन करता है, अर्थात् श्रवण आदि काल में भी 'मैं वही हूं' इस प्रकार अभेद रूप से अनुसंधान करता है, तब इस प्रकार के अभेद अनुसंधान करने वाले को जैसा उसने अनुसंधान किया है, तद्रूप ही परमात्मा आत्मरूप से मिल जाता है।

आत्मा का यहां प्रकरण चल रहा है एवं परमात्मा अन्तर्यामी रूप से या आचार्य रूप से स्थित है। अत: इस अन्तर्यामी या आचार्य रूप की ही (यमेव) जो मुमुक्षु वृणुते अर्थात् सेवा करता है, उसे परमेश्वर द्वारा अनुग्रह प्राप्त होता है। अभेद अनुसंधान करने वाले के ऊपर अनुग्रह होकर के उसे इसकी प्राप्ति होती है, यह भाव है। अतः तात्पर्य हुआ कि यह उसकी प्राप्ति का उपाय है, पांडित्य इत्यादि नहीं।

कुछ लोग तो बहुना के द्वारा आत्म प्रतिपादक उपनिषद् विचार से अतिरिक्त शास्त्रों के द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा भाव लेते हैं। कुछ अन्य लोग श्रुतेन का अर्थ करते हैं गुरु के उपदेश से रहित होकर के श्रवण करने से। अर्थात् श्रवण दो प्रकार का होता है, एक सामान्य रूप से जो शिक्षा दी जाती है और दूसरा, इस शिष्य को मैं ग्रहण करता हूं, इस दृष्टि से जो शिक्षा अर्थात् दीक्षा दी जाती है। दीक्षा के भाव से रहित दिया हुआ उपदेश आत्म ज्ञान को कराने में असमर्थ है। अधिकारी को परम तत्व की प्राप्ति अनुग्रह से ही होती है. यह अंतिम तात्पर्य है। चाहे उस परमात्मा को अपने अन्दर अनुभव किया जाये, चाहे बाहर जीव अपने अहं भाव को स्वयं काट सके, यह सम्भव नहीं।

: २४ :

इस प्रकार का वरण किन साधनों से होता है इसे बताते हैं:—

न अविरतः दुश्चरितात् न अशान्तः न असमाहितः ।
न अशांतमानसः वा अपि प्रज्ञानेन एनं आप्नुयात् ॥

न = न	न = न
दुश्चरितात् = दुश्चरित्रों से,	अशांतः = अशान्ति से

न = न	अविरतः = अविरत
असमाहितः = असमाहितता से	एनं = इस (आत्मा) को
वा = तथा	प्रज्ञानेन = प्रज्ञा के द्वारा
न = न	अपि = भी
अशांतमानसः = अशांत मन से	आप्नुयात् = प्राप्त कर सकता है ।

यद्यपि आत्मरूप ईश्वर अथवा गुरु की कृपा ही आत्मज्ञान में कारण है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक को कुछ कर्त्तव्य नहीं है। जब तक साधक स्वयं अपने आपको पात्र नहीं बनाता तब तक कृपा उस पर उतर नहीं पाती। अतः पूर्व मंत्र किसी नियतिवाद का प्रतिपादन करने के लिये नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि अनेक साधक ऐसा अनुभव करते हैं कि आत्मा का ज्ञान की तरफ प्रथम मुड़ना भी वस्तुतः कृपा का ही फल है तथापि साधक क्या करे इसको इस मंत्र में बताया गया। श्रुति इसको कहने का ढंग बड़ा विचित्र अपनाती है कि यदि मनुष्य प्रज्ञा को प्राप्त भी कर ले तो भी इस साधन के बिना आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ये सारे के सारे साधन सर्वज्ञ शंकर के शब्दों में सर्वकर्म संन्यास के ही साधन हैं। इसीलिये भाष्य सम्प्रदाय में संन्यास और ज्ञान का सहसमुच्चय स्वीकार किया गया है। संन्यास पर्यन्त शिष्य का कर्त्तव्य है। संन्यास के बाद गुरु का उत्तरदायित्व है। अतः केवल ज्ञान से ही मोक्ष को स्वीकारा नहीं गया। प्रज्ञा होने पर भी आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती कहने का यही तात्पर्य है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि इन साधनों के बिना प्रज्ञा की उत्पत्ति ही असम्भव है। अतः यहां अभ्युपगमवाद स्वीकार करना चाहिये। यदि प्रज्ञा उत्पन्न हो भी जाये तो भी फल उत्पन्न नहीं होगा। वस्तुतस्तु एक शका उठती है कि यदि ब्रह्म की कृपा से ही वह अपने आपको अनावृत्त कर सकता है तो फिर प्राणिमात्र के ऊपर यह कृपा क्यों नहीं करता ? इसका जवाब यहाँ श्रुति प्रकारांतर से देती है कि वह तो कृपा करने को तैयार है और अपनी कृपा से प्रज्ञा को उत्पन्न कर भी दे परन्तु पात्रता के अभाव में वह व्यर्थ चला जायेगा। यही कारण है कि वह प्रज्ञा की कृपा नहीं कर रहा है। इससे यह भी कहा गया कि योग्यता आने पर उसकी कृपा न हो, यह कभी भी सम्भव नहीं है।

साधक के कर्त्तव्यों में दुश्चरित्रता का त्याग, शान्ति, एकाग्र एवं शांत चित्त ही यहां प्रधान साधन बताया गया है। मोक्ष देने वाला ज्ञान तब तक अवतरित नहीं होता, जब तक नैतिक जीवन न अपनाया जाये। जब तक अपने आपको नैतिकता के द्वारा भर नहीं लिया जाता तब तक प्रतिभा का अवतरण ही नहीं हो सकता और बिना प्रतिभा के प्रज्ञा असम्भव है। दुश्चरित्र व्यक्ति घृणा एवं दूसरों के प्रति दुर्विचार से भरा रहता है एवं जिस अंतःकरण में इस प्रकार के पाप के प्रति प्रवृत्ति है, वह सत्य ज्ञान की ओर मुड़ ही नहीं सकता। आध्यात्मिक जीवन को इसीलिये विवेकी तीन भागों में बांटते हैं — शोधन, विचार एवं ऐक्य। शुद्धि के लिये जो प्रवृत्त होता है वह यद्यपि चित्त की एकाग्रता इत्यादि का अभ्यास कर लेता है परन्तु साधन के अभाव से उनमें कभी भी प्रतिभा का उदय नहीं होता। आध्यात्मिकता का प्रारंभ नैतिकता के बिना असम्भव हैं। दुश्चरित्रता शिव पर चित्त एकाग्र ही नहीं होने देगी। वास्तविक दृष्टि से मनुष्य में परमात्मा की कृपा को समझने की सामर्थ्य ही तब आती है जब वह अपने मन और हृदय को पहले शुद्ध कर लेता है और तभी कृपा का उसे लाभ हो सकता है। कुछ विचारकों की तो यह मान्यता है कि कृपा भी जबरन नहीं लादी जा सकती। हम उसे स्वीकार कर सकते हैं या अस्वीकार। जो कुछ लोगों का यह कहना है कि आध्यात्मिक जीवन का नैतिक जीवन से सम्बन्ध नहीं है, उनको तो यहां श्रुति तमाचा मारती हैं। आध्यात्मिक जीवन नैतिकता के बिना असंभव हैं।

आचार्य आनंदगिरि स्वामी तो दुश्चरित्रता से शारीरिक पाप, अशांति से ऐन्द्रिय पाप, असमाहितता से विक्षेप एवं अशांत मन से व्यवहार का ग्रहण करते हैं। भाष्य में तो श्रुति और स्मृति में जिनका विधान नहीं किया गया हैं, ऐसे प्रतिषिद्ध पाप कर्मों का संग्रह किया है एवं अविरत का अर्थ अनुपरत किया हैं, अर्थात् जिसने अपने आपको दुश्चरित्रों से उपरत नहीं कर लिया। इसी प्रकार इन्द्रियों की चंचलता अर्थात् विषय प्रवणता से जो अनुपरत नहीं हुआ वह अशांत हैं। जो अनेकाग्र मन से अविरत नहीं हुआ वह असमाहित है। समाहित चित्त होने पर भी समाधि के फल की इच्छा ही उसे अशांत मन वाला बनाये रखती है। अथवा विषयों से इन्द्रियों को हटा लेने पर पुण्य लोक की प्राप्ति शास्त्रों में बताई है उससे भी जिसका चित्त हट जाता

है, वह शान्त मन वाला कहा जायेगा। तात्पर्य यह हुआ कि सच्चरित्रवान्, शान्त, समाधिस्थ, समाधि के फल को भी न चाहने वाला, प्राप्त गुरु वाला, ब्रह्मविज्ञान के द्वारा आत्मा में स्थित होता है।

: २५ :

जो ऐसा नहीं है :—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत: ओदन: ।
मृत्यु: यस्य उपसेचनं क: इत्था वेद यत्र स: ॥

यस्य = जिसका	यस्य = जिसका
ब्रह्म = ब्राह्मण	मृत्यु: = मृत्यु
च = और	उपसेचनं = अचार (है);
क्षत्रं = क्षत्रिय	यत्र = जहां
उभे = दोनों	स: = वह
ओदन: = खाद्य	इत्था = जैसा है
भवत: = हैं;	क: = कौन
च = तथा	वेद = जानता है ?

परमात्मा के लिये सब धर्मों को धारण करने वाले एवं सब का रक्षण करने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय भी चावल की तरह से खाद्य बन जाते हैं। जो सबका नाश करता है. वह मृत्यु तो इस चावल को खाने के लिये भी अपर्याप्त अचार ही है। ऐसे उस परमात्मा को उपर्युक्त साधनों से रहित प्राकृतिक बुद्धि वाला कैसे जान सकता है कि वह आत्मा कहां और कैसा है ? अथवा इत्था का अर्थ इत्थ माने यथोक्तसाधनवान् एवं आ का अर्थ इव है। तात्पर्य है कि यथोक्त साधनवान् की तरह जिसके पास ये साधन नहीं हैं, वह कैसे जान सकता है ? जो अपनी महिमा से विश्वरूप और विश्वोपसंहृत भावों को भी व्याप्त करके रहता है, उसको कौन जाने, जब तक कि वह उपर्युक्त साधन सम्पन्न होकर उसकी कृपा न प्राप्त कर ले, यह भाव है। अथवा जिस अवस्था में या देश में वह सबका नाशक विद्यमान है वहां विना नष्ट हुए कौन पहुंच सकता है।

विवेकी तो मानते हैं कि यहां ब्रह्म से ज्ञान शक्ति और क्षत्र से क्रिया शक्ति का ग्रहण है। अथवा ब्रह्म से विचार या वेद और क्षत्र से कर्म या प्राण का

ग्रहण है। अतः तात्पर्य हुआ कि ये भी उसको जानने के लिये पर्याप्त नहीं। वहां जाकर ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति, वेद, सत्कर्म, योगाभ्यास आदि सभी समाप्त हो जाते हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय वैदिक धर्म के प्रधान स्तंभ होने से उनके ग्रहण से सारे मानवों का संग्रह हो गया क्योंकि यही दो मानव समाज के शिखर हैं। मृत्यु भी उस आत्मा में लीन हो जाता है। 'को अद्धावेद' इत्यादि ऋग्वेद भी बहुत कुछ इसी प्रकार का प्रतिपादन करता है।

नचिकेता का प्रश्न था कि मरने के बाद आत्मा किस स्थिति में होता है? यहां मृत्यु जवाब दे रहे हैं कि कौन कह सकता है कि ब्रह्म से अभिन्न हुआ व्यक्ति कहां है? क्योंकि वह तो सर्व व्यापक हो गया है। अतः उसके प्रश्न का यहां जवाब दिया। मृत्यु शब्द का प्रयोग करके यहां यह भी ध्वनित है कि आचार्य रूपी मृत्यु भी उसका उपसेचन मात्र है। अर्थात् क्षत्र के द्वारा शुभ कर्मों की आवश्यकता, ब्रह्म के द्वारा सदुपासना और सद्-विचार की आवश्यकता एवं मृत्यु के द्वारा सद्गुरु की आवश्यकता बताई। परन्तु वे सभी ब्रह्मज्ञान के लिये अपर्याप्त ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार शिष्य के धार्मिक जीवन का वर्णन करते हुए आत्मकृपा का भी स्पष्टतः प्रतिपादन करना इस मंत्र का रहस्य है।

। द्वितीय वल्ली समाप्त ।

अथ तृतीया वल्ली

पूर्व वल्ली में विद्या और अविद्या को भिन्न और विरुद्ध फल वाला बताया था परन्तु उनके फलों का एवं स्वरूप का विस्तृत विचार नहीं किया था। उसको समझाने के लिये आगे की वल्ली चलती है। सरलता से समझाने के लिये साधक और साध्य का कल्पित भेद करके इसी प्रकार आत्मा को बताते हैं :—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदः वदन्ति पंचाग्नयः ये च त्रिणाचिकेताः ॥

सुकृतस्य = अपने द्वारा किये हुए के
ऋतं = कर्मफल को
पिबन्तौ = भोगने और भुगवाने वाला
लोके = लोक में (शरीर में)
परमे = परम
परार्द्धे = परार्द्ध में
गुहां = गुहा में
प्रविष्टौ = प्रविष्ट हुए
छायातपौ = छाया और धूप (की तरह)
त्रिणाचिकेताः = त्रिणाचिकेता
च = एवं
पंचाग्नयः = पंचाग्नि वाले
ये = जो
ब्रह्मविदः = ब्रह्मवेत्ता (हैं)
वदन्ति = बताते हैं।

इस मंत्र में आया हुआ पिबन्तौ पद ब्रह्मसूत्र के एक पूरे अधिकरण का विषय है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि पीने वाले दो कहे जा रहे हैं परन्तु सूक्ष्म विचार करके भगवान वेद व्यास ने यह सिद्ध किया है कि यहां अंतर्हित णिजन्त करके द्विवचन का प्रयोग है अर्थात् एक पीने वाला और एक पिलाने वाला। इस शरीर में जीव और शिव दोनों बैठे हुए हैं। इनमें से जीव कर्मफलों का भोग करता है शिव उनको भुगवाता है। ये दोनों ही हृदय के परार्द्ध में हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों ही हृदय में संयुक्त हैं एवं पुरुष वाले भाग में ही शिव और जीव की प्रतीति है। वेदांत-दृष्टि से सोचने पर तो 'अहं' में में प्रतिबिम्ब रूप से वह भोगता है और

विम्ब अर्थात् साक्षी रूप से भुगवाता है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब में बिम्ब को पर-अर्द्ध भाग कह सकते हैं।

ऋत का अर्थ विश्व संचालन के नियम हैं। यहां कर्मफल अवश्यम्भावी होने से ऋत शब्द से कहा गया है। पिवन्ती को इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जीव कर्मफल को पीता है अर्थात् भोगता है। परन्तु जैसे अनेक छत्री वालों के बीच में पड़ा हुआ एक बिना छत्री वाला होते हुए भी छत्री वाले जा रहे हैं इस प्रकार कहे जाने पर छत्री वाला प्रतीत होता है, वस्तुतः हो नहीं जाता, इसी प्रकार अनंत कर्मफल भोगने वाले जीवों के मध्य में रहने वाला एक परमात्मा भी पीने वाला कहा गया। इस प्रकार ऋत-पान का कर्ता एक जीव हो गया और उसके समान स्वभाव वाला होने से और सांख्य में द्वित्व वर्णन होने के कारण परमात्मा दूसरा हो गया। सुकृत का तात्पर्य स्वयंकृत आचार्य शंकर ने किया है क्योंकि सुकृत और दुष्कृत दोनों को ही जीव भोगता है। इसीलिये सुष्ठु कृतस्य ऐसा अर्थ तो बनता नहीं। केवल आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है, वरन् बुद्धि आदि उपाधियों के द्वारा है, यह विषय दूसरा है।

इस सारे ब्रह्माण्ड को भी लोक कहते हैं और यह शरीर भी एक ब्रह्माण्ड होने से इसे भी लोक कहते हैं। परमेश्वर सारे संसार में विद्यमान हुआ इस शरीर में भी विद्यमान है परन्तु जीव केवल इस शरीर में ही विद्यमान है। अतः यहां लोके से भाष्यकारों ने इस शरीर में लिया है। देह के आश्रय वाले आकाश प्रदेश की अपेक्षा इसे परम कहा गया। तात्पर्य है कि यह शरीर भी आकाश में ही स्थित है और शरीर के अन्दर भी आकाश है। इसमें जो देह के आश्रय वाला चाकाश है, उसकी अपेक्षा हार्दाकाश परम है। तब परार्द्ध का अर्थ होगा पर अर्थात् ब्रह्म का अर्द्ध अर्थात् स्थान। हार्दाकाश ही ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से ब्रह्म का स्थान अर्थात् परार्द्ध कहा गया। वहीं वह प्रविष्ट है, यह भाव है। संसारी और असंसारी होने के कारण वे धूप और छया की तरह एक दूसरे से भिन्न हैं, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग प्रतिपादन करते हैं।

यह शंका होती है कि सर्वकर्म संन्यासी परमहंस ही वर्णन करते होंगे, पर जो कर्मी गृहस्थ पंचाग्नि एवं त्रिणाचिकेता करने वाले हैं, वे कुछ और वर्णन करते होंगे। कर्म मार्ग और ज्ञानमार्ग वेदों में अलग-

अलग रास्ते हैं। अत: जिस विषय का तुम वर्णन करते हो वह आत्मा से अभिन्न कर्म त्यागियों का ईश्वर होगा, कर्मियों का ईश्वर कोई दूसरा होगा। इसका जवाब देते हुए श्रुति कहती है कि उत्तम कर्म करने वाला अर्थात् पंचाग्नि और त्रिणाचिकेता का पालन करने वाला भी यदि कर्म और उपासना का साथ-साथ यदि अभ्यास करता है तो वह भी आत्मा का परमात्मा से अभिन्न रूप से ही वर्णन करता है। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ ये पांच अग्नियां हैं। जो इन अग्नियों की सेवा करते हुए द्यु, बादल, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री में अग्नि की उपासना करता है, वह पंचाग्नि कहा जाता है। त्रिणाचिकेता का वर्णन तो इसी उपनिषद् में पहले कर आये हैं, यही कर्म की उत्तम सीमा है।

विवेकी तो ऐसा समझते हैं कि पंचाग्नि और त्रिणाचिकेता ब्रह्मविद: का ही साक्षात् विशेषण मान लेना चाहिये। तब पंचाग्नि का तात्पर्य हो जायेगा पांच ज्ञानेन्द्रियों के अन्दर जो पांच विषयों की निरंतर आहुति देते हैं। भाव यह है कि जब कभी रूप आदि देखा जाता है तब बजाय उसके नामरूप को ग्रहण करने के नामरूप को जलाकर केवल सच्चिदानंद रूप से ही उसका ग्रहण किया जाये। इस प्रकार वासना को प्रति क्षण नष्ट करने वाले, ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों शक्तियों को परमेश्वर को अर्पण करने वाले अर्थात् निरंतर परमेश्वर की सेवा में लगे रहने वाले (त्रिणाचिकेता) जो ब्रह्मवेत्ता लोग हैं, वे जीव और ईश्वर को स्पष्ट रूप से धूप और छांह की तरह देखते हैं। अर्थात् अहंकार की वृत्ति में वृत्ति उन्हें छाया की तरह और उसका प्रकाशक साक्षी चिन्मात्र उन्हें प्रकाश की तरह दीखता है। जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में उन्हें कभी भी किंचित् भी भ्रम की प्राप्ति नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि पहले कह आये हैं कि परमात्मा जो इस संसार अथवा परलोक में किसी चीज से अधिक आनन्दप्रद है, वह अपने हृदय में ध्यान करने पर ही प्राप्त हो सकता है, बाह्य विषय ज्ञान से नहीं। इसी साधना को आगे विस्तार से बतायेंगे। यहां तो केवल इतनी प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि चूंकि शिव हृदय में रहता है एवं जीव उसके बिल्कुल सन्निहित है, अत: एक तो उसको प्राप्त करने के लिये अपने अन्दर ही जाना पड़ेगा और दूसरे अपने आपे से दूर होकर उसको प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

सामान्यतः लोग तीर्थयात्रा अथवा गो लोक आदि में जाकर हम परमेश्वर के सन्निहित होंगे, ऐसी भावना करते हैं परन्तु विचारक इस बात को जानते हैं कि अपना आपा होने से परमेश्वर हमारे सबसे अधिक निकट है। कई बार कह दिया जाता है कि परमेश्वर निकट होने पर भी पहले तो तीर्थ यात्रा आदि बाहिरीपूजा करने पर ही उस सन्निधि की प्राप्ति होगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि अशुद्ध से अशुद्ध मनुष्य के भी अत्यंत सन्निहित हृदयदेश में वह बैठा हुआ है, एवं अपने से बाहर कहीं भी जाकर वह और अधिक नज़दीक आये यह सम्भव ही नहीं है। इस भावना से कि जब तक मैं शुद्ध नहीं होऊंगा परमात्मा मेरे नज़दीक नहीं हो सकता, मनुष्य बाह्य पूजा और बाह्य पदार्थों से अपनी श्रेष्ठता को समझता है परन्तु वह परमात्मा सन्निहित है, अतः उधर ही प्रवृत्ति करे यह मंत्र का रहस्य है। चूंकि ध्यान का कर्त्ता और कर्म अत्यंत नजदीक हैं, अतः परमात्मा का ध्यान सबसे सरल है।

कुछ द्वैत साम्प्रदायिकों ने तो परे परार्द्धे का अर्थ ब्रह्म का सर्वोच्च स्थान करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि परमेश्वर का सर्वोच्चस्थान हृदय है परन्तु गो लोक, वृन्दावन आदि भी उच्च स्थान तो हैं ही। परन्तु परमे का केवल अर्द्धे के साथ अन्वय करना कितना व्याकरण विरुद्ध है, यह तो स्पष्ट ही है। किंच यदि इसके सिवाय और कोई दूसरा साधन श्रुति को सम्मत होता तो इस उपनिषद् में किसी प्रसंग में बताया अवश्य गया होता। अतः अश्रुत कल्पना और श्रुत हानि दोष ग्रस्त ऐसा अर्थ बुद्धिमानों के द्वारा सर्वथा त्याज्य है। जीवात्मा के गम्भीरतम स्तरों में शिव के साथ संगति होती है, यही श्रौत तात्पर्य है। यहां पंचाग्नयः और त्रिणाचिकेताः के द्वारा यह भी बताया गया कि न केवल कर्म त्यागी वरन् विवेकी कर्मशील भी ब्रह्मवेत्ता बन जाता है।

: २ :

यः सेतुः ईजानानां अक्षरं ब्रह्म यत् परं।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥

यः = जो	यत् = जो
ईजानानां = यजमानों का	अक्षरं = अक्षर
सेतुः = पुल	परं = पर

ब्रह्म = ब्रह्म	पारं = पार (है)
अभयं = भय शून्य को	नाचिकेतं = (उस) नचिकेता को
तितीर्षतां = तरकर जाने की इच्छा वालों का	शकेमहि = जान (सकें)।

जो यज्ञ करता है, वह यजमान कहा जाता है। यज्ञ करने वालों का परमात्मा पुल है। छांदोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय बृहदारण्यका के चतुर्थ अध्याय आदि में सेतुः शब्द का प्रयोग देखा जाता है। सेतु या पुल वह होता है जिससे हम नदी के एक पार से दूसरे पार जाते हैं। इस संसार को प्रायः नदी माना गया है जिसके एक किनारे पर परिच्छिन्नता एवं काल, दुःख आदि हैं; और दूसरे किनारे पर अपरिच्छिन्नता, अनंतता, काल-रहितता आनंद आदि हैं। नाचिकेता अग्नि रूप जो मायाविशिष्ट ब्रह्म है, वही हमें दुःख के किनारे से दूसरे किनारे पर पहुंचाने का साधन होने से सेतु कहा जाता है। कहीं कहीं उपनिषद् में बताया है कि सृष्टि के आदि में द्यावापृथ्वी एक ही थे। फिर एक नदी या समुद्र के द्वारा वे दो भागों में बंट गये। यह नदी वस्तुतः देश काल और कार्याकारण भाव ही है। देश, काल और कार्यकारण भाव को ही संसार सागर भी कहा जाता है। जो यज्ञ करते हैं उन्हें परमेश्वर यज्ञ के फलरूप पृथ्वी से द्यु लोक में पहुँचा देता है। इस प्रकार यजमानों के लिये द्यु और पृथ्वी के बीच वह सेतु बन जाता है। इस प्रकार परमेश्वर मार्ग और उद्देश्य दोनों ही हैं क्योंकि पुल का अंतिम हिस्सा और दूसरा किनारा एक ही होते हैं। सेतु रूपी ईश्वर ही मानो संसार को अलग अलग भी रखता है और फिर उनको मिला भी देता है। इसी प्रकार जो अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं उनका भी वही सेतु अर्थात् पुल है, एवं निर्भय परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये जो इस संसार समुद्र से सर्वथा तर जाने की इच्छा वाले हैं उनका भी वही सेतु है। कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों का इस प्रकार ईश्वर में समन्वय है। कर्मियों को वह देव लोक की प्राप्ति कराता है, उपासकों को ब्रह्म लोक की एवं ज्ञानी को यहीं ब्रह्मरूप बना देता है।

यहां नाचिकेताग्नि को पुनः प्रधानता देकर यह बताया है कि द्वितीय वर में जिस नाचिकेताग्नि का प्रतिपादन किया था, वह नाचिकेताग्नि केवल कर्म का अंग न होकर के परब्रह्म परमात्मा का ही साक्षात् प्रतीक है। शकेमहि

का अर्थ है कि उसको ठीक प्रकार से समझ सकें या पालन कर सकें। भाष्य में तो है कि ज्ञातुं जेतुं च शकेमहि अर्थात् हम उसको जान सकें और जीत सकें अर्थात् उसके ऊपर हमारा पूरा अधिकार हो सके। सामान्य दृष्टि से भी जब कोई कहता है कि मैं यह कर सकता हूं तो उसका भाव होता है कि इसको करने में मैं पूरी तरह से अधिकृत हूं, वैसे ही यहां समझना चाहिये।

यजमान से यहां सभी कर्मियों को ले लेना चाहिये। कर्मियों को दुःख संसार में नियम से जलाते रहने का कारण वह नाचिकेताग्नि हमारे द्वारा जाना जा सके, यह भाव है। अक्षर ब्रह्म के विषय में तो ज्ञान अर्थ ही सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार पर और अपर ब्रह्म क्रमशः कर्मी और ब्रह्मवेत्ताओं के आश्रय हैं, ऐसा प्रतिपादन किया गया। इसका ही उपन्यास पूर्व मंत्र में किया गया था, यह कहकर सर्वज्ञ शंकर तो यह बताते हैं कि कर्मी कर्म भोग करने वाला है एवं ज्ञानी कर्म फल देने वाला है क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न है।

आचार्य आनंदगिरि तो यहां एक अद्भुत शंका का उत्थापन करते हैं कि ब्रह्मवेत्ता, पंचाग्नि वेत्ता तो वर्तमान में उपलब्ध ही नहीं हैं। इस शंका का निराकरण करने के लिये कहा गया कि पूर्व विद्वानों के अनुभव का विरोध होने से इसे शंका नहीं माना जा सकता। तात्पर्य है कि जब श्रुति कहती है कि यह यजमानों का सेतु है तो अवश्य किसी काल में पंचाग्नि वेत्ता भी रहे होंगे। तब यदि यह कहा जाये कि प्रभाव अतिशय के कारण पूर्व के लोगों में ब्रह्मवेत्ता या पंचाग्नि वेत्ता हुए भी हों तो भी आधुनिक अल्पप्रज्ञों में यह सम्भव नहीं, तो भी नहीं बनता क्योंकि चेतन होने के कारण स्वाभाविकी ज्ञातृत्व योग्यता तो लोगों में हमेशा ही रहेगी। इसी प्रकार विराट् और अग्नि की ईश्वर प्रतीकता का प्रतिपादन भी माना गया है। गोपालेन्द्र ने तो भाष्य में ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि पाठ स्वीकार किया है। अर्थात् हम नाचिकेताग्नि को ब्रह्मविद् बनकर चुन सकें और उसका चयन भी कर सकें।

: ३ :

विद्या के अधिकारी और अविद्या के अधिकारी का सरलता से ज्ञान हो जाये, इसके लिये रथ की कल्पना करते हैं :—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथम् एव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहं एव च ॥

आत्मानं = आत्मा को रथिनं = रथी

तु=तथा	सारथिं=सारथि
शरीरं=शरीर को	च=तथा
एव=ही	मनः=मन को
रथं=रथ	एव=ही
विद्धि=समझो।	प्रग्रहं=लगाम
बुद्धि=बुद्धि को	विद्धि=समझो।
तु=तो	

प्रसिद्ध रथ की कल्पना करके हम कहां पहुंच सकते हैं इसका प्रतिपादन श्रुति करती है। गीता में श्री कृष्ण का रथ चलाना इसी का प्रतीक है। इसके द्वारा प्राप्तव्य, प्राप्ति के साधन इत्यादि का निरूपण सरलता से किया जा सकता है। इसीलिये श्रुति यह कल्पना करती है। रूपक कल्पना से सरलता से ज्ञान साधारण बुद्धि के लोगों को भी हो जाता है। परवर्ती काल में पुराणों में मूर्ति की कल्पना भी इस रूपक कल्पना का ही स्वरूप है परन्तु धीरे धीरे लोग रूपक की रूपकता को छोड़कर उसे वास्तविक समझने लगते हैं। तब भ्रांति शुरू होती है।

जीवात्मा और परमात्मा में से उपाधि वाला संसारी जीव विद्या और अविद्या दोनों में अधिकृत है। विद्या का अधिकारी मोक्ष को जाता है और अविद्या का संसार को। परन्तु इन दोनों यात्राओं के लिये साधन तो रथ ही है और वह यह शरीर है। इनमें किस प्रकार का भेद है, यह आगे बतायेंगे। परमेश्वर तो असंसारी होने से उद्देश्य है, रथी नहीं। मुक्त जीव को भी विद्या और अविद्या दोनों से परे होने के कारण रथ कल्पना के अंतःपाती नहीं किया जा सकता। अतः यहां आत्मा से या साक्षात्कार करने वाला या कर्म करने वाला जीवात्मा ही ग्रहण करना चाहिये। रथी का मतलब रथस्वामी होता है। अर्थात् रथ में जिसको अभिमान है। ज्ञान का साधक भी शरीर रूपी रथ में अभिमान वाला है और कर्म का अधिकारी भी इसमें अभिमान वाला है। यह बात दूसरी है कि एक ऋतप अर्थात् कर्म फल को पीने वाला है, और दूसरा उस कर्म फल के द्वारा शिव की आराधना करने वाला है। शरीर ही रथ है क्योंकि जैसे रथ रथ में बंधे घोड़ों द्वारा खींचा जाता है, वैसे ही शरीर भी शरीर में केन्द्रित इन्द्रियों द्वारा खींचा जाता है। निश्चय करने वाली जो बुद्धि है, वही सारथि है क्योंकि जैसे सारथि

रथ को चलाता है, वैसे ही बुद्धि ही प्रधान रूप से शरीर को चलाती है। यद्यपि रथ का स्वामी रथी है परन्तु रथ को कैसे चलाया जाये, इस विषय में सारथि ही प्रधान होता है, यह निर्विवाद है। शरीर से होने वाले सभी कार्य प्रायः करके बुद्धि के द्वारा ही किये जाते हैं। यहां यह शंका नहीं करनी चाहिये कि अंत:करण एक होने पर बुद्धि, मन आदि का भेद कैसे माना जायेगा क्योंकि वृत्ति भेद से तो उसके भेद हैं हीं। मन भी शरीर को ले चलने वाली चीजों में प्रधान है परन्तु वह बुद्धि के अधीन है। अतः जैसे सारथि के हाथ में लगाम विद्यमान होती है, वैसे ही यहां मन लगाम है। संकल्प विकल्प करने वाला ही मन यहां समझना चाहिये। मनरूपी लगाम के द्वारा ही इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं जैसे घोड़े। 'मैं ऐसा ही करूंगा' संकल्प कहा जाता है। 'मैं ऐसा करूं या न करूं' यह विकल्प। इस प्रकार जीवात्मा रूपी रथी यद्यपि रथ में बैठा हुआ है परन्तु प्रायशः बुद्धि, मन, इन्द्रियों के अधीन है, यह भाव है।

युज धातु का अर्थ जोतना, यहां रथ में घोड़ों को जोतना होता है। सम्भवत: परवर्ती काल में इस कठोपनिषद् के उपाख्यान के आधार पर ही मन के नियंत्रण को योग शब्द से कहा गया। हमारे शरीर, इन्द्रियों और मन के ऊपर नियंत्रण करने के तरीके को ही योग कहते हैं। वास्तविक योग तो तभी होगा जब इनको परमात्मा की तरफ लगावें। जैसे यहां श्रुति ने बुद्धि को प्रधान बताया है वैसे ही प्लेटो ने भी बताया है, एवं दोनों ही मानव प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्वों को संग्रथित करने में विश्वास करते हैं। यह ठीक भी है क्योंकि सच्चा मानव वही है जिसने अपने मानसिक जीवन को पद्धति में बांध लिया है, एवं स्वयं अपना मालिक है, और अपने आप में शांत है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया अथवा प्लेटो के शब्दों में तर्क, भावना एवं विषय-भोग को नर अपने में एकत्रित करके बांध लेता है। इन साधनों के द्वारा वस्तुत: मनुष्य भिन्न हो जाता है। जब तक इस प्रकार अपने आपको एकता में नहीं बांधता तब तक शरीर से एक हुआ भी कभी इन्द्रियों द्वारा खिचता हैं तो कभी मन की भिन्न भिन्न वृत्तियों द्वारा। जब इस प्रकार एक हो जाता है तब उसके जीवन में एक साम्य भाव आ जाता है और फिर कभी भी तनाव नहीं पैदा होता। उसके बाद जब वह किसी कार्य में प्रवृत्ति करेगा, तब उस कार्य को एक उद्देश्य से पूर्ण करेगा, और उसमें किसी भी

प्रकार के राग द्वेष के द्वारा इधर उधर की प्रवृत्ति नहीं लायेगा । सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेभी पुभिर्वाजिन इव' (यजुर्वेद ३४-६) में यही बात बताई गई है । इसी प्रकार ऋग्वेद भी कहता है 'रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः अभीषूनां महिमानं पनायत मनः पश्चात् अनुयच्छन्ति रश्मयः ।'

: ४ .

इन्द्रियाणि हयानि आहुः विषयान् तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता इति आहुः मनीषिणः ॥

इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को	आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं = शरीर, इन्द्रिय और मन को मिलाकर (आत्मा को)
हयानि = घोड़े,	भोक्ता = भोक्ता (जीव)
तेषु = उनमें	इति = ऐसा
विषयान् = विषयों को	मनीषिणः = विद्वानों ने
गोचरान् = रास्ते	आहुः = कहा है ।
आहुः = कहा है ।	

रथ कल्पना करने में कुशल लोगों ने शरीर रूपी रथ को खींचने की समानता से आंख कान आदि इन्द्रियों को घोड़ों की उपमा दी है । जिस प्रकार घोड़े मार्ग के ऊपर चलते हैं उसी प्रकार इन्द्रियां रूप, रस, गंध, शब्द आदि विषयों पर चलती हैं । अतः उसे रास्ता बताया गया । अथवा जैसे घोड़े का गन्तव्य मार्ग होता है, वैसे ही इन्द्रियों का गन्तव्य विषय हैं, यह भाव है । मूल मंत्र में तेषु का अर्थ इन्द्रिय के घोड़े रूप से परिकल्पना कर लेने पर विषय गोचर हो जाते हैं, ऐसा अन्वय समझना चाहिये । आत्मा को जो रथस्वामी कहा गया है, वह कल्पित है, स्वाभाविक नहीं । इसको बताने के लिये कहा कि शरीर, इन्द्रिय मन से युक्त आत्मा ही भोक्ता अर्थात् संसारी कहा गया है । मनीषी के द्वारा यह बताया कि विवेकी तो ऐसा समझते हैं परन्तु अविवेकी इसको वास्तविक समझ लेते हैं । अथवा आत्मा से शरीर लेकर शरीर इन्द्रिय मन से युक्त होने पर ही भोक्ता कहा जाता है, ऐसा भी अर्थ हो सकता है । उसमें आत्मा का ऊपर से अध्याहार

समझ लेना चाहिये। तात्पर्य हुआ कि केवल आत्मा में भोक्तृता नहीं है, जब तक कि उसे बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त न समझा जाये। इस विषय में अन्वय व्यतिरेक और शास्त्र दोनों ही प्रमाण हैं। 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि श्रुति उपाधि अनवच्छिन्न आत्मा की असंसारिता का प्रतिपादन करती है। इसी प्रकार सुषुप्ति में शरीर इत्यादि की उपाधि न रहने पर भोक्तृता नहीं, एवं जाग्रत में इनके होने पर भोक्तृता है। यह अन्वय व्यतिरेक समझ लेना चाहिये। किंच यदि इस रथ कल्पना के द्वारा वैष्णव पद की प्राप्ति बताना है और वह वैष्णव पद आत्मा का स्वरूप है तो आत्मा की वास्तविकता भोक्तापना नहीं हो सकती। किसी भी चीज का स्वभाव बदला नहीं जा सकता। यदि आत्मा का वास्तविक भोक्तापन होता तो किसी भी चीज में पहुंचकर उसका भोक्ताभाव नष्ट नहीं हो सकता। वैष्णव पद की प्रत्यग अभिन्नता रूप से प्राप्ति रूपी जो उपपत्ति, उससे भोक्तापन की कल्पितता श्रौत अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध हो जाती है। यह मानना कि वैष्णव पद में आत्मा की स्थिति कल्पित है, मोक्ष को ही अस्थायी सिद्ध कर देगा।

: ५ :

यः तु अविज्ञानवान् भवति अयुक्तेन मनसा सदा ।
तस्य इन्द्रियाणि अवश्यानि दुष्टाश्वाः इव सारथेः ।।

यः = जो
तु = तो
अविज्ञानवान् = अविज्ञान वाला
सदा = सदा
अयुक्तेन = अयुक्त
मनसा = मन के साथ
भवति = होता है,
सारथेः = सारथि के
दुष्टाश्वाः = दुष्ट घोड़ों की
इव = तरह
तस्य = उसकी
इन्द्रियाणि = इन्द्रियां
अवश्यानि = अवश हैं।

रथ के रूपक को बताकर अब उनके सदुपयोग और दुरुपयोग का वर्णन करते हैं। अविद्या का मार्ग दुरुपयोग का मार्ग है और विद्या का मार्ग सदुपयोग का मार्ग है। प्रवृत्ति और निवृत्ति में निपुण न होना अर्थात् अविवेकी होना ही बुद्धि रूपी सारथि का अविज्ञानवान् होना है। जैसे

सारथि रथ चलाने में यदि लगाम को ठीक नहीं रख सके तो घोड़े उसके वश में नहीं रहते, उसी प्रकार यहां लगाम की जगह मन का अयुक्त होना है। मन का असमाहित होना ही उसका अयुक्त होना है। सदा पद के द्वारा यह बता रहे हैं कि विवेकी भी कभी कभी संस्कारवशात् अयुक्त हो सकता है। इन्द्रियों के अवश होने का मतलब है कि उन्हें अनिच्छित मार्ग से निवृत्त करने की सामर्थ्य न होना। जिस प्रकार घोड़ें ठीक तरह से शिक्षित (दान्त) नहीं होते, वैसे ही अविवेकी बुद्धि की इन्द्रियां भी दम गुण से सम्पन्न नहीं होतीं। तात्पर्य है कि यदि कोई चाहे कि बुद्धि विकृत होते हुए इन्द्रियों को वश में किया जा सके तो यह सम्भव नहीं है।

अविज्ञान का अर्थ यहां सामान्य विज्ञान का अभाव न लेकर बुद्धि में अतिशयता का अभाव लेना चाहिये। जिस प्रकार कुसारथि अदांत घोड़ों को कुमार्ग से नहीं हटा सकता उसी प्रकार अविवेकी बुद्धि अदांत इन्द्रियों को कुविषयों से नहीं हटा सकती, यह भाव है। विज्ञान एक सूक्ष्म पारिभाषिक शब्द है। बाह्य संसार के पदार्थों के साथ हमारे अंत:करण का जो सम्बन्ध है और जिसे साधारण भाषा में ज्ञान कहते हैं, उनमें से कुछ विशेष अननुभूत अनुभूतियों को विज्ञान कहते हैं। हमारे प्रत्येक अनुभव में कुछ तो बाह्य जगत का दान होता है और कुछ हमारा। हमारे दान को दार्शनिक वैयक्तिक (Subjective) कहते हैं एवं बाहर के दान को भौतिक (Objective) कहते हैं। हमारे दान को समझने के लिये हमारी इन्द्रियां पदार्थों को किस प्रकार ग्रहण करती हैं, इसको समझना आवश्यक है। ज्ञान का आधारभूत मान एक अनुभूति (Sensation) है, क्योंकि इसके द्वारा ही हमारे अंत:करण में मूलभूत परिवर्तन आता है। दार्शनिक भाषा में कहा जाये तो कहना पड़ेगा कि यह वह परिवर्तन है जो हमें प्रतीत होता है। इस परिवर्तन का कारण बाह्य जगत एवं हमारी चेतना के सम्बन्धों में कोई परिवर्तन होना है। चाहे इसका कारण बाह्य जगत का परिवर्तन हो अथवा जगत से सम्बन्धित हमारी चेतना में परिवर्तन हो। बाह्य जगत को स्थिर मानने पर अनुभूति का कारण अंत:करण का परिवर्तन मानना पड़ता है, एवं अन्तश्चेतना को स्थिर मानने पर बाह्य जगत को परिवर्तित होने वाला मानना पड़ता है। वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान बाह्य जगत के परिवर्तन को ही स्वीकार करके समग्र अनुभूतियों का निरूपण करने का प्रयत्न करता है

एवं बौद्ध तथा दूसरे विचारवादी (Idealist) आंतर परिवर्तनों से ही सारी अनुभूतियों का निरूपण करने का प्रयत्न करते हैं। इसमें से किसी एक को मानने पर कई दोष आते हैं, जिसका विचार यहां इष्ट नहीं है। परन्तु इतना निश्चित है कि जब तक चेतना में कोई न कोई परिवर्तन नहीं होता तब तक अनुभूति नहीं होती एवं इसका जो भान (Elementary fundamental unit) वही एक अनुभूति कही जाती है। प्रायशः अनुभूति होने पर हम यह मानते हैं कि बाह्य जगत के किसी परिवर्तन का ही यह आभास है।

जो अनुभूति होती है, वह हमारी स्मृति में कुछ न कुछ अपनी छाप छोड़ जाती है। स्मृतियों का समूह चेतना के साथ मिल जाता है एवं उन स्मृतियों के समूहों के आधार पर पुनः नई स्मृतियों का निर्माण होता है। समान स्मृतियां आपस में सम्बन्धित हो जाती हैं एवं दूसरी विरुद्ध स्मृतियों से विरोधी बनकर बैठती हैं। जैसे हमने जो जो मकान देखा, उन उन मकानों की हमारे में स्मृति बनी और उनसे मकान रूपी एक सामूहिक स्मृति हुई जो तृणभू से विरोधी होगी। 'एकज्ञानं अपरज्ञानस्मारकं' यह स्मृति की उत्तेजना का सूत्र है। तात्पर्य है कि जो अनुभूतियां प्रायः एक दूसरे से सम्बन्धित उत्पन्न होती हैं, वे अनुभूतियां किसी भी एक सम्बन्धी स्मृति के उत्पन्न होने पर स्वतः उपस्थित हो जाती हैं। इन अनुभूतियों की स्मृतियों के आधार पर ज्ञान (Perception) होता है। इस प्रकार ज्ञान अनुभूतियों के साहचर्य युक्त स्मृति समूहों का नाम है। जब ज्ञान होता है तब अनुभूतियां अपने आपको दो विरुद्ध ध्रुवों में एक साथ ही तैयार करती हैं। अर्थात् जब तक विरोधी ज्ञान उपस्थित नहीं होगा तब तक ज्ञान उत्पन्न हो ही नहीं सकता। भौतिक शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि जब तक परिवेश और पदार्थ में कुछ न कुछ विरोध नहीं होगा, तब तक पदार्थ का ज्ञान असम्भव है। तात्पर्य है कि पीले रंग के कपड़े पर पीले रंग के दाग का ज्ञान अलग से नहीं होता। परन्तु पीले रंग के कपड़े पर अगर थोड़ा सा हरा रंग डाल दिया जाय तो उसका ज्ञान हो जाता है। इन ध्रुवों में प्रथम ध्रुव अनुभूति के स्वरूप के अनुसार होता है एवं द्वितीय ध्रुव अनुभूति के ग्रहण काल को लेकर के होता है। जब भिन्न-भिन्न अनुभूतियां, जो एक समूह की होती हैं और एक ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, एक साथ आती हैं

तब इन सारी सामूहिक अनुभूतियों का एक सामान्य कारण माना जाता है एवं इस सामान्य कारण को बाह्य जगत में पदार्थ नाम से कहा जाता है, और यह मान लिया जाता है कि यह ज्ञान उस पदार्थ के सच्चे गुणों को आभासित कर रहा है। एक वृक्ष के ज्ञान का मतलब होता है--पत्तों की शकल, हरा रंग, फूल एवं सुगंध, छाया, वायु के द्वारा उनमें होने वाला नाद, फल का स्वाद तथा फूल का स्पर्श आदि आदि सारा मिला हुआ अनुभूति समूह। ये सभी गुण लगता है कि एक पदार्थ से निकलकर हमारे अंतः-करण में प्रविष्ट हो रहे हैं। यद्यपि ठीक दूसरी दृष्टि से यदि देखा जाये तो यह भी कहा जा सकता है कि हमारी चेतना में से भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा निकली हुई किरणें मानो किसी एक स्थल के ऊपर जाकर केन्द्रित हो गई हैं। आगे चलकर ज्ञान स्वयं भी इसी प्रकार से बड़े-बड़े ज्ञानों में संग्रथित होता चला जाता है। अर्थात् ज्ञान के आभास भी या विरोधी बनते हैं अथवा आपस में मिलते चले जाते हैं, और अंत में वे संज्ञान (Concepts) बन जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न अनुभूतियों के आधार पर जिन्हें भिन्न-भिन्न काल में देखा गया है, वृक्ष का ज्ञान होता है एवं अनेक वृक्षों के ज्ञान से वृक्ष के विषय में एक संज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ये संज्ञान बाह्य जगत में नहीं हैं, यह भौतिक दृष्टि है। संज्ञान ही सच्चा है, यह आदर्शवादी दृष्टि है।

ज्ञानों के आधार पर शब्दों का निर्माण होता है एवं उनके आधार पर भाषा बनती है। मीमांसा और न्याय का यह पुराना झगड़ा है कि शब्द का अर्थ व्यक्ति होता है अथवा जाति। परन्तु इतना निश्चित है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक शब्द रखा जाये तो व्यवहार और विचार दोनों ही असम्भव हो जायेंगे। जैसे जैसे ज्ञान का संवर्द्धन होता है, शब्दों का अर्थ प्रवृद्ध होने लगता है एवं संज्ञान के शब्द ज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रयोग में आने लग जाते हैं। संज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किये बिना किसी भी प्रकार की भौतिक या मानसिक उन्नति असम्भव है। यह ठीक है कि हम अपने क्रोध, सुख, दुःख, भय आदि को प्रकट करने के लिये कुछ संकेत बना लेंगे एवं इन संकेतों से खतरा या, डर, आवश्यकता इत्यादि भी दूसरे को समझा लेंगे परन्तु इसके द्वारा हम अपने ज्ञानों का आदान-प्रदान कर सकें, यह सम्भव नहीं। पशु-पक्षियों में इस प्रकार की ध्वनियां पाई जाती हैं परन्तु वे ज्ञान

का आदान प्रदान करते हैं, यह नहीं माना जा सकता। ज्ञान का अर्थ ही होता है कि एक अनुभूति के समान अनुभूति के विषय में कुछ कहा जा सके। जब हम ऐसे शब्द का प्रयोग करते हैं तो या तो हम वस्तुतः उस पदार्थ की जाति को ग्रहण करते हैं अथवा जानबूझकर हम दो भिन्न पदार्थों को एक नाम से कहते हैं। यदि प्रत्येक पदार्थ के लिये हम नये नये शब्दों का ही प्रयोग करते जायें तो हम अपनी बात किसी दूसरे को समझा नहीं सकते। इसे व्याकरण की दृष्टि से कहें तो कह सकते हैं कि केवल व्यक्ति वाचक संज्ञा से काम नहीं चल सकता। ब्राह्मण शब्द से ब्राह्मण स्त्री का संग्रह है और स्त्री शब्द से वैश्य स्त्री का। अतः दोनों शब्द किसी एक व्यक्ति का ग्रहण नहीं कर सकते वरन् किसी भी विषय में विचार करने के लिये कुछ समानताओं को सामने रखकर अन्य स्मृति को भुलाकर ही यह व्यवहार होता है। वास्तविक दृष्टि से ब्राह्मण और स्त्री बाहर के पदार्थ नहीं, वरन् ज्ञान मात्र हैं। प्रायः शब्दों का प्रयोग करते करते हम इस बात को भूल जाते हैं। जो हमने संज्ञा के बारे में कहा है, वही क्रिया, विशेषण इत्यादि सबके बारे में समझ लेना चाहिये। राम का जाना और कृष्ण का जाना एक न होने पर भी जाना से एक ही ज्ञान होता है। एक का लंगड़ा कर चलना, दूसरे का घिसट कर चलना, तीसरे का सीधा फौजी कदम, इन सब भेदों को भुलाकर के हमें चलने का ज्ञान होता है। अतः यहां हम धीरे-धीरे संज्ञान की तरफ बढ़ रहे हैं। मीमांसा की दृष्टि से तो नाम या यह संज्ञान जिसको वेदांती रूप ज्ञान कहते हैं, वस्तुतः एक ही है। रूप आंतरिक चीज को बताता है एवं नाम बाहरी चीज को। परन्तु दोनों एक ही सिक्के के दो तरफ हैं। डा० आर० एम० बक (Dr. R. M. Bucke) अपनी Cosmic Consciousness में लिखते हैं कि शब्द पदार्थ का वाचक है। प्रायः मनुष्य को आश्चर्य होता है कि विश्व के सर्वोच्च विचारक और एक सामान्य ग्रामीण पुरुष के दिमाग में, यदि देखा जाये तो, बहुत कम फरक दिखाई देता है। तब शंका होती है कि विचारक विश्व की इतनी अधिक चीजों को कैसे जानता है और ग्रामीण इतनी कम चीजों को क्यों। इतने पर भी ग्रामीण को यदि किसी नई चीज को सिखाया जाये तो वह बड़ी जल्दी थक जाता है और विचारक नहीं थकता। इसमें कारण क्या है? कारण बड़ा सरल है। विचारक के संज्ञान अत्यधिक होने से, वर्णन् संज्ञानों के भी संज्ञान

करते चले जाने से बहुत थोड़े से दिमागी काम से वह बहुत ज्यादा पदार्थों के विषय में जानकारी हासिल कर लेता है, और ग्रामीण को अनेक अनेक ज्ञान अथवा अनेक बार तो केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से ही ज्ञान करने के कारण बहुत ज्यादा दिमागी परिश्रम करना पड़ता है। यहां बहुत कुछ वैसा ही समझना चाहिये जैसे अंकगणित और बीजगणित का भेद। बीज गणित वाला एक सूत्र के द्वारा ग्रहण करके जितने सवाल हल कर लेगा, उतने अंकगणित वाला एक पूरी लेखपुस्तिका (नोटबुक) में नहीं कर सकता। अंकगणित में २ × २ = ४, ३ × ३ = ९, ४ × ४ = १६ इत्यादि प्रत्येक स्वतंत्र सूत्र है, जिन सबका संग्रह बीजगणित में ए × ए = ए² में हो जाता है। पांच रुपये सैंकड़ा पर एक साल का सौ रुपये का ब्याज, दो सौ रुपये का ब्याज, चार सौ रुपये का ब्याज अलग-अलग होगा। पुनः एक साल का, दो साल का, तीन साल का अलग अलग है। पुनः पांच प्रतिशत, सात प्रतिशत, नौ प्रतिशत का अलग अलग होगा। परन्तु (PRT/100) मूबूका ÷ १०० के द्वारा सभी दरों का, सभी समय का एवं सभी धनों का ब्याज निर्णीत हो जाता है। अतः समग्र ब्याज को समझने का यह बीज अंक की अपेक्षा अत्यधिक विस्तृत फिर भी अत्यधिक सूक्ष्म है। प्रायः करके हम अनुभूत ज्ञान और संज्ञान को अलग अलग करके नहीं समझते। कहा जा सकता है कि हमारा मानस जगत इन तीन दिशाओं में ही चलता रहता है। यहां तक कि कुछ लोगों का तो यह निश्चय है कि बस जगत का यही वास्तविक रूप है। वेदांत कहता है कि इस बात की परीक्षा करनी चाहिये कि यह जगत वस्तुतः ऐसा है अथवा हमारे कार्यकरण संघात के द्वारा ही उसमें ऐसी प्रतीति हो रही है। इसे समझने के लिये आवश्यक होगा कि हम ऐसे प्राणियों का अध्ययन करें जो केवल अनुभूत या अनुभूति रूप ज्ञान के स्तर पर चलने वाले हों। सौभाग्य से हमारे लिये यह आज के विज्ञान ने सम्भव कर दिया है। यदि एक बार इसका निश्चय हो जाता है तो हम इस चीज को भी जान लेंगे कि इन तीन दिशाओं से अतिरिक्त भी चौथी दिशा हो सकती है। इस चौथी दिशा को ही यहां श्रुति ने विज्ञान शब्द से कहा है।

इस बात को जब क्रिया की दृष्टि से अध्ययन करेंगे, तब स्पष्ट होगा। क्योंकि दूसरे प्राणियों का अध्ययन करते समय हम केवल क्रिया का अध्ययन करके ही अनुभूति अथवा ज्ञान को समझ सकते हैं। चार प्रकार की क्रियायें

हमारे देखने में आती हैं। प्रतिक्रिया (Reflex), संस्कार (Instinct), विचार (Rational) एवं स्वभाव (Automatic) रूप क्रियायें। प्रतिक्रिया उसे कहते हैं जहां गति के द्वारा किसी बाह्य प्रेरणा से कार्य किया जाता है। यह प्रतिक्रिया हमेशा एक जैसी ही होगी चाहे वह फायदे की हो, चाहे व्यर्थ की हो। चाहे उस समय उसका प्रयोजन हो और चाहे नुक्सान हो। इसका मूल कारण कोषा में तनाव ही होता है। यदि हम किसी एक कोषा वाले प्राणी को लें एवं उसके वातावरण में कोई ऐसा कार्य करें जो उसके परिवेश में परिवर्तन ले आये तो वह कुछ न कुछ प्रतिक्रिया करता है। जितना जितना परिवेश के अन्दर परिवर्तन अधिक होगा, उतनी ही उतनी प्रतिक्रिया भी अधिक होगी। परन्तु इनका आपस में कोई निश्चित अनुपात नहीं है। प्रतिक्रिया के लिये परिवेश के परिवर्तन की तीव्रता कुछ विशिष्ट परिमाण में होनी चाहिये। उससे कम होने पर कोषा कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। प्रत्येक अनुभूत चीज की छाया या वासना उस कोषा में बनी रहती है, जिसका नतीजा यह होता है कि अगली बार उसी प्रकार के परिवर्तनों के बारे में उसकी प्रतिक्रिया में भेद आ जाता है। देखने में आता है कि यदि उतनी ही तीव्रता के फिर स्पन्द दिये जायें तो क्रमशः आगे आने वाले स्पन्दों के प्रति प्रतिक्रिया तीव्र हो जाती है। परन्तु इसकी एक सीमा है जिसके आगे कोषा थक जाता है और फिर उसकी प्रतिक्रिया कम होती चली जाती है। अन्य भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि कोषा उस परिवेश के परिवर्तन के प्रति आदत वाला बन गया है। कोषा के लिये यह उसके स्थिर वातावरण का अंग हो गया है एवं कोषा, जब कभी परिवेश में परिवर्तन होता है, तभी प्रतिक्रिया करता है। निश्चित वातावरण में वह प्रतिक्रिया वाला नहीं रहता। यदि प्रारंभ में परिवर्तन इतना कम है कि कोषा में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, फिर भी यदि उतना ही कम परिवर्तन बार बार किया जाये तो अंत में कोषा प्रतिक्रिया करता है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि जहां प्रतिक्रिया नहीं है, वहां भी परिवेश के परिवर्तन का ज्ञान है और उसकी वासनाओं के संचय से अंततोगत्वा प्रतिक्रिया हो ही जाती है (Accumulated effect)। इस प्रकार एक कोषा के अध्ययन में ही हमें स्मृति, थकावट और आदत तीनों ही चीजों की प्राप्ति हो जाती है। कोषा को देखकर यह भ्रम होता है कि वह यदि चेतना वाला और सोचने

वाला प्राणी नहीं भी है तो कम से कम स्मरण करने वाला, आदत डालने वाला एवं थकने वाला प्राणी अवश्य है। इस प्रकार प्रतिक्रिया वाली क्रियाओं से हमारा तात्पर्य होता है जिसमें सारा प्राणी या उसका अंग कुछ परिवर्तनों के साथ इन तीन क्रियाओं को दिखाये। मनुष्य और पशु दोनों में हमें यह दिखाई देता है। ठण्डी हवा लगने पर या पीछे से किसी के स्पर्श कर देने पर मनुष्य का सारा शरीर कांप जाता है। सामने से किसी चीज के आने पर आंखें स्वतः बन्द होने लगती हैं। एक बार हम बंद मोटर में जा रहे थे और सामने कोई डोरी बंधी हुई थी। जैसे ही मोटर वहां से निकलने लगी तो मोटर के अन्दर बैठे हुए सब लोगों ने सिर नीचे कर दिया। यदि कोई आदमी पैर लटकाये कुर्सी पर बैठा हुआ हो और घुटने के नीचे उसे चोट मारी जाये तो उसका पैर आगे को चला जाता है। इन सब प्रतिक्रियाओं में किसी प्रकार की चेतना कार्य नहीं करती, एवं कई बार तो चेतना के विरुद्ध भी यह कार्य हो जाता है। प्रायः क्रिया होने के बाद ही हमें उसकी चेतना होती है। इन क्रियाओं में कोई लाभ हो, यह जरूरी नहीं। सामने यदि आग भी जल रही है तो घुटने के नीचे चोट मारते ही पैर आगे बढ़ जाता है। इसीलिये इन्हें प्रतिक्रिया से होने वाला कार्य कहा गया। संस्कार वाली क्रियायें उन्हें कहा जाता है जिसमें कोई न कोई लाभ छिपा हुआ है परन्तु चेतनापूर्वक वहां चयन भी नहीं होता और चेतनापूर्वक कोई उद्देश्य भी नहीं होता। जब अनुभूति सुख और दुःख के साथ मिलती है तब से ही इसका प्रारंभ होता है। समग्र पशु पक्षी जगत के अन्दर एवं अधिकतर मानवों के अन्दर भी क्रियाओं का उद्देश्य सुख की प्राप्ति या दुःख की निवृत्ति ही हुआ करती है। संसार के बीज ये दो, सुख दुःख का जोड़ा, ही हैं। जिस प्रकार चुम्बक के ऋणात्मक और धनात्मक ध्रुव एक तरफ से खींचते हैं, तो दूसरी तरफ से हटाते हैं, वैसे ही पशु सुख की तरफ खिचता है और दुःख से हटता है, और इसे करने में वह कई प्रकार की क्रियाओं को करता है। अनेक बार तो ये क्रियायें इतने अच्छे ढंग से की जाती हैं कि लगता है मानो इसमें विचार काम कर रहा है, और कहीं कहीं तो लगता है कि भविष्य की दृष्टि को लेकर यह कार्य किया गया है। चिड़ियां मौसम के अनुसार यात्रा करते हुए देश परिवर्तन करती हैं एवं बच्चे होने के पहले ही घोंसला बनाती हैं। परन्तु वस्तुतः सुख दुःख को केन्द्र बनाकर के ही विश्व के इतिहास

के करोड़ों वर्षों में अनेक प्रकार के पशु इस प्रकार की सुख दु:ख की वृत्तियों के द्वारा बनते रहे हैं। यदि ऐसे संस्कार से सुख होता है जो व्यक्ति या जाति को हानिकारक होता है, तो फिर शनैः शनैः वह व्यक्ति और जाति समाप्त हो जाती है, क्योंकि सुख के द्वारा आकृष्ट होकर उन क्रियाओं को करके अपना नाश कर लेते हैं। कहा जा सकता है कि संस्कार बड़े ही लाभदायक हैं परन्तु तभी जब लाभदायक पदार्थों में सुख भावना वाले हों। जहां हानिकर चीजों में सुख भावना हुई वहां वह संस्कार प्राणी को मृत्यु की तरफ ले जाता है। अधिकतर मानव भी पशुओं की तरह हैं। अत: जब उनमें ऐसी चीजों के प्रति सुख भावना हो जाती है जो हानिकर होती हैं तो उस मनुष्य जाति को भी वे संस्कार समाप्त कर देते हैं। परन्तु यह सत्य है कि सुख और दु:ख किसी लाभ या हानि को लेकर के नहीं हुआ करते वरन् लाभ और हानि सुख और दु:ख के अनुसार कार्य करने का फल होता है। प्राणियों के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि जो किसी एक प्राणी समूह के संस्कार पहले लाभदायक थे, वे बाद में जब हानिकारक हो गये तो वह पशु समुदाय विश्व के इतिहास से नदारद हो गया। गोरे रंग पर बर्फ का असर कम होता है क्योंकि बरफ के द्वारा जो रश्मियां निकलती हैं उन्हें कृष्णांश (Malanin Pigment) की कमी से त्वक् चूसता नहीं (Absorb), एवं इन स्थलों में सूर्य की तेजी तो होती ही नहीं जो नुकसान पहुंचाये। अतः जिस देश में शीत अधिक है वहां गोरा रंग यदि सुन्दर माना जाये तो लाभदायक है। जहां पर बर्फ नहीं होती एवं धूप अत्यंत तेज होती है वहां कृष्णांश के अभाव में सूर्य किरणें गहरी प्रविष्ट होकर अनेक रोगों को उत्पन्न कर देती हैं। अत: वहां गोरा रंग हानिप्रद है। ठण्डे मुल्क में रहने वाला व्यक्ति यदि किसी कारण से गरम मुल्क में पहुंच जाता है तो गोरे रंग को अच्छा मानने का संस्कार हानिप्रद हो जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। इसके बाद विचारपूर्वक करने वाली क्रियाओं का प्रसंग आता है अर्थात् वे क्रियायें जिनको करने वाला करने के पहले जानता है एवं जिसको वह बता सकता है, लक्षण कर सकता है, समझा सकता है। उसके कारणों का विवेचन कर सकता है एवं जिस उद्देश्य से कर रहा है, वह भी करने के पहले ही इष्ट होता है। स्वाभाविक क्रियायें वे हैं जो किसी को

पहले तो विचारपूर्वक करनी पड़ती थीं परन्तु बार-बार करने के कारण अब वे आदत से, बिना चेतना में लाये हुए ही कर ली जाती हैं।

इस प्रकार की चारों क्रियाओं को जब हम सूक्ष्म दृष्टि से सोचते हैं तो पता चलता है कि वे सभी चेतना द्वारा प्रसूत नहीं हैं अर्थात् बाह्य जगत के कुछ परिवेश को लेकर के ही ये क्रियायें होती हैं। मनुष्य मानो उन क्रियाओं के प्रति विस्फुटित होने वाला एक विचार विशेष है। कहीं वह इन क्रियाओं के स्वरूप को समझता है, कहीं समझता नहीं परन्तु हर हालत में वह उसमें स्वतंत्रता का अनुभव नहीं करता है। अधिकतर मानव इसी स्तर पर रहते हैं। अब इसके विचार से यह स्पष्ट हो गया होगा कि पशुओं के अनुभव और मानव के अनुभव में आधारभूत रूप से यह भेद क्यों होता है ? पशुओं को नीचे की दो क्रियाओं से ही काम चलाना पड़ता है। चेतन क्रियायें उनके लिये सम्भव नहीं हैं। इसका मूल कारण ही यह है कि उनमें भाषा नहीं है। संस्कार से क्रिया करने पर केवल अनुभूति से काम चल जाता है। प्रायः ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं होती और संज्ञान की तो सर्वथा नहीं होती। जहां जानने का प्रसंग आता है, वहीं पर निर्णय और युक्ति का प्रवाह प्रारंभ होता है। स्वयं मानव में इन तीन की प्रधानता से ही तीन प्रकार के न्याय शास्त्र का निर्माण होता है। नैयायिकों के विचार की सरणि है क क है, क अक नहीं है। विश्व के सभी पदार्थ या क हैं या अ क हैं। सांख्य का विचार है कि–जो क था वह क रहेगा, जो अ क था वह अ क रहेगा, जो था और होगा वह या क होगा या अ क होगा। पाश्चात्य देशों में अरस्तु और बेकर इन्हीं दो विचारधाराओं के समर्थक रहे हैं। पशु और अनुद्बुद्ध मानव इस प्रकार नहीं सोच सकते क्योंकि उनके लिये प्रत्येक पदार्थ अलग-अलग है। उनके सोचने का तरीका है, यह यह है, यह वह नहीं है, वह वह है। अतः प्रत्येक मकान पशु जीवन में अलग-अलग रहता है। कुत्ते को जिस घर में दुलार और रोटी मिलती है और जिस घर में दुत्कार और डण्डे मिलते हैं उन दोनों घरों में कोई समानता नज़र नहीं आती। कुत्ते की वफादारी का लम्बा चौड़ा वर्णन कवि भाषा से लोग किया करते हैं, परन्तु वस्तुतः यह उसकी मूर्खता का ही द्योतक है क्योंकि वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की समानताओं को देख नहीं सकता।

परन्तु इन दोनों से महत्तर वेदांत की विचार सरणि है जो भौतिकी (Physics) के अंतिम परिणामों या गणित के अंतिम परिणामों को छोड़कर पाश्चात्य वैज्ञानिकों की आज तक समझ में नहीं आ पा रही है। वेदांत की सरणि है कि क अ क और क भी है, सभी कुछ एक साथ ही क और अ क दोनों हैं। जिस प्रकार पशु न्याय को नहीं समझ सकता, न्याय सांख्य को नहीं समझ सकता, उसी प्रकार कुछ अति मानवों को छोड़कर सांख्य वालों की भी समझ में वेदांत नहीं आ सकता। न्याय की दृष्टि में काल का प्रवेश नहीं है, अतः काल के परिवर्तनों की तरफ वह ध्यान न देकर केवल दिक् में स्थित पदार्थों की तरफ ही ध्यान देता है। सांख्य परिणामवादी होने के नाते काल की तरफ भी ध्यान देता है एवं यह बताता है कि जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में एक सा रहेगा, उस एक रूप को ही 'क' कहा जा सकेगा। और वही पदार्थ का वास्तविक रूप होगा। मोटी भाषा में कहा जाये तो न्याय की दृष्टि में नकटा आदमी और नाक वाला आदमी अलग-अलग है। परन्तु सांख्य की दृष्टि में नाक कट जाने मात्र से वह आदमी दूसरा नहीं हो जाता। स्वयं न्याय की परिभाषा देखें तो उनका पक्ष होता है कि सौ सूत्र के पट में से जब एक सूत्र निकल गया तो सौ सूत्र वाला पट नष्ट हो गया और ९९ सूत्र वाला पट पैदा हो गया। यही आरंभ वाद है। साँख्य में इससे आगे जाकर सूत्र के ही परिवर्तन को पट माना गया है। अतः सूत्र ही वस्त्र के रूप में बन गया, यह स्वीकार करता है। वेदांत की दृष्टि में सूत वस्त्र है भी और नहीं भी है। क्योंकि सूत सूत रहते हुए ही वस्त्रवत् प्रतीत होता है। यही विवर्तवाद है। मानव की दृष्टि यहीं तक पहुँच सकती है क्योंकि यहां पहुंचकर मानव अतिमानव या देव बन जाता है। इसके बाद की दृष्टि आगे बनेगी। यह इस मंत्र का विषय नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस विज्ञान को यहां कहा जा रहा है, वह अननुभूत अनुभूति है। यह जब तक नहीं होता तब तक मनुष्य हमेशा ही मन और इन्द्रियों के अधीन रहता है और जिधर कहीं मन और इन्द्रियां इसको गिराने चली जाती हैं, उधर ही यह पहुंच जाता है। ऐसे मनुष्य की स्वतंत्रता भी बुद्धिमानों में करुणा उत्पन्न करती है। उनकी प्रतिक्रिया, उनके संस्कार उनके अभ्यास, उनके विचार सभी सुख और दुःख के द्वारा नियंत्रित होने के

कारण उनको किस किस गहरे गड्ढे में पटकता है, इसका उन्हें ज्ञान भी नहीं होता। विज्ञान, जिसे आगे बतायेंगे, वह स्वतंत्र दृष्टि है जिसकी प्राप्ति के बिना व्यक्ति अंधा यद्यपि है। वह चलने में स्वतंत्र है, उसकी चलने की स्वतंत्रता छीन नहीं ली गई है, परन्तु आंख की रोशनी के अभाव में उस स्वतंत्रता का उपयोग वह कभी कांटों पर पैर रखकर करता है और कभी गड्ढे में गिर कर। जैसे वह करुणा का पात्र होता है, वैसे ही अधिकतर मानव इस प्रकार के कार्य करते हैं जो उन्हें नरकाग्नि में डालें, परन्तु फिर भी बुद्धिमान को उनके ऊपर क्रोध न आकर करुणा ही आती रहती है। फरक केवल इतना है कि अनेक आंखों वाले प्राणियों में दो-चार अंधे होते हैं। अतः वे अंधेपन का अनुभव करते हैं और कोई यदि उनको हाथ पकड़कर ले जाना चाहता है तो उसका उपकार मानते हैं। परन्तु चूंकि मानवों में अधिकतर विज्ञानहीन हैं, अतः एकाध विज्ञान दृष्टि वाला किसी को मार्ग दिखाना भी चाहता है तो वे समझते हैं कि हम तो सब कुछ जानते हैं और यह नहीं जानता। बहुत कुछ इस प्रकार की परिस्थिति है कि लाखों अंधे शहर में रह रहे हैं और रोज ही एक कुएं में सड़क के बीच में से निकलते हुए दो चार गिरते रहे हैं। कोई एक आंख वाला आकर उनसे कहता है कि इस रास्ते नहीं जाना, नहीं तो गिरोगे तो वे सारे के सारे कहते हैं कि इधर ही जाकर तो हमें खाने की चीजें मिलती हैं। तुम हमें भूखा मारना चाहते हो, इसी रास्ते से हमारे पूर्वज भी जाते रहे हैं, हमारे सब साथी जाते रहे हैं, तुम्हारे कहने से हम स्थिर मार्ग का परित्याग कैसे कर दें। परन्तु क्या इतने पर भी उस आंख वाले के हृदय में उनके प्रति आक्रोश आयेगा? ज्ञानी के हृदय में इसीलिये किसी भी प्राणी के प्रति कभी भी करुणा के सिवाय और कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। यहां श्रुति भी अविज्ञानवान् के बाद अयुक्त मन और दुष्ट इन्द्रियों का निरूपण करके यह बता रही है कि जब तक इस विज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक केवल विधि प्रतिषेध शास्त्रों के बल से न तो मन ही समाहित हो पाता है और न इन्द्रियां ही ठीक हो पाती हैं। यह बात दूसरी है कि सामान्य व्यवहार करने के लिये कुछ थोड़ा बहुत यदि कर लिया जाता है तो मनुष्य अनेक दुःखों से बच जाता है। परन्तु इन्द्रियों को वश में क्यों किया जाये, मन को एकाग्र क्यों किया जाये आदि क्यों तब तक समझ में नहीं आ सकते जब तक इस विज्ञान की प्राप्ति न हो जाये।

ग्रौर विना समझे पूरे जोर के साथ कोई भी साधन करना सम्भव नहीं होता। इसीलिये वेदांत बार-बार पहले समझने पर जोर देता है।

: ६ :

अब उससे विपरीत विज्ञानी के स्वरूप को बताते हैं :--

यः तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्य इन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वाः इव सारथेः॥

य: =जो
तु =तो
विज्ञानवान् =विज्ञानवान्
सदा =सदा
युक्तेन =समाहित
मनसा =मन के साथ
भवति =होता है,
सारथेः =सारथी के
सदश्वाः =अच्छे घोड़ों की
इव =तरह
तस्य =उसकी
इन्द्रियाणि =इन्द्रियां
वश्यानि =वश में हैं।

जो विज्ञान वाला अर्थात् विवेकी सारथी होता है, वह लगाम को ठीक वश में रखकर घोड़ों को भी दांत बना लेता है। उसी प्रकार यहां पर भी विज्ञान वाली बुद्धि मन को समाहित करके इन्द्रियों को प्रवृत्ति और निवृत्ति में ठीक प्रकार से लगाने में समर्थ हो जाती है। विषय स्मरण वाले चित्त के निग्रह कर लेने पर विषय विकल्प ग्रौर मन का निग्रह स्वतः हो जाता है ग्रौर फिर कर्त्तव्य ग्रकर्त्तव्य दोनों ही करना सरल हो जाता है। लौकिक सारथि भी घोड़े को धीरे-धीरे शिक्षा देता है ग्रौर लगाम के हल्के स्पन्दों को समझना सिखाता है। फिर यहां तो मनरूपी लगाम के द्वारा इन्द्रियों रूपी घोड़ों को सिखाना तो कर्त्तव्य ग्रौर ग्रकर्त्तव्य के लिये बहुत ही ग्रधिक ग्रावश्यक है। वश्यानि का ग्रर्थ वशंगता होता है। तात्पर्य है कि जब तक घोड़ों को निरंतर नियंत्रण में लेना पड़ता है तब तक वह वश्य नहीं हैं, वरन् जब वे स्वभाव से ऐसा करने लगें तभी उनको वश्य मानना चाहिये।

संज्ञान के बाद विज्ञान की ग्रवस्था यहां बता रहे हैं। विज्ञान ग्रनंत को जीवन का ग्रंग मानकर चलता है। जब कभी हम ग्रपनी ग्रनुभूति में से किसी भी ऐसी ग्रनुभूति को प्राप्त करते हैं जिसमें वे सब ग्रनुभूतियां गतार्थ

हो जायें तब ज्ञान बनता है। उसी प्रकार समग्र संज्ञानों को जिसके अन्दर लीन कर लिया जाये, वह विज्ञान होता है। एक-एक पदार्थ को देखने वाले के सामने जब अकस्मात् उन सारे पदार्थों को केवल एक ज्ञान में संगृहीत कर लिया जाता है तो उसे लगता है कि आज तक के जितने उसके अनुभव थे, वे सब समाप्त से हो गये और वह ज्ञान उसको इतना गहन और गम्भीर लगता है कि उसका सिर चकराने लगता है। बहुत कुछ इसी प्रकार से जब समग्र संज्ञानों को हम विज्ञान के अंतर्गत करने का प्रयत्न करते हैं तो लगता है कि हमारे समुद्रों जैसे संज्ञान एक विज्ञान बिन्दु में चले गये। प्रायः लोग कहते हैं कि आत्मज्ञानी परमात्मा में ऐसा लीन हो जाता है जैसे बूंद समुद्र में। परन्तु बिवेकी को तो ऐसा लगता है कि वस्तुस्थिति ठीक इससे विपरीत है। अनुभव ऐसा नहीं होता कि मैं बूंद समुद्र में चला गया, वरन् यह होता है कि अनंत कोटि ब्रह्माण्ड रूपी समुद्र ही मेरे में लीन हो गया। अतः समुद्र ही बूंद में लीन हो जाता है और तब मनुष्य को लगता है एक अजीब भय, घबराहट और एक तरह की आंतरिक पीड़ा या दुःख। क्योंकि उसने जो कुछ समझ रखा था, वह सब उसके हाथ से निकल जाता है। कुछ दिन पहले हमने अनुभव किया कि जब दशमलव प्रणाली को हमारे पैमानों में शामिल किया गया तो जो लोग छटांक सेर आदि के गुर याद किये हुए थे और उसके बल पर अपने को बड़ा अनुभवी मुनीम मानते थे, वे सोचने लगे कि हमारी तो सारी उपयोगिता ही चली गई। इसी प्रकार संगणकों के आने पर जो बहुत से लोग ४० तक के पहाड़े और ढूंचे याद किये हुए होते हैं वे बच्चों को एक खटका दबाते ही उन सवालों को हल करते देखकर यह सोचते हैं कि हमारा तो सब कुछ नष्ट हो गया, एवं प्रयत्न करते हैं कि किसी न किसी प्रकार से ये संगणक या खराब हो जायें या गलत हिसाब कर दें। इन छोटी सी चीजों में भी मनुष्य अपनी पूर्व वासनाओं के कारण उनमें अटकना चाहता है। सारे संज्ञानों को संग्रथित करने वाला जो विज्ञान अर्थात् ब्रह्म दृष्टि है, उसके आने पर समग्र कर्मकाण्डी, उपासना काण्डी, भौतिक वैज्ञानिक आदि यह अनुभव करते हैं कि आज तक जो कुछ समझा था, वह सब चला जा रहा है। और स्वभावतः उसमें उनको भय लगता है। उन्हें लगता है कि एक गहरे कुएं में गिर रहे हैं, अतः आंतरिक पीड़ा और दुःख का अनुभव होता है। शनैः शनैः यह भय और पीड़ा नवीन सत्य के दर्शन

के आनंद में बदल जाती है। यही आत्मा के अंधकार युग के नाम से अनेक आध्यात्मिक दर्शनों में कहा गया है। जब तक पुराना संसार छूटे नहीं, तब तक इस नव संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक राम, शाम, कृष्ण, जान, बेकर, सलीम, इस्माईल आदियों के भेदों को भूलें नहीं तब तक मानव को नहीं समझ पाते। अत: शुरू शुरू में एक प्रकार का विक्षेप होना स्वाभाविक है। पहले पहल जब किसी को समझाया जाता है कि तुमको रोटी देने वाला और डण्डा मारने वाला दोनों ही मानव अर्थात् एक ही हैं, तो कितनी घबराहट होती है और मन विप्लव करता है। इस चीज को नहीं समझता। लगता है मानो इन सर्वथा भिन्न चीजों को कोई आदमी जबरदस्ती एक कहने का प्रयत्न कर रहा है, और हम से भी मनवाने का प्रयत्न कर रहा है। बहुत कुछ इसी प्रकार का अनुभव होता है जब हम विज्ञान राज्य में प्रविष्ट होते हैं। इसीलिये वैराग्य को इतना अधिक बल दिया गया क्योंकि अब तक जिसको हमने पकड़ा था, उसको छोड़ना आवश्यक है। और इस छोड़ने में सबसे ज्यादा जिस चीज को छोड़ना है, वह है अपने विचार के प्रकार को। हमने यह मान रखा है कि विचार का प्रकार तो जैसा है, वैसा ही रहेगा और उसके रहते हुए ही ब्रह्म दृष्टि बन जायेगी। परन्तु यह असम्भव है, क्योंकि व्यक्ति को व्यक्ति देखते हुए ही जाति का ज्ञान होना तब तक सम्भव नहीं, जब तक सब व्यक्तियों में अनुस्यूत जाति को हम नहीं देख पायें। पदार्थों को सुख और दुःख के संदर्भों में जब तक हम देखते रहेंगे तब तक ब्रह्म दृष्टि सर्वथा असम्भव है। इस चीज ने मुझे आज सुख दिया, अत: कल भी सुख देगी, का मतलब है कि जो क था वह क है और क रहेगा। नई दृष्टि कहती है कि क क है और अ क भी है, अत: जिस पदार्थ में सुख देने की सम्भावना है, उसी पदार्थ में दुःख देने की भी सम्भावना है। जब यह समझ में आता है तब फिर पदार्थों के प्रति वास्तविक वैराग्य उत्पन्न होता है। यह विश्व हमारे कार्यकारण संघात के द्वारा संकुचित (Conditioned) हुआ हुआ है एवं इस संकोच के कारण जो भी भूलें हो रही हैं उन्हीं को वेदांत में अविद्या शब्द से कहा जाता है।

एक गेंद और एक गोल पतरा जब आंखों से देखा जाता है तो वस्तुत: ठीक एक जैसा ही दीखता है। यदि कोई पशु अब उस पतरे के चारों तरफ घूमने का प्रयत्न करता है तो वह पतरा धीरे-धीरे केवल एक लकीर मात्र

रह जाता है। और फिर जैसे-जैसे वह पीछे जाता है वैसे-वैसे वह पुनः बड़ा बनकर पहले जैसा ही हो जाता है। दूसरी तरफ जब वह गेंद के चारों तरफ जाता है तो उसको भिन्न-भिन्न प्रकार के दूसरे अनुभव होते हैं परन्तु किसी भी स्तर पर उसे पहले जैसे अनुभव से भिन्न अनुभव होता है। इन भिन्न अनुभवों के कारण वह ऐसा मानता है कि पदार्थ बदलता जा रहा है। इसी प्रकार जब कोई घोड़ा किसी मकान के सामने से निकलता है तो मकान के कोनों में जो भेद आता है और उसके कारण जो उसे भेद का अनुभव होता है वह उसे लगता है कि पदार्थों में परिवर्तन से हो रहा है। वह उसे एक ही पदार्थ के कोनों को समझने में समर्थ नहीं होता। मनुष्य संज्ञान के कारण ऐसे भ्रम में नहीं पड़ता परन्तु महत्तर पदार्थों के विषय में उसे ऐसा भ्रम होता ही है। सूर्यास्त के समय घूमने जाने पर कुछ दूर आगे बढ़कर जब हमें दूसरा दृश्य नज़र आता है तो लगता है मानो दृश्य बदल रहा है, जबकि सम्भावना यही है कि हम जिस पूर्व कोने से दृश्य को देख रहे थे, उस कोने से इस समय भी वही दृश्य वर्तमान हो। प्राचीन ग्रन्थों में सर्दी का और गर्मी का सूर्य अलग-अलग माना गया, क्योंकि एक में गर्मी ज्यादा थी और एक में कम थी। इसी प्रकार यद्यपि संज्ञान के कारण हमको प्रतिदिन वही सूर्य आते हुए लगता है, परन्तु वही प्रभात आया, ऐसा नहीं लगता, वरन् प्रतीति होती है कि एक नया प्रभात आया है। इसी प्रकार वही रात्रि आई, ऐसी प्रतीति न होकर के नई रात्रि आई है, ऐसी ही प्रतीति होती है। इसी को कुछ और आगे बढ़ा दें तो जन्म मृत्यु में भी यही बात है। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म हमें अलग-अलग लगता है और प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु भी हमें अलग-अलग लगती है। जन्म और मृत्यु की एकता सब में होने पर भी अनुभूति या संस्कार के स्तर पर उतर नहीं पाती। ठीक इसी प्रकार से यह सारे ब्रह्माण्ड वस्तुतः एक ही तत्व है परन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखे जाने पर हमें उसमें जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसे हम कभी देश के कारण मानते हैं, कभी काल के कारण। वस्तुतस्तु केवल दृष्टिकोण के भेद से ही यह भेद है। दृष्टिकोण का भेद कहने पर संसार की अनुभूति के आधार पर सोचने वाला पुनः यही मानता है कि जीवात्मा इन भिन्न-भिन्न पदार्थों के सामने जाता होगा, परन्तु ऐसा कुछ नहीं है। जैसे एक दूरवीक्षण यंत्र (Telescope) को लेकर हम आकाश के भिन्न-भिन्न स्तरों में एक ही स्थल पर खड़े हुए केन्द्र बदलकर

आकाश भेद का दर्शन करते हैं, बहुत कुछ उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। पौराणिक भाषा में इसे स्पष्ट करने के लिये योगवाशिष्ठ के अन्दर लीलोपाख्यान का वर्णन किया गया है। एक ही काल में लीला का पति अनेक लोकों में युगपत् व्यवहार करता हुआ दिखाया गया है। उस पौराणिक ढंग का तात्पर्य इतना ही है कि आत्मा को कहीं जाने आने की आवश्यकता नहीं और न काल आदि भेद की आवश्यकता है, वरन् देश और काल के बिना ही अपने दृष्टि भेद से वह भेद करता चला जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से सोचा जाये तो सामने बैठे हुए एक व्यक्ति को हम स्थिर भाव से बैठे हुए भी केशव, भारतीय, हिन्दू, मूर्ख, ब्राह्मण, पंजाबी इत्यादि रूप से देखते चले जाते हैं। न सामने का व्यक्ति बदलता है और न हम बदलते हैं। ठीक इसी प्रकार से न ब्रह्म का केन्द्र बदलता है, न आत्मा का केन्द्र बदलता है, वरन् आत्मा अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से दृष्टि भेद करता हुआ अनंतकोटि ब्रह्माण्डों का भिन्न-भिन्न दिक् से दर्शन करता चला जाता है। पूर्व दृष्टांत से यदि भेद है तो केवल यही कि वहां सामने कोई चीज बैठी हुई है, यहां उसकी भी आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि के बनने पर किसे सुख का आधार माना जाये, किसे दुःख का आधार माना जाये, किसे अच्छा और किसे बुरा माना जाये। सभी एक रूप हो जाता है। चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक ताओ ने एक जगह कहा है कि ताओ एक साथ ही दहिने भी है, बायें भी है। ताओ बिना किसी कोने का एक बड़ा भारी वर्ग है, ऐसी भयानक आवाज है जो सुनी नहीं जाती, ऐसा आकार है जो देखा नहीं जाता। जो ताओं को देखता है, वह ताओ ही हो जाता है। इसी प्रकार के अनेक अनुभव इस स्थिति में पहुंचने पर मनुष्य को होते हैं। किसी अन्य विज्ञानी ने अपना अनुभव कहते हुए कहा है कि एक बार शिव ने मुझे पूछा कि क्या तुम्हें अपनी आत्मा प्रिय है या मेरी। मैंने जवाब दिया कि आप व हम इतने एक हो गये हैं कि सिर से पैर तक आपके सिवाय और कुछ है ही नहीं। मैं रह ही कहाँ गया हूं। अतः मैं जब आत्मा को प्रेम करता हूं तब भी आपको ही प्रेम करता हूं, और जब आपको प्रेम करता हूं तो अपनी आत्मा को छोड़कर और किसको प्रेम करता हूं? जैसे पत्थर को काटकर जब मूर्ति बना ली जाती है तो क्या पत्थर और मूर्ति दो हो जाते हैं? इसी प्रकार जब मैं शिव रूप हो गया तो अब दो कहां रहे। इस प्रकार की अनुभूति

यद्यपि हमें उस स्थिति का संकेत देती है और यह बताती है कि समग्र अनुभूतियों की एकरूपता एवं समानता ब्रह्म दृष्टि का परम उन्मेष है। परन्तु वास्तविक वह अनुभव कहाँ है इसे कहना असम्भव है। हमने ऊपर वेदांत के विवर्तवाद की विचारसरणि को जो बताया, वह इसलिये नहीं कि उस विचारसरणि से हमें ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। विचार, युक्ति, तर्क कभी भी नया ज्ञान देने में समर्थ नहीं होते बल्कि उसको बताने का एकमात्र उद्देश्य यही है कि हम उस नव अनुभूति के लिये कम से कम बौद्धिक स्तर पर तैयार हो जायें जिससे उस नव अनुभूति के प्रति जो एक भौतिक आशंका और पीड़ा है, वह न रह पाये। इसके साथ-साथ ही एक बात और है। जब दो अनुभूतियों का संघर्ष होता है तब स्वभावतः युक्ति के आधार पर ही उसका हल निकाला जाता है। यदि न्याय या सांख्य की दृष्टि के अनुसार सोचेंगे तो विज्ञान असत्य सिद्ध होगा, परन्तु यदि विवर्तवाद की दृष्टि से देखेंगे, तो विज्ञान की अनुभूति सच्ची सिद्ध होगी, और संज्ञान आदि उसी के परिच्छिन्न रूप नज़र आयेंगे। ज्ञान से अनुभूति पर प्रकाश पड़ता है। अनुभूति छिप नहीं जाती, परन्तु ज्ञान के अभ्यस्त हो जाने पर हम पदार्थ को देखते समय एक साथ ही पदार्थस्थानुभूति को ग्रहण कर लेते हैं। हमें बार-बार उसके रूप, रस आदि को मिलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार संज्ञान के विषय में समझना चाहिये। विज्ञान और अनुभूति का विरोध नहीं है। परन्तु उन पर नवीन प्रकाश डालना है। धीरे-धीरे जब उसका अभ्यास हो जाता है तब हम पदार्थों को अलग-अलग ग्रहण न कर उसे एक अखण्ड सत्ता रूप से ही ग्रहण करने के आदी बन जाते हैं। यही ज्ञान-निष्ठा है।

पदार्थों का इस अनंतता से सम्बन्ध समझने के लिये जैसे हमने पहले भी संकेत किया था, हमारे पास आधुनिक भौतिकी और आधुनिक गणित ये दो ही साधन हैं। गणित के अन्दर अनंत संख्या का जो गणित है वह सामान्य गणित से बिल्कुल भिन्न प्रकार का है (Mathematics of transfinite numbers)। यहाँ अनंत के आगे की संख्याओं का विचार किया जाता है और प्रतिदिन के गणित शास्त्र में ∞ के पहले की संख्याओं का विचार किया जाता है। ∞ (अनंत) की विशेषता यह है कि इसके साथ भाग गुणा सब कुछ किया जा सकता है, परन्तु यह सब करने पर भी अनंत अनंत ही बना रहता है, अर्थात्

$\infty + \infty = \infty$; $\infty \times \infty = \infty$ आदि। यद्यपि ∞^{∞} अनंत की अपेक्षा अनंत गुणा बड़ा है, परन्तु फिर भी दोनों बराबर हैं। यही ∞ की विशेषता है। तात्पर्य यह है कि ये संख्यायें परिवर्तित होते हुए भी एक जैसी अर्थात् अपरिवर्तित बनी रहती हैं। सांत संख्याओं के गणित में यह नियम लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिवर्तन करने के बाद सांत संख्या अपरिवर्तित नहीं रह सकती। परन्तु अनंत में यही होता है। यदि अनंत संख्याओं के नियमों को हम सांत संख्याओं में लाना चाहेंगे तो कभी ठीक से काम नहीं कर सकते। परन्तु क्या इतने मात्र से अनंत संख्याओं के गणित को गलत माना जा सकता है। यदि ऐसा मान लिया जायेगा तो आधुनिक सारी ही ज्योतिभौतिकी एवं परमाणु भौतिकी (Astral and Nuclear Physics) गलत सिद्ध हो जायेंगी। एक इंच की लाइन में भी अनंत बिन्दु हैं, क्योंकि बिन्दुओं में कोई लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती; एवं एक मील लम्बी लाइन में भी अनंत बिन्दु ही हैं। अतः अनंत की दृष्टि से देखने पर एक इंच और एक मील बराबर हैं। परन्तु फिर भी एक मील के अनंत बिन्दु एवं एक इंच के अनंत बिन्दुओं में घटोत्री बढ़ोत्री भी विद्यमान है। मोटी भाषा में कह सकते हैं कि सांत गणित में काल और स्थान की एकता पर जोर है, अर्थात् एक ही क्षण में एक परिमाण वाले दो पदार्थ एक-दूसरे के बराबर हैं, परन्तु यदि परिमाण परिवर्तन होने वाला हो जाये और उसे भिन्न-भिन्न क्षणों में लिया जाये तब वह स्वयं अपने बराबर ही नहीं रह पायेगा। यहाँ कुछ पंडितम्मन्य कह बैठेंगे कि वह पदार्थ परिवर्तित हो रहा है क्योंकि उसमें दूसरा माप आ रहा है। परन्तु यही चीज हमें उसे समझने को बाध्य करती है, एवं वर्तमान भौतिकी का आधार ही यह है। इसे जरा विचारपूर्वक स्पष्ट करेंगे।

यदि एक इंच के छड़ को हम ९३,००० मील प्रति सेकेण्ड की गति से चला दें तो वह छड़ वैसी की वैसी बिना किसी परिवर्तन के आधी इंच की हो जायेगी, और सिद्धान्ततः यदि उस छड़ को १,८६,००० मील प्रति सैकेण्ड की गति से चला दें तो उसका परिमाण शून्य हो जायेगा। वजन के साथ भी ऐसा ही होता है। यदि यह माना जाये कि गति के कारण छड़ छोटी हो गई या हल्की हो गई तो उसके साथ ही दूसरा प्रयोग किया जाता है। यदि हम छड़ के ऊपर बैठकर उसी गति से चलते रहें अथवा किसी भी

यान में उस छड़ को रख लें जिसमें हम भी बैठे हों तो वह छड़ एक इंच की ही बनी रहेगी और उसका वजन भी उतना ही रहेगा। अतः छड़ में परिवर्तन नहीं माना जा सकता और फिर भी परिवर्तन है ही। यह चीज प्रयोगात्मक ढंग से आधुनिक भौतिकी दिखा चुकी है। अतः एक साथ ही भिन्न-भिन्न द्रष्टाओं के लिये एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न परिमाण सिद्ध होते हैं। अतः अनंत की गणित या परिमाण भौतिकी की दृष्टि से एक माप अपने से ही बराबर नहीं होता है, एवं भाग भी पूरे के समान हो सकता है; या पूरे से वड़ा भी हो सकता है। दो वराबर चीजें एक दूसरे से करोड़ों गुना बड़ी हो सकती हैं। सारे भिन्न-भिन्न परिमाण एक दूसरे के बराबर हो सकते हैं, यह कहा जा सकता है। परमाणु में जो गति होती है उनके अध्ययन के आधार पर इन तत्वों को सिद्ध किया गया है। परन्तु जैसा पहले कहा है कि सांत पदार्थों में तो हमें चूंकि पृथ्वी की एकसी गति वाले पदार्थों का ही अध्ययन करने में आता है, अतः इन नियमों का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु फिर भी कहीं-कहीं इन नियमों की आवश्यकता पड़ ही जाती है क्योंकि अंततः प्रत्येक पदार्थ में अनंत परमाणु विद्यमान हैं और उन परमाणुओं की गति का असर पदार्थ पर पड़ता ही है। जैसा एक बार आइंस्टाईन ने कहा था कि जब हम किसी पदार्थ के परमाणुओं की गति का विचार करते हैं तो ९० से ९८ प्रतिशत परमाणु तो एक जैसा व्यवहार करते हैं परन्तु एक या दो प्रतिशत भिन्न प्रकार का व्यवहार कर बैठते हैं और फिर हँसकर उन्होंने कहा कि उन्हीं को मानवीय भाषा में महापुरुष (Genius) कहा जा सकता है। इसी प्रकार सांत पदार्थों को देखने वाले मानवों में जिस किसी को इस अनंत दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है, वह औरों से भिन्न दृष्टि वाला बन जाता है। यद्यपि यह कह दिया जाता है कि यह दृष्टि ग़लत है और हमारी परिच्छिन्न दृष्टि ही ठीक है, परन्तु भौतिकी एवं गणित की दृष्टि से हम दिखा आये हैं कि यह मानना असम्भव है। सत्यता तो यह है कि यह अनंत दृष्टि ही वास्तविक है एवं उसके एक अंश (Segment) को ही सांत जगत कहा जा सकता है। इस प्रकार के अनंत सांत जगतों से विराट् बनता है। प्राचीन भाषा में इसीलिये अनंत कोटि ब्रह्माण्ड कहे गये हैं। यद्यपि यह अध्यात्मवाद है परन्तु विज्ञान शब्द का प्रयोग यह भी

कहता है कि जब तक विज्ञान इस विज्ञान को प्राप्त नहीं करेगा, तब तक अपूर्ण ही बना रहेगा। पाश्चात्य वैज्ञानिक अपने आपको सांत पदार्थों में सीमित करके ही चलते रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध ही से भौतिकी एवं गणित में उनकी यह सांतता कुछ टूटने लगी है। परन्तु जब तक यह अनंतता की दृष्टि विज्ञान में परिप्लावित नहीं हो जायेगी तब तक विज्ञान पूर्ण नहीं हो पायेगा। अब तक तो इस अनंतता की दृष्टि को वह अध्यात्मवाद (Mysticism) इत्यादि नाम देकर के वह है ही नहीं, यह कहते रहने का प्रयत्न करता रहा है। जिस दिन गणित ने दो की कल्पना की, उसी दिन मानो गणित ने पशु राज्य को छोड़ दिया। तात्पर्य है कि हमें हमेशा पदार्थ अलग-अलग दीखते हैं, परन्तु दो की संख्या में उन पदार्थों का एक अद्भुत प्रज्ञान है जिसका कोई भी आधार इन्द्रियों के द्वारा नहीं मिल सकता। उसीने दो, तीन आदि की कल्पना का प्रवेश करा दिया। कभी-कभी हमको लगता है कि जिस किसी ऋषि ने सबसे पहले दो की कल्पना की होगी उसने अवश्य साक्षात् परमेश्वर का ही दर्शन करके इस कल्पना को जन्म दिया होगा। आज मनुष्य कह देता है कि दो और दो चार होते हैं, इसमें संदेह नहीं हो सकता। यह उस ऋषि के प्रातिभ ज्ञान की हमारी चेतना में दृढ़तापूर्वक निष्ठा हो जाना ही है। क्योंकि आज तक किसी ने दो को नहीं देखा और न देखने की कोई सम्भावना ही है। इसी प्रकार जीव ब्रह्म ही है और जगत ब्रह्म ही है, ऐसी भी दृढ़ निष्ठा किसी समय प्राणिमात्र के अंतःकरण में हो जायेगी, ऐसी आशा करना दुराशा तो कही ही नहीं जा सकती। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इसमें प्रवेश करने के पहले हमने जो अपने गलत विचार के तरीके अपना लिये हैं, विशेष करके तर्क की प्रणाली, उसे हम छोड़ पायें। कविता, अध्यात्म, ज्ञान, दर्शन प्रत्येक युग में हमारे सामने उन रहस्यों को खोलता है जो हमें उस अनंत जीवन में प्रवेश करने का मार्ग दिखाते हैं। परन्तु हम अपने उन अधिकारों को छोड़ बैठे हैं और अपने को परिच्छिन्न केवल इस पृथ्वी का मानव मात्र मानना चाहते हैं। ऐसा नहीं है कि यह लोक और परलोक दो हों क्योंकि बार-बार श्रुतियों का उद्घोष है कि जो यहाँ है वह वहाँ है, और जो वहाँ है, वह यहाँ है। परन्तु यह तो स्वाभाविक ही है कि पुरानी विचार प्रणाली को यह विज्ञान

धक्का देकर समाप्त करे और जिसको हम अब तक दृश्यमान जगत समझते रहे हैं वह एक काल्पनिक और असत्य जगत लगने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि आज तक जो कुछ भी अनुभव में आया है, वह सब धुएं की तरह उड़ा चला जा रहा है। जिस प्रकार बादलों से बने चित्र को देखने के बाद अकस्मात् हवा से बादलों के बिखर जाने पर प्रतीत होता है, वैसे ही यहाँ भी होने लगता है। पहले ऐसा लगता है कि मानो एक अनंत शून्य आकाश के अन्दर हम अकेले हो गये हैं और फिर अकस्मात् वह आकाश भी गायब हो जाता है। केवल एक अनंत बचा रहता है और वह अनंत स्वयं मैं हूँ। निरंतर और नित्य यह अनंत बँटता हुआ और पुनः एक होता हुआ प्रतीत होता है। इस नये जगत को एक क्षणमात्र देखने के बाद यह हमें अपनी तरफ आकृष्ट भी करता है परन्तु पुराना जगत फिर हमें खींचता है। हम इस नवीन जगत को एक बार भुला देना चाहते हैं और काल्पनिक मानना चाहते हैं, परन्तु यह जगत हमें बार-बार अपने आपको सत्य मानने के लिये दबाव देता चला जाता है। सर्वज्ञ शंकर कहते हैं **बुद्धेर्धर्मो अनाग्रहः** बुद्धि का धर्म ही यह है कि जिस चीज को ठीक समझती है, उसको पकड़ती है। आधुनिक विज्ञान को जितनी भी गालियाँ प्राचीन लोग देते रहें परन्तु जीवन में निरंतर उसके उपयोग को करने में चूक नहीं पाते, बहुत कुछ इसी प्रकार की स्थिति बन जाती है। इतना ही नहीं जब उस नवीन जगत का बार-बार दर्शन हो रहा है तो फिर इस जगत में मनुष्य स्वाभाविक रूप से नहीं रह सकता। इसीलिये आचार्य शंकर ने ज्ञानी के लिये सर्वकर्मसंन्यास पर इतना जोर दिया है क्योंकि उससे सांत जगत के कार्य किये ही नहीं जा सकते। आचार्य विद्यारण्य कहते हैं 'अस्तिचेन्न स तत्ववित्' यदि वह पूर्व की तरह के व्यवहारों को करने में प्रवृत्ति करता है तो अभी उसने उस अनंत जगत में अपनी नजर से कुछ देखा ही नहीं है। उसकी चेतना उस क्षण में इतनी विस्तृत हो जाती है कि उस क्षण में समग्र पदार्थों के विषय में जितना स्फुट प्रातिभ ज्ञान होता है, उतना ज्ञान सैकड़ों ग्रन्थों को पढ़कर बीसियों वर्षों में नहीं हो पाता। उसके बाद इस पृथ्वी के ऊपर जो दिमागी कार्य खचर-खचर ढंग से होते हैं उसके साथ वह कभी भी एकात्मभाव को प्राप्त नहीं कर पाता। इतना स्मरण रखना चाहिये कि इस नव विश्व के दर्शन में मनुष्य की ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों ही पूर्ण रूप से प्रविष्ट होती हैं।

अतः अद्‌भुत आनंद उस काल में बना रहता है। भिन्न-भिन्न लोग वहां के भिन्न-भिन्न ज्ञानों से शुरू-शुरू में अधिक आकृष्ट होते हैं। अतः कुछ लोग वहाँ पर नये-नये रंगों का दर्शन करते हैं, कुछ लोग नये-नये स्वरों को सुनते हैं, कुछ लोग नये-नये स्वादों को चखते हैं। कुण्डलिनी योग में इसी को चक्रों का घूमना कहा गया है। अर्जुन के विश्वरूप दर्शन में भी यह स्पष्ट हो जाता है। परन्तु वहाँ विरोधी तत्व ऐसे सम्मिलित हो जाते हैं कि जिस समय तीव्रतम प्रकाश दीखता है उसी समय गहनतम अंधकार भी प्रतीत होता है। जिस समय सुख की तीक्ष्णता अनुभव होती है उसी समय उतनी ही दुःख की तीव्रता भी रहती है। यह नहीं समझना चाहिये कि क्षणों के भेद से ये अनुभव अलग-अलग होते हैं, वरन् एक साथ ही होते हैं। जीवन का जितना द्वैत है, वह उसके अंदर एकरूप हो जाता है। **'समःशत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥'** इत्यादि के द्वारा गीता ने इसी सम को बताया है। **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** में इसे और भी स्पष्ट किया है। स्वयं श्रीकृष्ण ने यह भी कहा है कि **'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्यसचराचरं'** यहाँ एक ही जगह स्थित सारे चराचर जगत को तू आज देख ले। यह दर्शन करने के लिये जिस दिव्य दृष्टि की आवश्यकता थी, उसे भी भगवान ने दिया। इसको देखकर अर्जुन भी 'प्रव्यथितांतरात्मा', 'धृतिं न विन्दामि शमं च' कहकर के बताता है कि उसकी अंतरात्मा में अत्यंत व्यथा, अधीरता और अशांति का उदय हो गया था। हमारे सांत जगत में इन विरोधी तत्वों का एक होना सम्भव नहीं। अनेक साधक इस विज्ञान दृष्टि के उत्पन्न होने के पहले इन चीजों के अन्दर एक सा रहने का अभ्यास करने का प्रयत्न करके केवल एक पाखण्ड-मयी प्रवृत्ति ही बना पाते हैं। जब तक अन्दर से शत्रु और मित्र के अन्दर एकता का अनुभव नहीं हो गया, तब तक यदि बाह्य व्यवहार में शत्रु, मित्र से एकता का व्यवहार करोगे तो धीरे-धीरे हमारे शत्रुओं की संख्या बढ़ती जायेगी और मित्रों की संख्या घटती जायेगी जैसा कि आज के भारतवर्ष में देखा जाता है।

परन्तु एक बात का ख्याल रखना चाहिये कि यदि कोई व्यक्ति विज्ञान के मार्ग में बढ़ गया और साथ-साथ वैराग्य में नहीं बढ़ा, अर्थात् एक तरफ उसमें राग रह गया और दूसरी तरफ किसी भी कारण से उसका विज्ञान

में प्रवेश हो गया, अथवा प्राचीन संस्कारों के कारण इस असत्य जगत को वह अत्यधिक सत्य मानने में रत रह गया तो फिर उसका जीवन एक विचित्र संघर्ष का जीवन हो जाता है। इतना ही नहीं, यह जो नव अनंत जीवन का दर्शन है, वह, जिस मन ने अपनी तैयारी नहीं कर ली है, उसको अनंत अंधकार और भय की प्राप्ति भी करा सकता है क्योंकि उसे लगेगा कि जो कुछ सत्य है, वह सब खोया जा रहा है। जब स्वामी विवेकानंद के सिर पर रामकृष्ण परमहंस ने हाथ रखकर इस चेतना के प्रवेश का प्रयास किया तब वह यही चिल्ला उठे थे कि मेरे घर में अभी माँ-बाप हैं, यह तुम क्या कर रहे हो। इसलिये यहाँ श्रुति यद्यपि विज्ञान के द्वारा ही इन्द्रियों की दांतता का प्रतिपादन करती है, परन्तु आपस में कुछ कार्य-कारण भाव का भी सन्निवेश समझ लेना चाहिये। इसको या तो गुरु पर पूर्ण श्रद्धा या शिव पर पूर्ण प्रेम के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इतना निश्चय है कि प्राचीन जगत का त्याग चाहे श्रद्धा से हो, चाहे विवेक से हो, चाहे प्रेम से हो, स्वेच्छापूर्वक किया हुआ होना चाहिये। यह जो सुन्दर परिदृश्यमान द्वैत जगत है, उसको समझबूझकर छोड़ना है, यह निश्चय करके छोड़ना है कि यह भौतिक (Ghostly) असत्य, धोखे की टट्टी एवं मायामात्र है। इस अविद्या के भाव को जो नहीं समझ सका, वह उस नव जगत में कभी भी प्रसन्न नहीं हो पायेगा। इसी का नाम सर्व कर्म संन्यास है और यही वास्तविक भिक्षुक बनना है। बिना इस त्याग के आध्यात्मिक जीवन भूतों से अलग नहीं हो सकता। यह वह स्थिति है जिसमें अपने नीचे की जमीन को अपने हाथों से खिसका कर ऊपर के आकाश का भी सहारा नहीं लिया जाता है। ईसा ने एक जगह कहा है कि लोमड़ियों के सोने के लिये गड्ढे होते हैं एवं पक्षियों के घोंसले परन्तु ईश्वर के पुत्र के लिये अपना सिर रखने को भी कहीं जगह नहीं हुआ करती। यह वह संन्यास है जिसमें अपनी पूर्ण कैवल्य स्थिति है। पिता, माता, पत्नी, पुत्र, अपने नजदीक से नजदीक सम्बन्धी भी उसे पराये लगते हैं क्योंकि वह अब उन्हें उस दृष्टि से देख ही नहीं पाता। यह जो संन्यास का क्षण है, यह एक भीषण क्षण है जिसमें पुराना सब कुछ जल जाता है। संन्यास का मंत्र कहता है कि इस क्षण से मैं अपने को मृत समझूंगा। यही तो जीवित मृत बनना है। और अभी नवीन का आगमन नहीं हुआ है। जिसे इसमें प्रवेश करने

की हिम्मत नहीं, वह आगे के दर्शन को कैसे कर सकता है। अपने शरीर के अंग प्रत्यंगों को, मन-बुद्धि को, इन्द्रियों को, क्रिया-शक्तियों को, सबको एक-एक करके गुरु संन्यास काल में आहुत करवाते जाते हैं परन्तु जिसके हृदय में अभी तैयारी नहीं हुई है, उसके लिये तो यह केवल एक शिक्षा मात्र है कि एक दिन तुम्हें इस संन्यास की प्राप्ति होगी। परन्तु एक बार यदि इस प्रकार का त्याग हो गया तो फिर मनुष्य बिल्कुल हल्का होकर उस नवीन पूर्ण जगत में प्रवेश कर जाता है जिसका भाग पूर्ण के बराबर हो सकता है और दो बराबर परिमाण भी एक-दूसरे से करोड़ों गुना बड़े हो सकते हैं। जिसने उस दर्शन को नहीं किया, उसके लिये यह सब भ्रम-सा लगता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इसी प्रकार की बात, जब कभी किसी भी नवीन विज्ञान का उद्घाटन होता रहा है, तब उसके बारे में कही जाती रही है। जब कभी राम, कृष्ण, श्याम को छोड़कर सबसे पहले मनुष्य शब्द का प्रयोग किसी ने किया होगा तब भी उसे वैसा ही पागल ठहराया गया होगा कि राम, कृष्ण, श्याम तो हमें दीखते हैं, मनुष्य कहाँ है? सौभाग्य से भौतिकी ने हमारे अन्दर की इस मान्यता को तो तोड़ दिया है कि जो हमें दीखता है, वह संसार वैसा ही है जैसा हमें दीखता है। इसी प्रकार कार्य-कारण भाव को भी विज्ञान ने असिद्ध कर दिया है। परन्तु अभी तक विज्ञान काल के डण्डे को किसी तरह से पकड़कर स्थिर रहना चाहता है। वेदांत कहता है कि यह डण्डा भी वैसा ही अस्थिर है जैसा अस्थिर पदार्थों को पहले तुमने किसी समय में देश और कार्य-कारण नाम से पकड़ रखा था। इसी प्रकार हमारे चिन्तन के ढंग में हमें विरोधी तत्वों को एक करने की तरफ प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। हेगेल और मार्क्स ने हमारे सामने वाद और प्रतिवाद के सिद्धान्त को रखकर एक बहुत बड़ा भ्रम पैदा कर दिया है अतः इस मूर्ति को भी तोड़ना पड़ेगा। हम कई बार कह दिया करते हैं कि मार्क्स का विरोध यदि कोई कर सकता है तो केवल वेदांत कर सकता है। उसमें एक बहुत बड़ा कारण यह है कि मार्क्स महाभूत के विषय में अद्वैतवादी होकर के भी अपनी न्याय-सरणि में द्वैतवाद का आश्रयण करता है। वेदांत आत्माद्वैत के साथ-साथ अपनी विचारसरणि में भी ऐकात्म्य का ही आश्रयण करता है। वेदांतवाद का न्यायशास्त्र समानता और विरोध (Identity and Contradiction) को लेकर नहीं चलता है। मार्क्स के हृदय में हमेशा ही एक अंधविश्वास चलता है

कि प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई विरोध अवश्य है। अतः प्रत्येक सिद्धान्त का एक विरोधी सिद्धान्त है, प्रत्येक वाद का एक प्रतिवाद है। यदि कोई चीज है तो उसका विरोधी उस चीज का अभाव भी है ही। विषय अविषय का विरोधी है। वैषयिक जगत आंतरिक जगत का विरोधी है और अस्मद् प्रत्यय युष्मद् प्रत्यय का विरोधी है। अस्थिरता स्थिरता की विरोधी है। अनेकता एकता की विरोधी है। सत्य अनृत का विरोधी है, धर्म अधर्म का विरोधी है। संक्षेप में 'क' 'अ क' नहीं हो सकता। विवर्तवाद के न्याय शास्त्र के अनुसार इस मूर्ति को तोड़कर 'क' 'अ क' की एकता को समझा जाता है। जब तक इस अज्ञान के जगत में मनुष्य पड़ा हुआ है तब तक यह भेद वास्तविक लगता रहेगा और उसके लिये वेद का कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड पर्याप्त है। परन्तु जो इसके आगे चलना चाहता है, उसके लिये ये सब विरुद्ध हो तत्वसाम्य हो जायेगा, इसका दंश निकल जायेगा और एक उच्च न्याय में हमारी प्रवृत्ति हो जायेगी। सामाजिक और राजनैतिक जीवन में तो इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है क्योंकि मार्क्सवाद न केवल पूँजीवाद का ही विरोधी है, वरन् स्वयं मार्क्सवाद में भी कोई वाममार्गी, कोई दक्षिणमार्गी है। उन वाममार्गियों में पुन: अति वाममार्गी और दक्षिणमार्गी में अति दक्षिणमार्गी आदि आदि अनेक भेद होते चले जाते हैं। उस भेद संघर्ष का कभी अंत होना नहीं। आज भारतवर्ष में कदम-कदम पर संघर्ष इसी आधार पर करवाया जाता है कि दो विरोधी आपस में साथ-साथ नहीं रह सकते। इसकी अन्तिम सीमा हमें ख्रुश्चेव के संस्मरणों (Memoirs) में मिलती है जहाँ वह बताता है कि मरने से एक वर्ष पूर्व जब वह स्टालिन से मिलने गया तो स्टालिन खिड़की से बाहर खड़े हुए अपने आप से ही कुछ गुनगुनाते हुए कह रहे थे कि अब समस्या ऐसी कठिन होती जा रही है कि मुझे स्वयं अपना ही विश्वास नहीं रह गया है। यही द्वैतवाद की समस्या है क्योंकि जब हम चीजों को ठीक और गलत में बाँटते चले जाते हैं तो अंत में किसे ठीक और किसे बेठीक कहा जाये, इसका निर्णय असम्भव हो जाता है। इसके पूर्व ख्रुश्चेव लिखता है कि स्टालिन को हमेशा यह लगता था कि मोलोतोव अमेरिका से रुपया खाता है व बेरिया जर्मनी से खाता है। अर्थात् उसे अपने आंतरिकतम सहयोगियों के प्रति भी विश्वास नहीं था, परन्तु अब उसे लगने लगा था कि मैं भी सम्भवत: अपनी कीर्ति के पीछे ही चल रहा हूँ। सच्चा

मार्क्संवादी नहीं हूँ। हमारे यहाँ भी बहुत कुछ उसी प्रकार प्रत्येक मुख्यमंत्री अपने सारे सहयोगियों को, यहाँ तक कि उपमुख्यमंत्री को भी अपना विरोधी समझता है और प्रधानमंत्री उपप्रधानमंत्री को अपना विरोधी। इस अविश्वास की परिणति अंतत: पति और पत्नी में भी अविश्वास के होने में देखी जाती है। यहाँ जो श्रुति विज्ञानवान् कह रही है, वह बहुत सोचकर कह रही है क्योंकि जब तक यह द्वैतवाद की दृष्टि हटकर एकत्व की दृष्टि नहीं आयेगी तब तक काम नहीं होगा। हम यह मानते हैं जैसा कि आचार्य शंकर कहते हैं कि इस जगत के अन्दर जब तक अविद्या रहती है, तब तक द्वैत ही हमारे सोचने का तरीका है और वही हमारे ज्ञान का साधन है। परन्तु इस अविद्या के बंधन को काटकर जब हम विद्या में प्रवेश करते हैं तब अनंत पहलुओं वाला अनंत जगत प्रतिभात हो जाता है और फिर यह द्वैत हमारे रास्ते को रोकने वाला हो जाता है और ज्ञान का प्रतिबंधक हो जाता है। यह द्वैतवाद भी एक मूर्ति है जिसको तोड़ना आवश्यक होता है। समाज में अधिकतर लोग इसको तोड़ नहीं पाते। परन्तु यदि इस अद्वितीयता के ऊपर, इस प्रपंचोपशम, शांत, शिव, एकरस, समरस के ऊपर कम से कम श्रद्धा हो जाती है तो फिर द्वैत का दंश समाज को इतना अधिक पीड़ित नहीं कर पाता। परन्तु जब तक यह द्वैत की मूर्ति पूज्य मानकर रखी रहेगी तब तक मानव देव तो क्या मानव भी नहीं रहकर पशुओं की तरफ ही जाता रहेगा। इस पशु भाव की प्राप्ति न हो, इसी के लिये यहाँ श्रुति ने स्पष्ट रूप से कहा कि इस विज्ञानवान् का मन और इन्द्रियाँ वश में होकर सदश्व बन जाती हैं। जब तक विज्ञान नहीं होता तब तक उसके ऊपर श्रद्धा होने के कारण हम इन्द्रियों को वश में और मन को युक्त करने में लगे रहते हैं। इसका यह लाभ तो प्राणिमात्र को उपलब्ध हो जाता है, यद्यपि हम समझ नहीं पाते कि हम ऐसा क्यों कर रहे हैं?

: ७ :

पूर्वोक्त विज्ञान सारथि से रहित का फल :—

यः तु अविज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदा अशुचिः।
न सः तत् पदम् आप्नोति संसारं च अधिगच्छति ॥

यः=जो	अविज्ञानवान्=अविज्ञानी,
तु=तो	अमनस्कः=मननिग्रह से हीन,

सदा = हमेशा	न = नहीं
अशुचिः = अपवित्र	आप्नोति = प्राप्त करता है,
भवति = है,	च = एवं
सः = वह	संसारम् = संसार को
तत् = ब्रह्म	अधिगच्छति = प्राप्त करता है।
पदम् = धाम को	

अविवेकी तथा इन्द्रिय और मन के निरोध से रहित व्यक्ति कभी भी पवित्र आचरण वाला नहीं रह सकता। ऐसा व्यक्ति परब्रह्म परमात्मा को न पाकर जन्म-मरण के चक्र रूपी संसार में पड़ा रहता है तथा शोक-मोह का अनुभव करता रहता है।

अमनस्क का अर्थ बिना मन वाला होता है। पर कोई भी मनुष्य मन-रहित नहीं हो सकता। अतः नियंत्रित मन ही मन है, ऐसा मानकर श्रुति ने यह शब्द प्रयोग किया है। अमनस्क होने से ही अशुचि है। मन पर नियंत्रण के अभाव में विवेकहीन इन्द्रियों के परवश अवश्य ही रहेगा। ऐसी हालत में पापों को जीवन में बढ़ावा देता रहेगा, एवं पापी जीवन ही अपवित्र होता है। अन्तःकरण का अशौच ही वास्तविक अशौच है क्योंकि शरीर की अपवित्रता तो इसी जन्म में रोग आदि का कारण बनती है, परन्तु अन्तःकरण तो मोक्ष तक अपनी अशुद्धि से ग्रस्त हुआ दुःखद है। किंच अन्तः-करण की अशुद्धि से ही बाह्य अशुद्धि रहती है। शुद्धान्तःकरण वाला कभी सदा गन्दा नहीं रह सकता। सदा से यह स्पष्ट किया गया है कि कादाचित्क शोक, मोह आदि प्रारब्धवेग से तो मुमुक्षु में भी संभव हैं ही, पर वह शीघ्र संभल जाता है। इसी प्रकार देह, गृह, वस्त्र आदि की भी अपवित्रता कभी-कभी तो ज्ञानी में भी रहेगी ही, पर उसका झुकाव सदा पवित्रता की ओर होने से वह शीघ्र पुनः शुद्धि कर लेगा। आधुनिक युग में हिन्दू का गन्दापना शास्त्र सम्मत नहीं है, वरन् अनियन्त्रण तथा समाज सम्बन्धों के अविवेक का ही फल है। भाव यह है कि अनियन्त्रण के कारण ही मार्ग में शौच, थूकना, मूतना, कचरा फेंकना आदि करता है तथा सामाजिक अविवेक से सामने के या पड़ौसी के मकान में गन्दगी फैलाता है, या धर्म-शाला, मन्दिर आदि को गन्दा बनाता है, या समूह में अधोवायु को छोड़ता है। इस प्रकार बाह्य अशुद्धि भी यहाँ निर्दिष्ट है ही।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं आदि व्यास वचन से तो अनियंत्रण तथा अविवेक के कारण ही वर्तमान व्यापार आदि में चोरबाजारी, आयकर चोरी, बिक्रीकर चोरी, मिलावट, नमूने व माल में भेद आदि अर्थ की अपवित्रताएँ होती हैं। इसी प्रकार पूरे दिन की तन्ख्वाह लेकर केवल चार घण्टे का कार्य, या मन्दिर तथा हवन के लिये सामग्री का घर में उपयोग आदि भी इसी कोटि में है। अतः ये अशुद्धियाँ भी यहाँ विवक्षित हैं। प्रायः जो शूद्र के हाथ का भोजन तो क्या पानी भी नहीं पीते, वे ही उसके श्रम से न्यून देकर उसके अर्थशोषण से अपनी अशुचि करने में कोई अधर्म नहीं मानते। आधुनिक युग में इस व्यास वाक्य पर बल देकर यदि अर्थ शौच पर अन्य स्पर्शास्पर्श की अपेक्षा अधिक बल दिया जाय तो अवश्य ही देश तथा व्यक्ति दोनों का कल्याण शीघ्र हो सके।

संसार से अभिप्राय है प्रतिदिन का जीवन, जिसमें हम उद्देश्यहीन हो सरकते रहते हैं। जन्म व मरण ही इसका रूप है। यद्यपि जन्म व मरण शब्द को देह के साथ रूढ़ कर दिया गया है, पर विवेकी की दृष्टि में तो प्रतिक्षण ही किसी न किसी संकल्प का जन्म व मरण होता रहता है। अतः **जन्ममरणलक्षणं** से सर्वज्ञ शंकर इसी प्रतिक्षण में अनुभूत संसार को ही बता रहे हैं। तभी **अधिगच्छति** का वास्तविक अर्थ जानता है स्पष्ट हो पाता है। संसार को या जन्ममरण को तो पहले ही प्राप्त है, अतः यम का संकेत है 'अनुभव करता है'। जब तक शिव को अधिगत नहीं करता तभी तक द्वैतभ्रम से उत्पत्ति से विनाशपर्यन्त शड्भाव विकारों को जानता है यह अभिप्राय है।

उपर्युक्त दोषग्रस्त सारथी के द्वारा रथी आत्मा अक्षर निर्विशेष स्थान को नहीं पहुँचता है। कुछ लोग सारथी रूप बुद्धि नहीं पहुँचती है कहकर ब्रह्म ही बंधता है व मुक्त होता है इस मुख्य वेदान्त सिद्धान्त का ही अपलाप करते हैं, अतः भाष्य में **सारथिना** स्पष्ट कह दिया गया है। **तत्पदं = कैवल्यं**। तत् का अर्थ ईश्वर है। अतः ईश्वर का जो पद अर्थात् अधिष्ठान वह प्रपंचोपशम अद्वैत शिव ही यहाँ विवक्षित है। अथवा तत् के द्वारा जो पदनीय है वह तत्पद है। अर्थात् ईश्वर के अनुग्रह के द्वारा ही परब्रह्म की प्राप्ति संभव होने से उसे तत्पद कहा गया है। यहां कार्य ब्रह्म व कारण ब्रह्म दोनों भावों से रहित शुद्ध का ही ग्रहण है।

अमनस्क अन्यमनस्कता के साथ-साथ किसी भी दत्तचित्तता के अभाव को भी बताता है। यदि हम इस कमी को देख सकें और तत्प्रयुक्त विनय को प्राप्त कर सकें तो अध्यात्म पथ प्रशस्त हो सकता है। शिव हमें कमजोरी में मदद करके उसे दूर भी करने में सहायक होते हैं। हमें प्रार्थना का तरीका ही नहीं आता। यह न आना अमनस्कता नहीं है, पर नहीं आता इस बात को न समझना अमनस्कता है।

: ८ :

अमनस्कता आदि न होने पर

यः तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
सः तु तत् पदम् आप्नोति यस्मात् भूयः न जायते ॥

यः = जो	तु = तो
तु = तो	तत् = उस ब्रह्म
विज्ञानवान् = विज्ञानी	पदम् = धाम को
समनस्कः = मननिग्रही	आप्नोति = प्राप्त करता है,
सदा = सदा	यस्मात् = जहाँ से
शुचिः = पवित्र	भूयः = बार-बार
भवति = है,	न = नहीं
सः = वह	जायते = उत्पन्न होना होता है।

विज्ञान वाली बुद्धि सारथी वाला विद्वान् रथी उस परमधाम को प्राप्त करता है जिसे प्राप्त कर च्युत नहीं होना पड़ता। यही निरतिशय मोक्ष है।

जब अमनस्कता से समनस्कता में आकर जान लेता है कि हमें प्रार्थना करनी भी नहीं आती तब शिव स्वयं हमारी बुद्धि में प्रविष्ट होकर सहायक बनते हैं। यह ज्ञान आते ही हमारे हृदय से ऐसी आहें निकलती हैं जिन्हें शब्द कभी व्यक्त नहीं कर सकते। जो मनुष्य के बाहिरी आवरण को भेद कर उसके अन्तःकरण में ढूँढ़ता है वही शिव उसे कहाँ ले जाना चाहते हैं, यह जान पाता है। यह दर्दभरी उसासें संकेत हैं कि साधक पर शिवकृपा होना ही चाहती है। छाया भाषा में कहा जाता है कि कृपादेवी शिव संकेत पर सन्त में प्रविष्ट हो रही है।

यहां एक गंभीर अनुभूति का दर्शन समझना आवश्यक है। जो जिस विषय को नहीं जानता वह उसके अभाव को भी नहीं जान सकता। रामप्रसाद को जानने वाला ही इस कमरे में रामप्रसाद के अभाव को भी जान सकता है। अतः प्रार्थना करना नहीं जानता तो वही जान सकेगा जो प्रार्थना करना जानेगा। इसका तात्पर्य है कि हम जब शिवकैवल्य के नजदीक पहुँचते हैं तब पता लगता है कि साधन उनको पाने में कभी पर्याप्त कारण नहीं हो सकते। साधनों की पूर्णता में ही वे शिव के साधन नहीं हैं, यह ज्ञान संभव होता है। वैपरीत्येन यह भी सिद्ध हो गया कि जो शिवदर्शन के साधनों को जानते हैं, वे साधनों को नहीं जानते। वे साधन से साध्य नहीं, वरन् साधनों की पूर्णता से सिद्ध उनकी साधनसाध्यता के अभाव ज्ञान से पूर्णतः अहं नाश से ही प्रकट होते हैं। तात्पर्य है कि अधिकतर पण्डित, भक्त, प्रचारक, ज्ञानी आदि जनसाधारण के सामने भली प्रकार शुद्ध मंत्र, भाषा, संगीत, शास्त्रीय युक्ति, प्रामाणिक पौराणिक कथा, यज्ञ, पूजा आदि के द्वारा प्रार्थना करते हैं। उनमें से कुछ भावपूर्ण हृदय से उत्तम प्रकार से व्यक्त करते हैं, एवं कुछ भावशून्य कृत्रिम तरीके से। यह ठीक है कि देश, काल आदि के अनुसार प्रार्थना का ढंग भी बनाना आना चाहिये। यह नहीं कि विवाह के उपलक्ष में रामायण का पाठ हो रहा है जिसमें सीता-वियोग का प्रकरण चल रहा है। परन्तु शब्दविन्यास से भी भाव की प्रधानता बताने का उद्देश्य यहाँ इष्ट है। यह भाव भी अपर्याप्त है, यह तात्पर्य है।

प्रार्थना व ध्यान तथा पाठ आदि के दो प्रकार भिन्न-भिन्न धर्मसंस्थाओं में प्रचलित हैं। एक में निश्चित अवसरों पर निश्चित ढंग तथा अन्य में स्वतंत्र स्वाभाविक ढंग। निश्चित ढंग प्रायः यांत्रिक एवं अनबूझ पहेली बन जाती है। कर्मकाण्डी, मुसलमान, ईसाई आदि इसके दृष्टांत हैं। स्वाभाविक प्रार्थना या ध्यान भी वस्तुतः 'ईश्वर' नाम के विशिष्ट व्यक्ति से बातचीत का रूप ले लेती है। हम उसे एक आदमी ही मान कर अपनी समस्याओं को प्रकट करते हैं एवं उसका आभार प्रकट करते ह, या अपनी माँगें पेश करते हैं। यह भी कोई प्रार्थना नहीं है। वस्तुतः निश्चित ढंग में आज की आत्मा ईमानदारी से प्रकट नहीं होती और स्वाभाविक ढंग में प्रार्थना या ध्यान का गुह्यभाव नष्ट होकर लौकिक संक्रिया मात्र रह जाती है। इस प्रकार दोनों साधन कम पड़ते हैं। प्रश्न उठता है फिर क्या करें ? यह प्रश्न

उठना ही शिव को साधनों से परे बताता है। किसी भी प्रकार का साधन जो शिव प्राप्ति करा सके किसी भी प्रकार संभव ही नहीं है। शिव प्राप्ति मनुष्य के लिये असंभव है, यह ज्ञान ही वास्तविक साधन है। हमें उससे वार्त्ता करनी है जो अन्तरात्मा है। जो कभी विषय नहीं हो सकता उसे सम्बोधित करना है। 'मनसो मनः', 'येन मनः मतम्' आदि श्रुति तथा 'योन्तः प्रविश्य ममवाचम्' आदि पुराण इसमें प्रमाण हैं। वह नित्य कार्य करता है, नित्य सृष्टि विलासी है। हम वह बताना चाहते हैं जिसे वह पहले ही जानता है, वरन् उन अचेतनावस्थाओं को व संस्कारों को भी जानता है जो उनके कारण हैं। इसीलिये साधना असंभव है। इसकी वास्तविकता वह विद्या है जिससे जाना जाता है कि स्वयं शिव ही हमारे मन के द्वारा साधन कर रहा है, जबकि प्रतीति होती है कि हम प्रार्थना कर रहे हैं। परमात्मा अर्थात् हममें विद्यमान वर्तमान ईश्वर। यह प्रतिभाप्रद, प्राणप्रद, विवर्त्तकारी शक्ति उसी की है। हममें यह कुछ अनिर्वचनीय शक्ति है जो शिव के सम्मुख हमारे लिये संकेत करती है। शिव तथा जीव के मध्य की दूरी जीव प्रार्थना के बल से दूर नहीं कर सकता। शिव की शक्ति ही इस दूरी को दूर कर सकती है। यह कृपाशक्ति एक प्रतीक है। हमारी प्रार्थना की तीव्रता पर वह दया करती है। यह ज्ञान इस वर्तमान मनोविज्ञान की खोज का संकेत करता है कि चेतना के वक्ष पर एक प्रकाशकिरण खेलती है जबकि उसके नीचे अनन्त कामनाएं व संस्कार भरे पड़े हैं। उसके गंभीर स्तरों को भी वेधने वाला शिव ही हमें समग्र रूप से स्वयं अपने सामने ला सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अपने जीवभाव की अशक्ति से प्रसूत आहें ही वास्तविक प्रार्थना है। शब्द प्रार्थना के सार नहीं हैं। 'जहां आह है वहां आप हैं' कहकर परम विदुषी ने यही स्पष्ट किया है। यही अमनस्कता से समनस्कता में जाना है।

शुचि का रूढ्यर्थ पवित्रता है। पर शुचि का धात्वर्थ दीप्ति या चमक है। शरीर, प्राण, मन में दोषनिवृत्ति होकर दीप्ति का प्रकाट होना ही भिन्न-भिन्न प्रकरण में शुचि कहा जाता है। वास्तविक शुचि तो आत्मा का अविद्या आवरण नष्ट होकर चमकना ही है, जो चमक शरीर आदि में प्रकट होती है। यदि शरीर आदि की शुचि करते हुये भी यह प्रकट न हो सका तो वास्तविक दृष्टि से व्यर्थ ही है। अतः आत्मा की तरफ समग्र प्रेम का उदय होना ही वास्तविक शुचि है। जीवन में प्रायः जो अनेक झंझटों में अविद्या

के कारण फँसे रहते हैं, वे कर्त्तव्य, समाज, राष्ट्र, धर्म, मानवता आदि के नामों पर दुहाई देते रहते हैं कि जो शिवयोगी हैं वे उनके कामों में हाथ नहीं बँटाते, पर वे यह भूले रहते हैं कि शिवयोगी जो परमावश्यक है उसी में लगे हैं। ईसामसीह जब मेरी के घर गये तो उसकी बहिन मार्था भोजनादि कार्य में लग गई और मेरी ईसा के सत्संग में प्रेम से भाग ले रही थी। मार्था ने जाकर कहा कि आप मेरी को काम करने भेजें। तब उन्होंने कहा—"You are anxious and troubled about many things. One thing is needful. Mary has chosen the good portion." अर्थात् "तुम अनेकता की चिन्ता में पड़ी हो। एक ही चीज आवश्यक है एवं मेरी ने उसे ही चुना है।" इसी प्रकार जीवन में अविद्या का नाश रूपी शुचि ही एकमात्र आवश्यक शुचि है। जिसने उसको चुना है उसे अन्य शुचि के चक्कर में नहीं पड़ना होता। अन्य लोग भोजन में, स्पर्शास्पर्श में, विवाह में, अनन्त जागतिक पदार्थों की शुचि में लगे रहते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति व निवृत्ति जीवन के दो क्रम हैं एवं दोनों की शुचि-नीति सर्वथा भिन्न है। सान्त, प्राथमिक, अनित्य पदार्थों में शुचि तथा अद्वैत, अनन्त, नित्य, अन्तिम, शिव में शुचि। प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं है। संसार को चलाने वाली यही है। पर मोक्ष मार्ग में, संसार निवृत्ति में यह सर्वथा अनावश्यक ही नहीं, बाधक भी है। प्रवृत्ति वह प्रेरक शक्ति है जो रक्षा करती है (विष्णुशक्ति), तथा जीवन व संस्कृति को उज्ज्वल बनाती है (ब्रह्मशक्ति)। इसके बिना ज्ञान, ध्यान सभी असंभव हैं। हमें जीवन के लिये ध्यान (Attention), प्रेम (Devotion) व उद्वेग (Passion) आवश्यक हैं। पर जीवन हमारे सम्पूर्ण, समग्र ध्यान, अहेतुक प्रेम तथा अन्तिम उद्वेग का विषय नहीं बन सकता। वे हम सबके लिये, मानव मात्र के लिये आवश्यक तथा प्रधान (important) हैं, पर अन्ततोगत्वा (ultimately) व्यर्थ हैं। शिव ही वह अद्वितीय वस्तु है जो वस्तुतः प्रत्येक मानव का केन्द्रीय विषय है। सत्संग, ध्यान तथा स्वाध्याय में प्रतिक्षण श्रवण होता है। जो विषय कहा जा रहा है उससे वक्ता तथा श्रोता दोनों पवित्र हो रहे हैं क्योंकि अनन्त ध्येय शिव के बारे में जो कहा जा रहा है वही सारे जीवन का एकमात्र केन्द्रीय विषय है। केन्द्र परिधि के प्रत्येक बिन्दु से सम्बन्धित व समान दूरी पर है। हमारा केन्द्र वह है जिसमें हम नये

हुये हैं, जिसमें हमारा आत्मा सन्नद्ध है, जिसमें हम समस्त दिल से भाग लेते हैं। यह वह है जिसके बारे में हम आतुर (Anxiously Involved) हैं। प्राय: चिन्ता व आतुरता को भाषा में एकार्थ में कह दिया जाता है। कई चीजें हमारे ध्यान में होती हैं, उनसे वीभत्सा व कारुण्य का सम्बन्ध होता है। पर वे आतुरता अर्थात् उस बेचैनी को पैदा नहीं करतीं जो हमें प्रत्येक क्षण सताती रहे।

हम अपने काम के विषय में चिन्तित रहते हैं। हम उससे प्यार करें या घृणा, कर्त्तव्य मानें या जीवननिर्वाहार्थं आवश्यक। पर जब स्वशक्ति की सीमाओं का बोध होता है, कार्यकारिता (Efficiency) की न्यूनता का ज्ञान होता है, या आलस्य से युद्ध होता है, हारने का खतरा होता है तब-तब चिन्ता का उदय होता है। इसी प्रकार अन्य मानवों से अपने सम्बन्धों के विषय में समझना चाहिये। उनके प्यार, मैत्री, सदयता, सहृदयता आदि के बिना जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है। उनके तन व मन का सहयोग परमावश्यक है। पर जब उन्हीं के औदासीन्य (Indifference), क्रोध, ईर्ष्या, गुह्य विषैली शत्रुताओं का स्वयं अपने में तथा अपने प्यारों में हम अनुभव करते हैं तो चिन्ता से काँप उठते हैं। उन्हें खो देने की व्यग्रता, उन्हें चोट दे मारने की भूलें, उनके प्रेमपात्र बने रहने की अपनी अयोग्यता आदि की चिन्ताएँ हमारे दिल में धड़कनें पैदा करके हमारे प्यार को उद्विग्न कर बैठती हैं। इस प्रकार सम्बन्धों में चिन्ता का उदय होता है। इसी प्रकार स्वयं अपने विषय में भी चिन्ता होती रहती है। हमें अपने में प्रौढ़ता की, शक्ति की, बुद्धि की, आत्मपूर्णता की कमियाँ खटकती रहती हैं। हम अपने में इन शक्तियों को वढ़ाने की जिम्मेदारी अनुभव करते हैं। दूसरी ओर, हम सुखान्वेषण में भी तत्पर रहते हैं। प्रेय का स्थान जीवन में बहुत बड़ा है। पर शक्ति-संवर्द्धन से इसका संघर्ष चलता रहता है। जब कभी आत्मविश्लेषण के आदर्श में या दूसरों के परीक्षण में हम खरे नहीं उतर पाते तब-तब चिन्ता आ घेरती है। हमें लगता है कि हमने गलत निर्णय किये हैं, हम गलत रास्ते पर चल पड़े हैं, अपने प्यारों की तथा स्वयं अपनी नजरों में भी हम गिर रहे हैं। हम अपनी तुलना दूसरों से करने लगते हैं एवं अपने में हीनता की अनुभूति होती है। हम दुःखी तथा शोक में पड़ जाते हैं। शोक और शुचि साथ-साथ नहीं रह सकते। हमें लगता है कि सुख को अत्यधिक व्यग्रता से पाने में हमने सुख

को ही खो दिया है। हमने सुख और प्रेय का सांकर्य कर दिया है। हमने निर्णय के क्षण की अवहेलना करके, साहस के अभाव में सुख की सम्भावना को खो दिया है। कभी-कभी यह हमें सालता रहता है। अन्य मानवों के दुःखदर्द की अवहेलना भी हमारे अन्दर व्यग्रता को पैदा करती है। सहृदय व्यक्ति भोग-काल में भी दूसरों को भोजन की भी अनुपलब्धि के दुःख से दुःखी ही बना रहता है। इस प्रकार हमारी चिन्ताएँ अनन्तविध होती हैं। यह सभी प्रवृत्ति का ही रूप है।

कोई प्रश्न उठा सकता है कि क्या हमारे आदर्श अवतार भी इससे अछूते थे। जब शंकर भगवान प्राणियों के दुःख को दूर करते हैं, कृष्ण साधुपरित्राण व दुष्कर्मियों का विनाश करते हैं, राम जटायु को गले लगाते हैं, आचार्य शंकर गूंगे को हस्तामलक बनाते हैं, विधवा के घर स्वर्ण वृष्टि करते हैं, तो क्या वे लोग सामान्यजनों के दुःख, रोग, शोक आदि से प्रभावित होकर समाजसेवा का आदर्श पेश नहीं करते हैं। क्या आज के वैज्ञानिक, तकनीकी, चिकित्सक, लोगों के दुःखों को दूर करने में प्रवृत्त होकर यही आदर्श नहीं पालते हैं। जब भाष्यकार प्रधान दश शिष्यों के आधार पर दशनामपरमहंस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करते हैं तो क्या वे सामूहिक जीवन का आधार निर्माण नहीं कर रहे हैं। क्या इससे सभी को सामूहिक अच्छाइयों की ओर प्रेरणा नहीं दी जा रही है। जब तलवकार कहता है कि सत्य ही आयतन है तो क्या सत्य के प्रति सदा जागरूकता का उपदेश नहीं है। आधुनिक विज्ञान की सत्य ज्ञान के प्रति जागरूकता तथा प्रेरक शक्ति का स्रोत क्या स्वयं परम महेश्वर नहीं है। जब शंकर नास्तिक तथा पाखण्डी आस्तिकों का खण्डन करते हैं तो क्या वे शिक्षा तथा प्रचार का आदर्श नहीं पेश करते हैं। परम वैदिक मीमांसकों का भी खण्डन करके क्या वे हमारे सामने सत्य के लिये सभी अन्धविश्वासों तथा मिथ्या मान्यताओं को हटाने का आदेश नहीं कर रहे हैं। जब भाष्यकार स्तोत्रकार बनते हैं, अथवा गान्धारदेशी आदि कथाओं का निरूपण करते हैं तो क्या वे प्रकृति व मानव दोनों के सौन्दर्यशास्त्र का अन्वेषण करने का संकेत नहीं करते हैं। क्या मन की दैनन्दिन जीवन के असीम अशान्ति के बाद शान्ति के लिये मन को ऊर्ध्वगमन के द्वारा पूर्ण करने की प्रेरणा ध्यान अभ्यास के द्वारा नहीं मिल रही है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति तथा तन्निमित्तक चिन्ताएँ व्यर्थ हैं ?

ये सभी शुभ हैं, पर आतुरता लाने के पर्याप्त कारण नहीं हैं। ये वह प्रथम या प्रधान वस्तु नहीं हैं जो जीवन की समग्र शक्तिओं का केन्द्र बन सकें। अतः प्रधान शुभ भी केन्द्र नहीं हो सकते। क्या जब समाजकेन्द्रित जीवन व्यतीत करते हैं तो चिन्ता से मुक्त हो पाते हैं? जब दुःखी जनसामान्य एवं सामाजिक उत्पीड़न के साथ हम अपने सुख व प्रतिष्ठित जीवन की तुलना करते हैं तो क्या हमारी अन्तश्चेतना हमें नहीं धिक्कारती। क्या इससे हमारा साँस लेना भी दुःख के मारे दूभर हो जाता है क्योंकि समग्र मानवता की आहें हमारे में भर रही होती हैं। क्या उनके शोक को हम अनुभव कर पाते हैं जो रोगनिवारणरत होकर जानते हैं कि असंभव है, जो शिक्षारत होकर मूर्खता, कुटिलता या घृणा की शिला पर टूट जाते हैं। जब नेता होने पर भी लोगों के अज्ञान तथा विरोधियों की स्वार्थाभिलाषाओं से हत हो जाते हैं, अथवा बुरी संस्थाओं तथा बुरे भाग्य के पाश में पड़कर जीवन के अरमानों को कुचलते रहते हैं। क्या सत्यान्वेषकों के भूल की संभावनाओं की चिन्ता को हम समझ पाते हैं? विशेषतः जब जीवन के नवीन मूल्यों या नवीन विचारों के द्वारा प्राचीन को उखाड़ना पड़ता है तो कितने अन्तर्द्वन्द्वों में से निकलना पड़ता है। क्या जीवन के उन क्षणों में गम्भीर शून्यता का अनुभव कर पाते हैं जब कला या दर्शन की महान् कृतियों के पश्चात् दैनन्दिन जीवनयापन की आवश्यकताओं के असुन्दर चिन्ताओं की ओर मुड़ के आना पड़ता है? क्या इसीलिये नहीं कहा गया था कि सर्वोत्तम शुभ भी अन्ततः विनाश ही होता है? गत शताब्दियों की वैज्ञानिक प्रगति आज आणविक विस्फोटों के कगारों पर मानव को खड़ा कर यही सन्देश तो दे रही है। क्या कारण है कि जिस किसी भी प्रवृत्ति के बारे में सोचते हैं वह अन्ततः चिन्ता और उद्वेग को पैदा करती ही दिखती है? हम प्रवृत्ति के लिये अपनी भक्ति, शक्ति, इच्छा आदि देकर ही कुछ प्रगति कर पाते हैं, अन्यथा प्रगति संभव ही नहीं; परन्तु यह प्रगति हमें अशान्त, हृदय के गुह्यतम भागों को बेचैन ही बना पाती है। इसी से ये जीवन के केन्द्र नहीं बन सकती। अतः ये शुचि पूर्ण नहीं हैं। ये शुचि हमसे हटाई जा सकती हैं। ये सभी सान्त हैं। हमारी सभी चिन्ताएँ परिच्छिन्न भावों के बारे में हैं। एक जीवन में ही अनेक गायब हो गई हैं, नयी प्रकट हो गई हैं एवं उनमें से भी अनेक पुनः अन्तर्हित हो जावेंगी। भूत की अनेक महान् समस्याएँ आज लुप्त हैं, एवं अन्य अनेक देर अबेर लुप्त हो

जावेंगी। १८७४ के हिन्दू प्रकाश में सम्पादकीय था कि अछूतों को रेल के भिन्न डब्बों में बैठने की व्यवस्था होनी चाहिये। आज यह समस्या किसी सम्पादकीय का विषय बने, यह असंभव है। १९२४ का शारदा कानून कि १४ वर्ष से पूर्व कन्या का विवाह न हो, उस समय भारतीय संस्कृति का अन्त माना गया था। आज १४ वर्ष से पूर्व की वैवाहिक कल्पना सीमांसकों को भी असंभव लगती है। नई समस्याएँ उत्पन्न होंगी वे भी समाप्त हो जायेंगी। अनित्यता हमारे गहनतम कामनाओं में भी उतनी ही सत्य हैं, जितनी बाह्य वस्तुओं में। उन कामनाओं में जो हमें सुख देती हैं, उनके अन्त की चिन्ता भी निहित रहती है। एक क्षण आयगा, हमारे बिदा होने का क्षण, जब इन सभी चिन्ताओं की चिन्ता हमें निरर्थक लगेगी, जब उन चिन्ताओं की परिच्छिन्नता, अपनी परिच्छिन्नता के आवरण में उद्बुद्ध हो जायेंगी। गलती इसी बात की है कि जो प्रथम है उसे हम प्रधान मान लेते हैं। प्रारंभिक आवश्यकता को अन्तिम आवश्यकता या केन्द्रीय आवश्यकता मान लेते हैं। निवृत्ति ही अन्तिम आवश्यकता है। शिवकेन्द्रता ही निवृत्ति है। पर प्राथमिक वस्तुएं हमें दृढ़तापूर्वक पकड़े रखती हैं विशेषकर जब हम उनसे छूटना चाहते हैं। प्रत्येक चिन्त्य वस्तु कठोर शासक की तरह हमारे सम्पूर्ण हृदय, मन व शक्ति को मांगती है। इनमें से मानों प्रत्येक एक खुदा है जो हमारी सम्पूर्ण भक्ति की माँग करता है। कभी हमारी रोजी, तो कभी हमारा प्यारा और कभी सुख हमारा खुदा बन जाता है, और हम उसकी बन्दगी में लग जाते हैं। वर्तमान इतिहास में विज्ञान तो सारे समाज का खुदा बन गया है। भारत तथा मार्क्सवादी देशों में धन और भी बड़ा परम खुदा बनता जा रहा है। संभवतः राष्ट्र तो सर्वत्र महत्तम खुदा है। पर ये सभी परिच्छिन्न हैं। एक दूसरे के विरोधी हैं। वे हमारी आत्मा को कुण्ठित करते हैं क्योंकि उन सबके प्रति हमारी बन्दगी या वफादारी पूरा होना दुष्कर है। हम अपने को पौराणिक बहुदेववादी की मुश्किलों से जकड़ा पाते हैं क्योंकि वे एक दूसरे के विरोधी होते हैं तथा प्रत्येक पूरा ध्यान चाहते हैं। प्रत्येक की सेवा करते करते दिन बिताने पर भी सबकी सेवा नहीं हो पाती और जीवन ही नहीं रह पाता।

कुछ लोग बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि की तरह सभी वस्तु प्रवृत्तिओं की ओर सर्वथा उदासीन बन कर सर्वत्र सन्देहभरी दृष्टि (Cynical

Unconcern) से यह निर्णय कर लेते हैं कि किसी भी बारे में हम चिन्ता करेंगे ही नहीं, यदि करेंगे भी तो ऊपर ऊपर से, गंभीरतापूर्वक हृदय से नहीं। हम अपने बारे में, दूसरों के बारे में, कार्य, सुख, आवश्यकताएँ आरामदेह सामाजिक, राजनैतिक, ज्ञान, सौन्दर्य सभी विषयों में उदासीन बनने का यत्न करने लगते हैं। हमें लगने लगता है कि औदासीन्य एक बहादुरी है। पर यहाँ भी उदासीनता स्वयं एक चिन्ता बन जाती है। उदासीनता स्वयं एक प्रवृत्ति बनकर वैसी ही चिन्ताओं को उत्पन्न करने लगती है। पर इतना सत्य है कि शिवसमाधि के अलावा चिन्तानिवृत्ति के लिये यही उपाय बुद्धिगम्य हो सकता है। परन्तु उदासीनता में यही वदतो-व्याघात है कि उदासीनता के प्रति उदासीनता संभव नहीं है। अतः एक ही के प्रति सारी एकाग्रता संभव है।

फिर वह क्या है जिसे शिवसमाधि या ब्रह्मनिष्ठा कहा जा सकता है। यदि धर्म कहें तो आचारविचारों का स्थिर समुदाय प्रतीत होगा। पर द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः के अनुसार प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों ही धर्म ही हैं। किं बहुना धर्म स्वतः ही अन्य चिन्ताओं की तरफ स्वयं एक चिन्ता बन सकता है। धर्म के मनोविज्ञान के इतिहास का प्रत्येक पन्ना इसमें प्रमाण है। धर्मध्वजी (Religionist) वे विशेषज्ञ हैं जो मानव की इस चिन्ता के विशेषज्ञ हैं। यह धर्म की सड़ान का रूप है। इनकी दृष्टि ऐसी आचार-विचारग्रस्त होती है कि धर्म के हृदय को मार कर ही चैन लेती है। हम इसे बुढ़ियापुराणालोचना के नाम से कहते हैं। उन्हें सारी बुराइयों का सूचीपत्र कण्ठ होता है। धर्मप्रचारकों की पोशाक में भी ऐसे कई मिल जाते हैं। यदि इस ब्रह्मनिष्ठा को ईश्वरनिष्ठा कहें तो भी गलतफहमी संभव है। ईश्वर भी सान्त चिन्ता का विषय बनाया जा सकता है। ईश्वर भी विषय बन सकता है जिसकी सत्ता विवादास्पद हो सकती है। ईश्वर एक महापुरुष भी हो सकता है जिससे सम्बन्ध लाभप्रद हो सकता है। महापुरुष होने से हमारी सान्त चिन्ताओं का साधक भी वह बन सकता है। परन्तु तब वह सम्पूर्ण आतुरता का केन्द्र नहीं रह जायगा। अतः निरपेक्ष ब्रह्म अर्थात् अनन्त या शिव अर्थात् निरपेक्ष कल्याण ही वह केन्द्र बन सकता है। अन्तिम रूप से बिना शर्त के अनन्त भावों से आतुर बनना ही इसका रूप है। इस शक्ति की दृष्टि से प्रवृत्ति की प्रेरणा स्वरूप शक्ति ही कही जा

सकती है। इस आतुरता की अनन्तता के सामने सारी प्रवृत्तियाँ रहते हुये भी शून्य बन जाती हैं। बाहर से सभी कुछ पहले की तरह प्रतीत होते हुये भी भीतर से सभी कुछ बदल चुका होता है। यही विवर्त्तवाद की शुचि है। शुक का त्याग, कृष्ण का भोग, वसिष्ठ का कर्म, राम का राज्य सभी एक से हो जाते हैं। स्वरूप से पदार्थ, कर्म, जीव सभी ब्रह्मरूप से शुचि होकर रहते हैं। ये सभी फिर भी चिन्ता के विषय प्रतीत होते हैं, पर परिवर्तन के साथ। चिन्ता शून्य ही इनका चिन्तन चलता है। साधक के जीवन में ये पुनः लौटना तो चाहती हैं, पर इनकी शक्ति क्षयिष्णु है। ये हमें नष्ट नहीं कर सकतीं। एकहि साधै सब सधै के अनुसार जिसने शिवसमाधि को साध लिया उसके पैरों तले सभी प्रवृत्तियाँ आ गईं। जब प्रवृत्ति के मूल्य तथा वस्तु नष्ट होते हैं उसका कुछ नहीं बिगड़ता। शोक उसे नहीं पकड़ सकता। उसे वह शुचि प्राप्त हो गई जो उससे कभी नहीं हटाई जा सकती। यही वह पद या स्थिति है जिसमें पहुँच कर पुनर्जन्म नहीं होता। इस पद से प्रच्युति ही तो जन्म है। देहात्मधी का नाम ही जन्म है। अतः सर्वज्ञ शंकर कहते हैं—न जायते संसारे।

: ९ :

विषयगाम्भीर्य के कारण पुनरुक्ति से समझाते हैं :—

> विज्ञानसारथिः यः तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
> सः अध्वनः पारम् आप्नोति तत् विष्णोः परमं पदम्॥

यः = जो
नरः = मनुष्य
तु = तो
विज्ञानसारथिः = विज्ञान सारथी वाला
मनःप्रग्रहवान् = मन की लगाम वाला है,
सः = वह
अध्वनः = मार्ग के
पारम् = उरली ओर
विष्णोः = विष्णु के
तत् = उस
परमं = परम
पदम् = अधिष्ठान को
आप्नोति = प्राप्त करता है।

जो विद्वान् विवेकबुद्धि को सारथी बनाकर समाहित मन रूपी शुचि से युक्त हो (समाहितचित्तः सञ्शुचिः इति भाष्ये) चलता है वह संसार

मार्ग को पार कर जाता है। अर्थात् सर्व अनेकविध संसार बन्धनों से मुक्त हो जाता है। ऊपर की व्याख्या में अनन्त चिन्ताओं को ही भाष्य में **सर्वसंसार-बन्धनैः** कहा है। भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि **संसारगतेः पारंपरमेवाधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति** संसारगतियों के पार अर्थात् संसारगतियों के अनुभव से ही उस परम कों जानना चाहिये। यही प्राप्ति है। यही हमें संसार से अर्थात् चिन्ताओं से मुक्त कर देता है। आवरक अज्ञान की निवृत्ति से प्राप्ति का गौण प्रयोग है। विष्णु अर्थात् सारे संसार को व्याप्त करने वाला विशिष्ट सत्तत्त्व। उसका अधिष्ठान निर्विशेष सत् ही यहाँ उसका पद है। अथवा विद्वान् प्रथम अपने आपको व्यापक रूप से जानता है और तब निर्विशेष रूप से यह भाव है। अथवा सः से त्वं पद कहा, विष्णु से तत्पद तथा परमं पदं से अखण्डवाक्यार्थ या लक्ष्यार्थ कहा गया। यहां कुछ साम्प्रदायिक परम्परा से हीन लोगों ने विष्णु के चरणों की कल्पना की है जो उपहासास्पद ही है। संसार से पार में अंगांगी कल्पना कहाँ संभव है।

: १० :

जिस धाम को पाना है उससे सृष्टि को कैसे समझें, अर्थात् सृष्टि से उसका सम्बन्ध, निरूपण करते हैं। यहाँ स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्मतारतम्य क्रम से उस पद को प्रत्यगात्मरूप से समझाने का प्रयोजन है कि उसे शनैः शनैः कैसे प्राप्त करें :—

इन्द्रियेभ्यः पराः हि अर्थाः अर्थेभ्यः च परं मनः।
मनसः तु परा बुद्धिः बुद्धेः आत्मा महान् परः॥

अर्थाः = सूक्ष्म तन्मात्रात्मक महाभूत
हि = निश्चय से
इन्द्रियेभ्यः = इन्द्रियों से
पराः = परे हैं।
च = और
मनः = मन
अर्थेभ्यः = महाभूतों से
परं = परे है।
बुद्धिः = बुद्धि
तु = तो
मनसः = मन से
परा = परे है।
महान् = महान्
आत्मा = आत्मा
बुद्धेः = बुद्धि से
परः = परे है।

: ११ :

महतः परम् अव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषात् न परम् किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

महतः = महान् आत्मा से
अव्यक्तम् = अव्यक्त
परम् = परे है ।
अव्यक्तात् = अव्यक्त से
पुरुषः = पुरुष
परः = परे है ।
पुरुषात् = पुरुष से
किञ्चित् = कुछ भी
परम् = परे
न = नहीं है ।
सा = वही
काष्ठा = सीमा है ।
सा = वही
परा = परम
गतिः = गति है ।

इन्द्रिय के द्वारा अर्थ अर्थात् रूप, रस आदि विषयों का ग्रहण होता है, अतः इन्द्रियों के परे अर्थ कहे गये हैं । अथवा अर्थ ग्रहण होने पर ही असाधारण कारण होने की कल्पना इन्द्रियों की सिद्धि कराती है । इन्द्रिय के द्वारा ही जीव बाह्य जगत् अर्थात् विराट् का ग्रहण करता है अतः इन्द्रियों के परे ही अर्थ मानना पड़ा । विषय कर्म के फल हैं । अतः ईश्वर का यह संकल्प कि इस जीव को यह भोग मिले, विषय का कारण होने से मन को अर्थ से परे बताया । यहाँ मन से ईश्वर के मन का ग्रहण करना चाहिये । अतः ईश्वर का मन अर्थ रूप से जीव के इन्द्रिय में प्रविष्ट होकर जीव का मन बनता है । अन्यथा जड़ विषय का चेतन ज्ञान में परिणत होना संगत नहीं बन सकता । मन संकल्पविकल्पात्मक है । उसका कारण निश्चयात्मिका बुद्धि है । 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ' ही ईश्वर का निश्चय है । अथवा सभी सृष्टि के भौतिक व नैतिक नियमों का अर्थात् ऋत का इससे ग्रहण है । सृष्टि में जैसा जीव को कर्मफल मिलता है, वह ईश्वर के निश्चयरूपी नियम अर्थात् बुद्धि के अधीन ही होता है । अतः मन से परे बुद्धि को बताया । बुद्धि से परे महान् आत्मा अर्थात् अन्तर्यामी नारायण हैं जो सारे प्राणियों के साक्षी हैं । यद्यपि भाष्य में मन तथा बुद्धि के बारे में समष्टि का स्पष्ट संकेत नहीं है पर यह तो स्पष्टतर वचन है 'हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा' अर्थात् वह हिरण्यगर्भ अन्तर्यामी जो ज्ञान व क्रिया (अबोध) शक्तिरूप है । इससे परे अव्यक्त है । अव्यक्त

अर्थात् शिव की अभिन्न रूप से वर्तमान शक्ति जिसमें सारे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड वैसे ही छिपे पड़े हैं जैसे बड के धान में बडवृक्ष की शक्ति। यह स्वरूपभूत शक्ति शिव के आलिंगन में ऐसी है कि अलग नहीं है अतः 'परमात्मनि ओतप्रोतभावेन' कहकर सर्वज्ञ शंकर इसका प्रतिपादन करते हैं। इसी को तंत्रों में अर्धनारीश्वर रूप से प्रकट किया है। वेदों में इसे आकाश नाम से कहा है। ईश्वर की बुद्धि अर्थात् ज्ञानक्रिया अव्यक्त से ही निकलती है। अतः उसका कारण होने से उससे परे है। अव्यक्त अर्थात् शक्ति से परे उसके अधिनाथ शिव हैं। यही **सर्वपूरणात्** सब को पूर्ण करने वाला होने से पुरुष शब्द से कहा गया है। इस चिदानन्दघन से परे और कुछ नहीं होने से यही अन्तिम निष्ठा है जिसे पूर्व श्लोक में कहा गया था। अन्तिम वल्ली में इसी को **पुरुषो व्यापको लिंगः** कहा जायगा। **'पूर्णं पुरुषेण सर्वं', 'पुरुष एवेदं सर्वं'** आदि श्रुति भी यहाँ संग्राह्य हैं। इस प्रकार जीव को इन्द्रियों के द्वारा भी शिव ज्ञान ही होता है, तथा ज्ञान के द्वारा आश्रय रूप से भी शिवज्ञान ही होता है। अतः आश्रय विषय सभी पुरुष से पूरे हुये हैं यह भाव है। इस प्रकार जिस धाम को पाना है वही सृष्टि अर्थात समस्त ज्ञानों का अन्तिम व एकमात्र कारण है, एवं सृष्टि से उसका तादात्म्य-सम्बन्ध है। यह अभ्यास धीरे-धीरे कर्त्तव्य है। हर इन्द्रियानुभूति में शिव तक पहुँचना है। वह शिव पुनः हमारे भीतर भी सो रहा है एवं हमारा वास्तविक आत्मा है अतः हम ही सर्वरूप हैं यह बताने को पुरुष शब्द का प्रयोग है।

इस मंत्र के भाष्य में अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। इन्द्रियों को **स्थूलानि** कहा गया है। एवं वे इन्द्रियाँ (अर्थों) विषयों द्वारा अपना प्रकाशन **(आत्मप्रकाशनाय)** करने के लिये बनाई गई हैं कहकर भगवत्पाद यह संकेत कर रहे हैं कि समष्टि अपनी महिमा को प्रकट करने के लिये ही व्यष्टि भाव को प्रारंभ करती है। बिना 'व्यक्ति' हुये 'अव्यक्ति' भी नहीं की तरह ही हो जाती है। रूप, रस आदि इन्द्रियों के बिना नहीं जैसे ही हैं। रूप आदि की सत्तासिद्धि भी रूप आदि के ज्ञान के अधीन ही है। अतः अर्थ अपने प्रकाशनार्थ मानों इन्द्रियों को बनाते हैं। 'मानों' जरूरी है, अन्यथा सत्यसृष्टि माननी पड़ेगी, एवं परवर्त्ती वेदान्त में जो अवगुण्ठित परिणामवाद दीख पड़ता है उसकी प्राप्ति हो जायगी। 'माया का परिणाम

जगत है, कहकर अनेक स्वयूथियों में जो सृष्टि का एक सम्बद्ध तथा संगत निर्वचन व व्यवस्था करने की प्रवृत्ति देखी जाती है, वह व्यवस्थापक के जगत् सत्यत्व के निश्चय को ही बताती है, शंकर के अनिर्वचनीयत्व के निश्चय को नहीं। इसीलिये प्रकरण ग्रंथकारों में सृष्टि प्रक्रिया को लेकर खण्डनेमण्डन भी देखने में आता है।

शंकर तो **आत्मप्रकाशनाय** कहकर और भी दो गहनतर संकेत करते हैं। महेश्वर भी अपना प्रकाशन अर्थ के व इन्द्रियों के संसर्ग में ही करते हैं, तथा जीव का भी प्रकाशन इस संसर्ग से ही होता है। सुषुप्ति में न जीव का प्रकाशन है, न महेश्वर का। प्रलय में भी यही समझना चाहिये। अर्थ के द्वारा ईश्वर की व्यापकता, नियामकता, कर्तृत्वशक्ति आदि का प्राकट्य होता है। यहाँ तक कि ईश्वर की आविर्भाव शक्ति भी इसमें प्रकट है क्योंकि एक रूप का प्राकट्य है, तो तिरोधान शक्ति भी अन्य सभी रूपों के तिरोहित होने के द्वारा प्रकाशित हो रही है। इसी प्रकार जीव भी अपने द्रष्टा, स्पृष्टा, रसयिता, कर्त्ता, भोक्ता आदि सभी भावों को अर्थ के माध्यम से ही प्रकट करता है। इस प्रकार आत्मा के दोनों भावों का प्रकाशन अर्थ तथा इन्द्रिय के संयोग पर ही निर्भर है। जब जब दोनों का अभाव है तब-तब अव्यक्त भाव है। यह साधना क्षेत्र का एक बड़ा संकेत यहाँ है।

इन्द्रिय जीव की उपाधि है, क्योंकि महेश्वर में इन्द्रियाँ संभव नहीं। मन, बुद्धि आदि तो दोनों में बन सकती हैं। अतः कहा जा सकता है कि वह जीव का असाधारण लक्षण है। अतः इन्द्रियों को स्थूल कहा। ये इन्द्रियाँ भौतिक होने से विषय या भूतों से उत्पन्न कही गईं। वे भूत सूक्ष्म व महान् हैं। व्यापक होने से महान् हैं। कारण-कार्य में अनुस्यूत रहता है, अतः इन्द्रियों में अर्थ व्याप्त है, यह भाव है। किंच इन्द्रियों का वही स्वरूप एवं आन्तर या असलियत है। अतः भाष्य में कहा कि **प्रत्यगात्मभूताः** विषय इन्द्रियों की प्रत्यगात्मा हैं। यहाँ बौद्धों से वेदान्त की विलक्षणता स्पष्ट है। बौद्ध विषय को इन्द्रियाधीन मानता है और वेदान्त इन्द्रियों को विषयाधीन। अतः बौद्धों की तरह ज्ञान रहते ज्ञेय का अपलाप वेदान्ती नहीं मानता। अर्थ प्रकाशनार्थ इन्द्रियाँ अपेक्षित हैं, पर अर्थ इन्द्रियसापेक्ष नहीं है। किंच साधना की

दृष्टि से इन्द्रियों से अर्थ की परता व्यक्ति को व्यापक बनने की प्ररणा देती है। यहाँ व्यापक भूतों का ग्रहण है। इसी प्रकार भाष्य में विषयों से सूक्ष्म तथा उनकी प्रत्यगात्मा मन को बताया। विषय भी ईश्वरसंकल्प-रूप हैं, अतः ईश्वरसंकल्प ही उनका प्रत्यगात्मा है। अर्थात प्रथम जीवभाव में हम अपने को इन्द्रियग्राम मानकर उसे ही देहापेक्षया प्रत्यगात्मा मानते हैं। फिर विराट् को ही प्रत्यगात्मा मानें। तव व्यापक मन उपाधि वाले ब्रह्मा को ही प्रत्यगात्मा मानें। इसी प्रकार आगे समझना चाहिये। शनैः शनैः ये ध्यान दृढ़ होकर अनुभूति बन जाते हैं। भाष्यकारों ने 'अर्थ' को भूत नहीं कहा क्योंकि स्थूलभूत की तन्मात्राओं का ग्रहण इष्ट था। पर मन का अर्थ **मनस आरंभकभूतसूक्ष्मं** कहकर मन को भौतिक कहा है। भाष्य प्रक्रिया में व्यष्टि मन व समष्टि मन अंगांगिभाव से या अंशांशिभाव से स्वीकारे गये हैं। अतः दोनों ही एक महाभूत के ही रूप हैं। यह साधना की दृष्टि से यह बताने के लिये है कि अपने व्यष्टि मन का प्रत्यगात्मा समष्टि मन को समझो। बुद्धि से इसीलिये **अध्यवसायाद्यारंभकं भूतसूक्ष्मं** कहा गया है। हमारी निश्चयात्मिका वृत्ति सूक्ष्मभूतों का ही एक प्रकार है तथा वे सूक्ष्मभूत समष्टि सूक्ष्मभूतों का ही अंश हैं, अतः उनके नियमों से ही परिचालित होते हैं। 'अध्यवसाय ही संकल्पविकल्प का आरंभ करते हैं' कहकर भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि अध्यवसाय को हटाने से संकल्पविकल्प स्वयं निवृत्ति को प्राप्त हो जाते हैं। साधक को अनेक बार ध्यान आदि में संकल्पों से परेशान होना पड़ता है। इन्हें हटाऊंगा ऐसा निश्चय उन्हें नहीं हटा पाता। परन्तु हटाने या करने के निश्चय का अभाव करके केवल साक्षिभाव से देखने पर वे स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। संकल्प उत्पत्तिक्षण में तो अध्यवसाय रूप हैं, अतः बुद्धि को मन का प्रत्य-गात्मा कहा गया। सारे प्राणियों की बुद्धि में प्रत्यगात्मभूत होने से अव्यक्त से प्रथम उत्पन्न हैरण्यगर्भ तत्त्व ही महान् आत्मा है कहकर समस्त रहस्य का प्रकाशन भाष्यकार करते हैं। अर्थात् प्रतिबुद्धि में जीवात्मा अल्प है, पर बुद्धिमात्र में हिरण्यगर्भ महान् है। यदि मन और बुद्धि को पहले जीव की मन और बुद्धि ली जाती तो यहाँ महान् आत्मा से भी जीवात्मा का ग्रहण अनिवार्य हो जाता। साधना की दृष्टि से अपने अन्दर प्रतीयमान आत्मा का महान् आत्मा से अभेदानुसन्धान यहाँ इष्ट है। महान् आत्मा से सूक्ष्म और

उसका प्रत्यगात्मा सारे जगत का बीजरूप, सारे कार्य व कारण शक्तियों से एकीभूत, नामरूपकर्म की अव्याकृतावस्था है। यह परमात्मा में आश्रित है। साधना दृष्टि से 'मैं हिरण्यगर्भ हूँ' तक सूक्ष्मभूतोपाधि होने से स्वप्नावस्था मानें, तो यहाँ कारणोपाधि से सुषुप्तावस्था मान सकते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि यहां भी अभाव उपाधि नहीं है। अतः शून्योपाधिक ध्यान का वेदान्त में कोई स्थान नहीं है। 'सर्वकारणरूप मैं हूँ' यह स्थिति यहाँ कार्योपाधि का ही निवारण करती है। इससे आगे पुरुषज्ञान तो वाणी व मन का अविषय ही है। वही प्रत्यगात्मा वास्तविक है अतः वही काष्ठा या निष्ठा है। इस प्रकार मेरा असली रूप कार्य-कारण रूपी दोनों उपाधियों से अस्पृष्ट है। कारणोपाधि से ज्ञानक्रियाशक्ति को प्रकट करने में प्रवृत्ति, फिर निश्चय, संकल्प, विषय व इन्द्रिय में क्रमशः प्रवृत्ति सृष्टि है। परन्तु इन सब उपाधियों का भी प्रत्यगात्मा वही है, यह भाव है। पुरुष ही पर्यवसान है। सूक्ष्मता व महत्ता भी यहीं समाप्त है। इससे परे कुछ नहीं कहकर जिज्ञासा को अवकाश नहीं रखा है। सारे गति वाले अर्थात् क्रिया वाले या क्रियाभिमान वाले संसारियों की यही प्रकृष्ट गति अर्थात् क्रिया है। अथवा यही परागति अर्थात् परम ज्ञान है। वस्तुतः तो सभी गति अर्थात् क्रिया या ज्ञान पुरुषरूप ही हैं। प्रत्यगात्मभूत का अर्थ ही भगवान् आनन्दगिरि करते हैं— **'प्रत्यगनपायिस्वरूपभूता'** प्रत्यग् आत्मा से रहित जिनका स्वरूप नहीं है। सत् आत्मा का रूप है तब सत् से रहित तो असत् ही हो सकेगा। अतः सभी उपाधियाँ वही हैं, उपहित वही है उपाधिविशिष्ट वही है तथा उपाधिनिर्मुक्त भी वही है।

यद्यपि भाष्य में स्थूल दृष्टि से मन का सूक्ष्मभूत, इन्द्रियों का भूतसूक्ष्म, बुद्धि का भूतसूक्ष्म देखकर अनेक भूतसूक्ष्मों की कल्पना असंगत व अप्रामाणिक लगती है, पर वह अभिप्राय के अज्ञान से ही है। भूतसूक्ष्मों की परस्पर कार्यकारणता की प्रतीति भी अज्ञान से ही प्रतीत होती है। भाष्य का तात्पर्य विषयेन्द्रिय व्यवहार को मन के अधीन बताना है तथा मन के व्यवहार को अध्यवसायाधीन बताना है। अधीन करने वाला होने से उन्हें पर या व्यापक या कारण कहा है। 'भूतसूक्ष्मं' पद तो भौतिकता प्रतिपादनार्थ है, कि कहीं उसे ही सच्चा आत्मा न समझ लिया जाय। इनकी भौतिकता तो अन्न के या विषय के कमीवेशी से या उपनिषदों से जानी जा सकती

है। अतः भूतों के अवयवसंस्थानों में ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की परापरता कल्पित की गई है, वास्तविक भेद या परापरता प्रतिपादन में श्रुति, भाष्य का तात्पर्य नहीं है।

महान् आत्मा इसीलिये कहा जाता है कि वह सुर, नर, तिर्यक आदि बुद्धियों को धारण करता है, अथवा सतत ज्ञानशील है। अधिकारी पुरुष यदि हिरण्यगर्भ से लिया जाय तब तो पंचीकृतमहाभूत का बोध व अपंचीकृतमहाभूतों का अबोध होने से वह बोधाबोधात्मक होगा। अथवा अव्यक्त से प्रथम उत्पन्न उपाधि भी है व प्रतिबिम्ब भी। उपाधि अबोध-रूप है तथा प्रतिबिम्ब बोधरूप। अपंचीकृतमहाभूत उपाधि हैं, तथा अन्तर्यामी नारायण प्रतिबिम्ब।

अव्यक्त और पुरुष का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट समझ लेना चाहिये। शक्ति का शक्तिमान् से अभेद ही होता है। अतः शक्ति से अद्वितीयता खण्डित नहीं होती। तनख्वाह देते समय ये शक्ति के लिये व ये तेरे लिये, ऐसा विभाजन कहीं नहीं मिलता। किंच सत् रूप से व्यक्त नहीं होने से ही अव्यक्त है, फिर वह ब्रह्म से द्वितीय रूप से है, यह नहीं कहा जा सकता। अव्याकृत-नामरूप ही उसका स्वरूप है। यदि इस शक्ति को न माना जाय तो सृष्टि ही असंभव हो जायगी। यदि ब्रह्म में शक्ति के बिना ही सृष्टि मानें, तो स्वरूप होने से नित्य माननी पड़ेगी। फिर तो प्रलय, सुषुप्ति तथा मोक्ष सभी असंभव हो जायगा। ब्रह्म की कारणता तो उपचारमात्र से है क्योंकि शक्ति ब्रह्म के परतंत्र है। ब्रह्म सर्वथा स्वतंत्र है। **'अधिष्ठानत्वमात्रेण कारणम्ब्रह्म गीयते'** आदि वार्त्तिक इसमें प्रमाण है। जब पुरुष का प्रकृति पर स्वर्णिम प्रकाश प्रसृत होता है तो उसकी विविधता चमक उठती है एवं घास से विष्णु तक सभी जगमगा उठते हैं। अज्ञान से प्रतीति होती है कि घास या विष्णु की उपाधि के भेद से उनमें पुरुष भेद भी है, पर ज्ञान से यह निवृत्त हो जाता है। अतः किसी भी उपाधि से परतंत्रता उसमें नहीं होती। अध्यस्तों से अधिष्ठान में न द्वितीयता आती है और न परतंत्रता, यह भाव है।

अव्यक्त का अर्थ सांख्य, योग तथा वैष्णव प्रकृति लेते हैं। प्रकृति उनके यहाँ जगन्माता है जिसमें से पुरुष के द्वारा सभी सृष्टि उत्पन्न होती है। परन्तु उसे अव्यक्त शब्द से वेद क्यों कहता है, यह वे नहीं बता पाते। अतः

रंगरामानुज ने तो सूक्ष्म शरीर को ही अव्यक्त मान लिया है। परन्तु उसे भी अव्यक्त कहना असंगत है क्योंकि इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि ही तो प्रधानतः सूक्ष्म शरीर है। अतः सत् और असत्, भिन्न तथा अभिन्न, अंश व अनंश आदि से जिसको व्यक्त न किया जा सके वह माया ही अव्यक्त पद की वास्तविक वाच्य है। शंकर भगवत्पाद प्रकृति से सांख्यवाद को स्वीकार न करके माया-शक्ति का ही ग्रहण करते हैं। यह शक्ति ही समग्र जगत् का भी कारण है एवं जगदीश्वर भी इसी के कारण जगदीश्वर हैं। रामानुज के श्रीसम्प्रदाय में तो कारणावस्थ ब्रह्म को ही अव्यक्त कहते हैं जिसमें नाम-रूप व्यक्त नहीं है। उनकी दृष्टि से ब्रह्म का परिणाम या वास्तविक प्रकार ही अव्यक्त है तथा अव्यक्त का परिणाम जगत। मध्वाचार्य तो तामिलशैववाद का अनुकरण करके अव्यक्त से भगवान् और उनके देहरूप महाभूत दोनों का ग्रहण करते है। पुरुष शब्द से सभी वैष्णवाचार्य ज्ञान की आश्रयता को ही ग्रहण करते हैं। इसमें व्यक्तित्व (Personal) का भाव रूढ्यर्थ से प्रतीत भी होता ही है। परन्तु एकत्व का प्रकाश तथा अनेकत्व का अन्धकार दोनों का सम्पुटी-करण ही यहाँ उचित लगता है। 'पुरुष एवेदं सर्वं'' आदि वेद इसमें प्रमाण हैं। तभी इसको काष्ठा कहना संगत हो सकता है। वैष्णव सम्प्रदाय में तो महाप्रलय तक यही रहता है, अतः इसे सापेक्ष काष्ठा ही स्वीकारा है। द्वैतवाद में तो प्रकृति की अपेक्षा पुरुष को प्रधानता दी जाती है क्योंकि पुरुष ही चेतन है, अतः उच्चावच, स्थूल सूक्ष्म भेद भिन्न जगत् को वह एक समान ही प्रकाशित करता है। महत्, अव्यक्त व पुरुष शब्दों को सांख्यों ने पारिभाषिक अर्थ दे दिये हैं। उनके यहाँ अव्यक्त अर्थात् प्रधान भोगमोक्ष देने के लिये त्रिगुणों में विक्षेप पैदा करके सृष्टि करता है। इनसे सर्वप्रथम महत्, बुद्धि तथा अहंकार पैदा होते हैं। परन्तु यहाँ उन परिभाषाओं का ढूंढ़ना व्यर्थ है, यद्यपि अनेक सांख्य तथा योगाचार्यों व पौराणिकों ने भी अपने कपोलकल्पित सिद्धान्तों को श्रुति का खींचतान कर ध्वनिसाम्य मात्र से श्रौत सिद्ध करने का हास्यास्पद यत्न किया है, व इदानीं काल में भी तार, बम आदि व कृष्णलीला, रामलीला आदि को भी ढूंढ़ने का प्रयत्न देखने में आता है। पर विवेकी को तो यह सब व्यर्थ तथा ईमानदारी के विरुद्ध लगता है। यहाँ तो अहंकार का निर्देश भी नहीं है। सांख्य में महत् और बुद्धि का ऐक्य है पर यहाँ भेद माना है। सांख्य में पुरुष अव्यक्त से परे न होकर दोनों

सहचारी तत्त्व हैं । विस्तार से इसका खण्डन ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय में देखा जा सकता है ।

यद्यपि वेदान्त कई बार व्यवहार में सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया को स्वीकार करता सा प्रतीत होता है, पर वह केवल तत्कालीन ही है । वेदान्त सृष्टि-प्रक्रिया में अनाग्रही है । यहाँ भी श्रौत तात्पर्य सृष्टिक्रम बताना न होकर ऐन्द्रिय ज्ञान वाले जागृत जगत से, मानस ज्ञान वाले स्वाप्न जगत में तथा वहाँ से सुषुप्त जगत् में जाने का मार्ग बताना है । इस प्रकार बाह्य जगत् से शनैः शनैः पुरुष तक लीन होना है । ये तत्त्व या देव तंत्रों में पारिभाषिक बन गये हैं । क्रमशः ध्यान आदि तथा आयुधों का बीज यहीं है । अव्यक्त तत्त्व ही सामान्यतः ईश्वर तत्त्व है । उससे क्रममुक्ति तक पहुँचा जाता है । पर जब सापेक्ष सत्ता व सापेक्ष ज्ञान से अतीत जाने के लिये अभ्रान्त एवं पूर्णतः अपने आपे से भी अलग हो जाते हैं तब सदाशिव की किरण पर चढ़कर जा पाते हैं । इस प्रकार बाहर से क्रमशः अन्तस्तल में जाने का गुह्य मार्ग यहाँ बताया गया है ।

: १२ :

यदि गति है तो आगति भी संभव है । ऐसी शंका का निवारण करते हैं कि यहाँ गति अवगति है :—

एषः सर्वेषु भूतेषु गूढः आत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते तु अग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।

सर्वेषु = सभी
भूतेषु = भूतों में
गूढः = छिपा हुआ
एषः = यह
आत्मा = आत्मतत्त्व
न = नहीं
प्रकाशते = जाना जाता है ।
तु = परन्तु
अग्र्यया = एकाग्र,
सूक्ष्मया = सूक्ष्म वस्तु निरूपण कुशल
बुद्ध्या = बुद्धि से
सूक्ष्मदर्शिभिः = सूक्ष्मदर्शियों द्वारा
दृश्यते = जाना जाता है ।

सभी का प्रत्यगात्मा होने से ज्ञान ही गति का अर्थ संभव है, अतः यहाँ दृश्यते से परा गति का ही अनुवाद है । अपने से भिन्न की प्राप्ति तो गति से

संभव है, पर अभिन्न की प्राप्ति तो ज्ञान से ही होती है। इन्द्रिय आदि की परता से उसकी प्रत्यगात्मता ही बताई गई है। अनात्मभूत को ही जाने वाला जा सकता है। यह तो ब्रह्मा, विष्णु से घास के तिनके तक सभी में छिपा हुआ मौजूद है। तब तो इसके लिये साधना ही व्यर्थ है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। गूढः का यही तात्पर्य है। जैसे धूमलिंग की मौजूदगी में अग्नि छिपी हुई भी विद्यमान है वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। दर्शन, श्रवण, कथन, आनन्दन आदि कर्मों के लिंग में यह अविद्या से गूढ़ है, यह भाव है। अन्यथा तो 'नहीं जाना जाता है' तो 'नहीं है ही' ऐसी स्थिति बन जायगी। रहस्य यह है कि जीवरूप से प्रकाशित होते हुये भी आत्मरूप से नहीं भासता। प्रकाश के ब्रह्मरूप होने पर भी ब्रह्मस्वरूप से न भासने में कोई प्रतिबन्धक मानना ही पड़ता है। जीवप्रकाश भी ब्रह्मप्रकाश ही है। यह प्रतिबन्धक वस्तु नहीं हो सकती अन्यथा ज्ञान से मुक्ति असंभव हो जायगी। इस श्रौतार्थापत्ति प्रमाण से अविद्या सिद्ध होती है। अतः 'अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः' अर्थात् मार्गरहित ही संसार मार्ग के पार जाते हैं आदि श्रुतियाँ संगत होती हैं।

माया की यही असीम शक्ति है कि सभी जन्तु वस्तुतः परमार्थसत् होकर भी बार-बार जगाने पर भी अपने परमात्मभाव को नहीं ग्रहण कर पाते, एवं देहादिओं को घटादि की तरह देखते हुये भी आत्मा मानते हैं। परमशिव की माया से मुग्ध सभी लोग अपने को बिना शास्त्रोपदेश के ही किसी का पुत्र, पति आदि मानते रहते हैं। परन्तु यह शक्ति असंस्कृत बुद्धि को ही मुग्ध करती है। संस्कृत बुद्धि में तो शिवकृपा का आवेश होने से मोह निर्मूल हो जाता है। अतः निदिध्यासन की पुष्कलता से अन्तःकरण को एकाग्र बनाना चाहिये। सहकारी एकाग्र धी में जब महावाक्य से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति उत्पन्न होती है तब उस वृत्ति में अभिव्यक्त होने से ब्रह्मभाव स्वतः अपरोक्ष रूप से व्यवहृत होकर 'जाना जाता है' कहा जाता है। क्रमशः इन्द्रिय से अव्यक्तपर्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं में एकाग्रता लाने से सूक्ष्मवस्तु-निरूपणता की सामर्थ्य प्राप्त होती है। अतः पूर्व मंत्र में बताये प्रकार से जो पंडित बना वही यहाँ सूक्ष्मदर्शी कहा गया। जिस प्रकार न्यूटन की भौतिकी से ही आइन्स्टाइन की भौतिकी में प्रवेश होता है, वैसा ही यहाँ समझना

चाहिये। यहाँ देव दर्शन या योग विभूतिदर्शन न होकर सम्यग्दर्शन ही विवक्षित है। गूढोत्मा संधि छान्दस है।

: १३ :

सूक्ष्मदर्शन के लिये साधन रूप से मार्ग का प्रतिपादन करते हैं:—

यच्छेत् वाक् मनसी प्राज्ञः तत् यच्छेत् ज्ञाने आत्मनि।
ज्ञानम् आत्मनि महति नियच्छेत् तत् यच्छेत् शान्ते आत्मनि॥

प्राज्ञः = प्रज्ञावान्
वाक् = वाणी को
मनसी = मन में
यच्छेत् = उपसंहृत करे;
तत् = उसको (मन को)
ज्ञाने = बुद्धिरूपी
आत्मनि = आत्मा में
यच्छेत् = उपसंहृत करे;
ज्ञानम् = बुद्धि को
महति = महान्
आत्मनि = आत्मा में
नियच्छेत् = उपसंहृत करे,
तत् = उसको (महेश्वर को)
शान्ते = सर्वप्रपंच की उपशान्तिरूप
आत्मनि = मुख्य आत्मा में
यच्छेत् = उपसंहृत करे।

मनसि की जगह मनसी आर्ष है। यच्छेत् का मूल अर्थ तो देना है। अतः वाणी को मन को देना अर्थात् मन से सर्वतोभावेन वाणी नियंत्रित रहे यह भाव है। इसी प्रकार मन को बुद्धि को देना है तथा बुद्धि को प्रथम उत्पन्न होने वाले हिरण्यगर्भरूपी ईश्वर को देना है। वेद के अनुसार ही बुद्धि निर्णय करे यह भाव है। भाष्य तो **'प्रथमजवत्स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानमापादयेत्'** कह कर स्पष्ट करते हैं कि ईश्वर की तरह अपनी बुद्धि सुन्दर करना ही यहाँ इष्ट है। फिर प्रवृत्ति-निवृत्ति से अतीत सभी विशेष प्रत्ययों के अस्तरूप सर्वान्तर सर्वबुद्धिप्रत्ययों के साक्षीरूप में लीन होना इष्ट है। वाक् से यहाँ सभी इन्द्रियों को समझ लेना चाहिये। इन्द्रिय तथा अर्थ को, एवं हिरण्यगर्भ (महान् आत्मा) तथा ऐश्वरी शक्ति (अव्यक्त) को यहाँ एक करके कहा गया है, यह ध्यातव्य है। तात्पर्य है कि सूक्ष्मविचारक इन सोपानों को इकट्ठे भी लाँघ सकते हैं। यह उपलक्षणा से अन्य सोपानों में भी समझ लेना चाहिये।

यच्छेत् से भाष्य में सर्वत्र नियच्छेत् ग्रहण करके उपसंहार करे को ही ग्रहण इसलिये किया है कि कार्य-कारण के प्रति दिया जाकर लीन ही होता है। घड़े को मिट्टी को देना अर्थात् मिट्टी में लीन करना ही होता है। अभेद ध्यान से ही यह संभव है। भाष्य का तात्पर्य है कि वाणी जब मन से अभिन्न हो जाती है तो मनरूप ही हो जाती है। इसी प्रकार धीरे-धीरे पुरुष से अभिन्न होना है। हिरण्यगर्भ के प्रसंग में तो स्पष्ट ही हिरण्यगर्भ की तरह होना ही भाष्य में कहा गया है। अतः उपसंहार का अर्थ यहाँ नाश नहीं वरन् कारण से अभेदानुभूति है। तात्पर्य है कि इन्द्रियविशिष्ट मैं से मनविशिष्ट मैं, वहां से क्रमशः बुद्धिविशिष्ट मैं तथा अन्तर्यामी विशिष्ट मैं एवं सर्वोपाधि रहित मैं, इस प्रकार क्रमशः निदिध्यासन के द्वारा अनुभूति करनी है।

प्राज्ञ से यह बताया-कि जिसने उपर्युक्त उपासना तथा महावाक्य का श्रवण कर लिया है, ऐसा विवेकी ही ब्रह्म-दर्शन कर सकता है। बुद्धि की जगह ज्ञान शब्द का प्रयोग यह बताने के लिये है कि संकल्प-विकल्प रूप मन को प्रकाशस्वरूप बुद्धि में लय करे, अर्थात् संकल्प-विकल्प वस्तुतः ज्ञानमात्र ही हैं। वासना आदि से ही उसमें शुभ, अशुभ आदि दृष्टि बनती है। अत: जब भी मन संकल्प आदि करे तो उसे केवल ज्ञानमात्र ही समझे। अतः संकल्प आदि का प्रत्यगात्मा ज्ञान ही है। पूर्व मंत्र में बुद्धि से यद्यपि अध्यवसाय लिया था परन्तु वहाँ भी सूक्ष्म ध्वनि यही थी क्योंकि अध्यवसाय या निश्चय भी ज्ञानरूपता का ही है। अथवा यहाँ साधन क्रम में थोड़ा भेद भी स्वीकार किया जा सकता है। तब पूर्व मंत्र में संकल्प को अध्यवसाय में लीन करना कहा गया, एवं यहाँ सामान्य ज्ञान में यह स्वीकार्य है। हिरण्यगर्भ तो समष्टि है ही। स्वच्छ स्वभाव से तात्पर्य आत्मा का शुद्धान्तःकरण अर्थात् लयविक्षेपदोष से रहितावस्था में दर्शन है। यह दर्शन ही सगुण ब्रह्म का दर्शन माना जाता है यह वेदान्तसिद्धान्त है। विष्णु आदि मूर्तियों का दर्शन तो देवदर्शन है, सगुण ब्रह्मदर्शन नहीं। अतः सविकल्प समाधि के व निर्विकल्प समाधि के सन्धिकाल का यहाँ ग्रहण है। यहाँ से आगे तो शिव अद्वितीय शान्त में स्थिति है। यह आवरणभंग का अनुभव है जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय आदि सभी भाव समाप्त हैं। भाव है कि जब सभी कल्पनाओं तथा विचारों (बुद्धि) से रहित होकर व्यापक भाव की ओर

जाता रहता है तो अपने जीवभाव से उठकर शान्त व पूर्ण ब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुखता (Introversion) एवं विज्ञान (Recollection) का यहाँ विधान है। वाह्य पदार्थों को बन्द करके सभी विक्षेपों से अपने को रिक्त करने पर अपने गहनतम एवं उच्चतम रूप पर ध्यान संभव होता है। यद्यपि शिव सर्वत्र है पर उसके मिलने का स्थान सर्वत्र नहीं है। हमारी आत्मा के केन्द्र में ही शिव हमारे साथ सारे विश्व में रमता है। वहीं वह हमारी बाट देखता है, हमारे लिये रुका खड़ा है। वहीं वह मिलता है व हमसे वार्ता करता है। अत: शिव से मिलन हेतु हमें अपने भीतर ही प्रविष्ट होना होगा यह भाव है। अपने सभी संस्कारों को छोड़कर केवल साक्षी भाव से स्थित होना है तथा नित्य चिदात्मा को प्रकाशित अनात्मा अनित्य को शिव शक्ति रूप से समझना है। एक बार उस शिव से मिल गये तब सारी सृष्टि ही शिवमय बन जाती है।

: १४ :

प्राणिमात्र को श्रुति सम्बोधन करती है:—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम् पथः तत् कवयः वदंति ॥

उत्तिष्ठत = उठो;	दुरत्यया = पार करने में कठिन
जाग्रत = जागो;	धारा = धार (की तरह)
वरान् = श्रेष्ठों को	तत् = वह
प्राप्य = प्राप्त कर	पथ: = मार्ग
निबोधत = प्रबोध करो।	दुर्गम् = दुर्गम है (ऐसा)
क्षुरस्य = छुरे की	कवय: = कवि लोग
निशिता = तेज (तथा)	वदन्ति = बताते हैं।

श्रुति का कहना है कि पुरुष में मिथ्या ज्ञान से फैले नाम-रूप-कर्म त्रिविधात्मक जगत् को प्रविलापन करने के लिये खड़ा हो जाना चाहिये। उत् नाम छान्दोग्य के अनुसार ब्रह्म का है। अत: ब्रह्म में निष्ठा प्राप्त करना ही उत्तिष्ठित होना है। स्वात्मा के यथार्थ शिवरूपता के ज्ञान से क्रिया-कारक-फल लक्षण वाला संसार, आकाश-ज्ञान से आकाश के नीलिमा की प्रतीति की

तरह हो जाता है। तभी स्वस्थ, प्रशान्त होकर कृतकृत्यता प्राप्त होती है। अतः इसी के लिये खड़े हो जाना चाहिये।

अथवा उठो का अर्थ जगने की आज्ञा भी हो सकती है। अनादि अविद्या में सोये हुये प्राणियों को श्रुति उठने को कहती है। आत्मज्ञान के अभिमुख हो जाओ, यह भाव है। फिर जाग्रत अर्थात् घोर अज्ञाननिद्रा को, जो सारे अनर्थों की बीज है, नष्ट करो। यदि उत्तिष्ठत से ही निष्ठाप्रवृत्ति है तो जाग्रत से असंभावना तथा विपरीत भावना का संग्रह हो जायगा। ऋग्वेद में कहे चार युगों के अनुसार तो अज्ञाननिद्रा में सोना कलियुग है, उठना द्वापर है, जागकर खड़े होना त्रेता तथा चल पड़ना सत्ययुग या कृतयुग है। तब उत्तिष्ठत से द्वापर, जाग्रत से त्रेता एवं प्राप्य वरान् से सत्ययुग का ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार अभ्यास में तथा वैराग्य में शनैः शनैः उन्नत होते रहना चाहिये।

प्राप्य वरान् अर्थात् श्रेष्ठ प्रकृष्ट ज्ञानी गुरुओं के पास जाकर उनके द्वारा उपदिष्ट महावाक्यों से 'सर्वान्तर्यामी आत्मा मैं हूँ' की अवगति करनी चाहिये। श्रुति तथा गुरु ही ज्ञान का बीज शिष्य की योनि में स्थापित कर सकते हैं। केवल अन्तःकरण की शुद्धि तथा निर्विकल्प समाधि से भी ज्ञान संभव नहीं है, यह यहाँ स्पष्ट किया गया है। अतः सम्प्रदाय परम्पराहीन में ज्ञान असंभव है।

वरान् का अर्थ वरों को भी हो सकता है। नचिकेता को यम का कहना है कि अब तुमने वरों को प्राप्त कर लिया अतः अब प्रबोध की स्थिरता में लग जाओ। यह वल्ली एक प्रकार से कठ की समाप्ति सी प्रतीत होती है, यह आगे के श्लोकों में भी स्पष्ट होगा अतः यम का उपसंहार वाक्य भी इसे माना जा सकता है।

इन तीनों वाक्यखण्डों में विधिलिङ् का प्रयोग किया गया है। 'विधि निमंत्रणा-मंत्रणा-धीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ्' (पाणिनी ३.३.१६१) के अनुसार आदेश देना, साग्रह निमंत्रित करना, स्वीकृति देना, अवैतनिक कार्य के लिये (Honorary work that gives honour) कहना यहाँ प्रकरणानुसार मानना चाहिये। संप्रश्न व प्रार्थना का अर्थ तो बनता नहीं। अतः श्रुति कर्मकाण्डियों को आदेश देती है कि केवल कर्मकाण्ड में न लगे

रहो। विधारकों को इस मार्ग में आने के लिये साग्रह निमंत्रित करती है कि विषयों का विचार तो कर लिया अब कुछ विषयी का भी विचार करो। प्रत्यवाय के भय से त्रस्तों को स्वीकृति देती है कि सर्वकर्मसंन्यास का भय छोड़, आत्मज्ञान में प्रवृत्ति करो। भक्तों को कहती है कि यह निष्फल होने से वास्तविक निष्काम कर्म भी है, अतः भगवान को अत्यन्त प्रिय भी है। कुछ लोग तो प्रार्थना अर्थ भी स्वीकार के मानते हैं कि माता की तरह पुत्र से श्रुति प्रार्थना करती है क्योंकि जीव का दुःख उससे सहन नहीं होता। यदि शंका हो कि क्या अभी करें या फिर कभी तो **'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु'** (पाणिनी ३.३.१६३) से 'यही उचित समय है' इस अर्थ में विधिलिङ समझ लेना चाहिये। श्रुति का निर्देश है कि आत्मज्ञान के लिये प्रवृत्त होने को सभी काल उपयुक्त हैं। अतः किसी भी कार्य या साधना या आश्रम या कर्तव्य आदि के नामों से इसमें विलम्ब करना कामना के कारण ही होता है, श्रौतविधि के अनुसार नहीं। 'यदहरेव' आदि श्रुति इसमें प्रमाण है। 'अर्हे' (पाणिनी ३.३.१६९) से योग्य अर्थ में भी लिङ संभव है। अतः यह आत्मप्रबोध करना ही योग्य कार्य है। मानव जन्म में आकर सांसारिक वैभव तो क्या स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि की प्राप्ति भी अति तुच्छ है, क्योंकि वस्तुतः योग्य कार्य तो ज्ञान ही है। 'शकि लिङ् च' (पा० ३.३.१७२) से श्रुति का यह भाव भी प्रकट होता है कि प्रत्येक मानव आत्मज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

बहुत बार इसी संदेह में कि आत्मज्ञान की सामर्थ्य किसी विशिष्ट अधिकारी में ही हो सकती है, आत्मज्ञान के मार्ग से दूर रहते हैं। अतः उसका भी यहाँ निराकरण है। वैदिक कर्मकाण्ड में तो जगह-जगह वर्णाश्रम को लेकर कर्म सामर्थ्य का निरूपण है। पर उपनिषदों में ही प्रायः 'नर' आदि संज्ञाओं का प्रयोग कर यही बताया है कि आत्मज्ञान से परम पुरुषार्थ प्राप्त करना मानव-मात्र की सामर्थ्य में है। अतः अन्य कर्मकाण्ड की तरह यहाँ कोई प्रतिबन्धक नहीं है। **'कामप्रवेदनेऽकच्चिति'** (पा० ३.३.१५३) से श्रुति की यह कामना अर्थात् इच्छा व आशा है कि हम सब आत्मज्ञान को प्राप्त करें। श्रुति ही परमेश्वर की इच्छा को प्रकट करती है, अतः यह परमेश्वर की ही इच्छा है। वे सत्यसंकल्प हैं, अतः प्राणिमात्र को कभी न कभी आत्मज्ञान अवश्यंभावी होने से सर्वमुक्ति का सिद्धान्त श्रौतसिद्धान्त है। हम प्रयत्न करें तो शीघ्र, अथवा कालान्तर में, यही भेद है। इस प्रकार अतिधन्य वेद ने अनेक प्रकार

से मानवों को प्रेरणा दी है कि सर्व प्रथम आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न करें। यही वह अङ्क है जिसके सामने आने पर वैभव, विद्या, धन, स्वर्ग आदि सभी शून्य होते हुए भी शोभान्वित या गुण बन जाते हैं, एवं जिसके न होने पर सभी शून्य व्यर्थ हो जाते हैं। इस एक प्राप्ति की महत्ता इतनी अधिक है कि चक्रवर्त्ती राज्य, इन्द्र पद भी उसकी तुलना में शून्य बन जाता है।

यद्यपि इसका महत्त्व बताया पर श्रुति आगाह भी करती है कि ढीले ढाले (Slip-shod) प्रमादियों के लिये यह मार्ग कठिन है। अतः उपेक्षा पूर्वक कि जब चाहेंगे कर लेंगे इधर अप्रवृत्ति न करें (न ह्य पेक्षितव्यमिति)। अनेक लोग घर के सभी कार्यों से निवृत्त होकर जीवन के उत्तरार्ध में करेंगे इस भावना से उपेक्षा करते देखे गये हैं। उनको श्रुति कह रही है कि अति सावधानी एवं करणसंघात की चतुरता यहाँ अपेक्षित है। ज्ञेय यहाँ अतिसूक्ष्म बुद्धि का ही विषय है, स्थूल बुद्धि का नहीं। जिस प्रकार विज्ञान संस्कार शून्य को यह समझना कठिन है कि पदार्थ का परिमाण या वजन सापेक्ष है। अधिक गति होने पर वजन बढ़ जाता है या परिमाण घट जाता है उनको असंभव लगता है, परन्तु अतिसूक्ष्मधी भौतिंकीज्ञ तो विवस्तु (Anti-matter) व विकाल (Negative or anti-time) भी सरलता से समझ लेता है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिये। तेज छुरे की धार पर जैसे पैदल चलना कठिन है, वैसे ही स्थूल बुद्धि से इसको समझना कठिन है। यहाँ तुलसी आदि ने तो 'पड़त खगेस होय नहीं बारा' आदि से गिरने में दृष्टान्त को ले जाने का प्रयास किया है, पर वस्तुतः वह अभिप्राय यहाँ नहीं है क्योंकि द्वादशमंत्र में **अग्र्यया सूक्ष्मया बुद्ध्या** कह आये हैं। अतः सूक्ष्मता बुद्धि के लिये विधान करने में यह गतार्थ है। किं च छुरे की नोंक पर तो कोई चल ही नहीं सकता, तो गिरने की संभावना कैसी? अतः असंभव उपमा हो जायगी। मार्ग का असंभव प्रतिपादन करना तो सर्वथा प्रकरणविरुद्ध हो जायगा। अतः तात्पर्य है कि जो विषय सूक्ष्म होता है उसके लिये सूक्ष्मतर बुद्धि की आवश्यकता होती है। मार्ग से कम चौड़ा ही मार्ग पर चलने वाला चक्का या पैर चाहिये। यह विषय हृदय में अति सूक्ष्म दहर में प्रवेश करने का होने से बुद्धि को सूक्ष्मतर बनाना आवश्यक है। असावधानी व प्रमाद से यहाँ शून्य बन जाना चाहिये। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' आदि श्रुति यहाँ उद्धृत होने के योग्य

है। पौनः पुन्येन विषय वैराग्य से तथा वेदान्तश्रवण एवं गुरुसेवा में अप्रमत्त होकर लगने से यह संभव है।

दुर्ग से दुःसम्पाद्यता ध्वनित है। जैसे किले को जीतना कठिन है वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। अथवा शरीर एक दुर्ग है। शरीर आदि का अध्यास छोड़कर ही आत्मदर्शन किया जा सकता है। शरीर रूपी दुर्ग में आत्मा बंधा हुआ है, यह भाव है। तत्वज्ञान ही पथ है। क्रान्तदर्शी मेधावी ऋषि ही कवि हैं। अथवा ईश्वर को भी कवि कहा जाता है। जब ऐसे महर्षि उसे पथ बता रहे हैं तो वह कोई असंभव या ऊबड़-खावड़ या जंगली रास्ता तो हो ही नहीं सकता। इसके द्वारा साधक को उत्साह दिया जा रहा है कि यह मेधावियों द्वारा प्रदर्शित होने से भयशून्य मार्ग है। इसमें जाने से कोई खतरा नहीं हो सकता।

प्रायः लोग ज्ञानमार्ग को भयावह मान बैठते हैं। पर विचार से पता लगता है कि कर्ममार्ग में प्रत्यवाय तथा विधिपूर्ण न होने का भय बना रहता है, योगमार्ग में तो अनेक प्रकार के भय प्रसिद्ध हैं ही तथा भक्ति में भी सदा देव के नाराजी का या श्रद्धा ठीक जगह है या नहीं, इसका भय बना ही रहता है। केवल ज्ञानमार्ग ही निर्भयमार्ग है। यह मार्ग पैना होने पर भी दुर्ग की तरह सुरक्षित व दृढ़ है। अतः इस मार्ग में चलने पर भय की संभावना नहीं है। कठिनाई तो विषयता समान होने पर सभी मार्गों में एक जैसी है। ईसाइयों की बाइबिल में भी लिखा है कि "Strive to enter in at the strait gate, for narrow is the gate and straitened the way that leads to life, and few be they that find it."

: १५ :

ज्ञेय का स्वरूप प्रतिपादन करके फल भी बताते हैं :—

अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम् तथा अरसम् नित्यम् अगन्धवत् च यत् ।
अनादि अनन्तम् महतः परम् ध्रुवम् निचाय्य तम् मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥

अगन्धवत् = गन्धहीन,	अरूपम् = रूपहीन,
अरसम् = रसहीन,	अस्पर्शम् = स्पर्शहीन,

अशब्दम् = शब्दहीन,
तथा = तथा
अव्ययम् = व्ययहीन,
नित्यम् = नित्य,
अनादि = आदिहीन,
अनन्तम् = अन्तहीन,
च = और
महतः = महान् आत्मा से
परम् = परे
ध्रुवम् = कूटस्थ
यत् = जो है,
तम् = उसको
निचाय्य = साक्षात् करके
मृत्युमुखात् = मृत्यु के मुख से
प्रमुच्यते = हमेशा के लिये छूट जाता है।

सबसे स्थूल पृथ्वी पाँच गुण वाली है जो विशेष गुण के कारण गन्धवान् कही जाती है। स्थूल देह भी पार्थिव ही है। अतः सर्वप्रथम उसका निषेध किया। फिर एक-एक गुण कम वाले जल से आकाश तक का निषेध किया। ये पूर्वापेक्षया सूक्ष्म, व्यापक, शुद्ध, नित्य आदि भी हैं ही। जो आकाश के गुण शब्द से भी रहित हैं, उसकी सूक्ष्मता का क्या कहना। शब्दादि गुण से रहित होने से ही व्यय अर्थात् क्षय या न्यून भाव की प्राप्ति असंभव हो जाती है। अव्यय से ही नित्य की सिद्धि है। कारण न होने से अनादि है। कार्य के कारण में लीन होने से ही उसका अन्त होता है, अतः वह अनन्त भी है। अथवा कारण कार्य को उत्पन्न करके सान्त होता है। इसका कोई कार्य भी नहीं अतः अनन्त है। नित्य विज्ञप्तिस्वरूप होने से तथा सबका साक्षी व सर्वरूप होने से वह विकारी महत्तत्त्व (बुद्धि) से भी परे है। यहाँ समष्टि बुद्धि ही इष्ट है। ध्रुव कहकर उसको सर्व का केन्द्र बता दिया। अतः वह निरपेक्ष नित्य है। इसको अपरोक्ष रूप से जानकर अविद्या-काम-कर्म-लक्षण वाली मृत्यु का फिर विषय नहीं बनता। भाष्यकार तो इसी को मृत्यु का मुख मानते हैं। इनसे वियुक्त होना ही मोक्ष है।

हमने यहाँ पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम को गौरव दिया है क्योंकि यही मीमांसा का सिद्धान्त है।

प्रथम मनुष्य आत्मा को द्रष्टा, स्पृष्टा आदि समझता है, फिर मन आदि के बढ़ने-घटने से व्यय वाला मानता है। इन सब उपाधियों को हटाने पर ही ब्रह्म का प्राकट्य अपने गुह्यतम स्तर पर होता है। महतः परं से उसे सगुण ब्रह्म से भी पर बताने का भाव है। सर्वथा निषेधमुखी शब्दों से उसमें कहीं अभाव की ध्वनि न आ जाय, अतः उसे ध्रुव (Centre) शब्द से कह दिया।

श्वेताश्वतर में सृष्टि को ब्रह्मचक्र कहा है। ब्रह्मचक्र का ध्रुव ही तो ब्रह्म है। जिस प्रकार ध्रुव स्वयं गतिहीन होकर सबकी गति का कारण होता है वैसा ही यहाँ समझना चाहिये। ध्रुव से चक्र का प्रत्येक स्थल समान दूरी पर होता है, इसी प्रकार प्रत्येक भूत ब्रह्म से समान दूरी पर ही है। जीवन-चक्र में जिसने इस ध्रुव को जान लिया वह कृतकृत्य हो गया। ध्रुव् गतिस्थैर्ययो: धातु से निष्पन्न ध्रुव शब्द गति व स्थिरता दोनों को बताता है। समग्र संसार की गति का कारण होने से वह गतिरूप भी है, तो कूटस्थ रूप से स्थिर भी। वह स्थिर रहकर ही गति करवाता है यह भाव है। बुद्धिवृत्ति गति करती है, पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने पर ही। परन्तु प्रतिबिम्बरूप से चंचल होकर भी आत्मा बिम्बरूप से स्थिर ही है। अथवा आकाश के कारण ही किसी भी पदार्थ में गति संभव होने से आकाश (Space) सभी गतियों का कारण माना जायगा। फिर भी स्वयं आकाश स्थिर ही रहता है। घटाकाश में गतिमान दीखने पर भी वह गतिहीन ही रहता है। इसी प्रकार यह भी ध्रुव है।

परवर्त्ती साहित्य तथा धर्मशास्त्रों में ध्रुवदर्शन को बड़ा महत्त्व दिया है। वस्तुत: वह आत्मज्ञान का ही महत्त्व है। आकाशस्थ ध्रुव तो हमारे ब्रह्माण्ड (Galaxy) का केन्द्र होने से उसका प्रतीक ही है। विवाह में भी ध्रुवदर्शन इसीलिये महत्त्व का था कि हम दोनों आत्मज्ञान के लिये प्रयत्नशील रहें, ऐसी प्रतिज्ञा कराई जाती थी। जब ध्रुव न हो तो उसका विकल्प सूर्यदर्शन था क्योंकि सूर्य आत्मा जगत: आदि श्रुतियों से सूर्य को भी आत्मा का ही प्रतीक माना गया है। 'जब ध्रुव न दीखे तो मनुष्य की मृत्यु शीघ्र होने वाली है' आदि पुराण वचन भी यही बताने को हैं कि जब शिव केन्द्र को हम न जानें तब अविद्या कामकर्म रूपी मृत्यु सन्निहिततर है। व्यावहारिक दृष्ट्या जब हमें अपने जीवन की केन्द्रचेतना का भान न रहे तो मृत्यु नज़दीक है। इस प्रकार ध्रुव शब्द यहाँ से लिया जाकर अपने साहित्य में महत्त्व को प्राप्त कर गया है। पुराणों में तो ध्रुवपद की प्राप्ति करने वाले ब्रह्मज्ञानी को प्रतीक बनाकर एक रोचक उपाख्यान का ही निर्माण कर लिया है। वहाँ भी सौतेली माता ध्रुव को मरकर जन्म लेने को कहती है जो यहाँ नचिकेता का पिताज्ञा से मरना याद दिला देता है। उस ध्रुव को जानकर फिर कालान्तर में नहीं वरन् यहीं मुक्त होता है यह वर्त्तमान प्रमुच्यते से कह दिया गया।

: १६ :

प्रकृत ब्रह्मानुभव तथा उसके साधन की स्तुति करते हुये आख्यायिका के अंश को कठ महर्षि समाप्त करते हैं:—

नाचिकेतम् उपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥

मृत्युप्रोक्तं = मृत्यु के द्वारा कही हुई
नाचिकेतम् = नचिकेता सम्बन्धी
सनातनम् = नित्य
उपाख्यानम् = कथा को
उक्त्वा = कहकर
च = व
श्रुत्वा = सुनकर
मेधावी = प्रज्ञावान्
ब्रह्मलोके = ब्रह्मरूपी लोक में
महीयते = महत्त्व पाता है।

यह कथा सुनना व सुनाना ब्रह्मलोक में महत्त्व प्राप्त कराता है। भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है जो स्पष्टतः इसी श्रुति की नकल है। यह नचिकेता सम्बन्धी कथा (नाचिकेतम्) है या नचिकेता के द्वारा प्राप्त कथा है, दोनों अर्थ संभव हैं। भाष्य में **नचिकेतसा प्राप्तं** का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि यह कथा मानव लोक में नचिकेता ऋषि के द्वारा प्रादुर्भूत हुई है। वैराग्य के प्रतीक नचिकेता ने ही इसे पाया, अतः नचिकेता जैसा वैराग्यवान् ही इसका मुख्याधिकारी है, यह सर्वज्ञ शंकर का भाव है।

उपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं से भाष्यकार स्पष्ट ही इन तीन वल्लियों को ही ग्रहण करके इनको पूर्ण ग्रंथ मानते हैं। आगे के अध्याय का श्राद्ध में अविनियोग भी इसमें हेतु है। यहाँ इस कथा को सनातन कहकर स्पष्ट कर दिया है कि यह किसी युग में घटी हुई कथा न होकर प्रत्येक साधक के जीवन में सदा घटती हुई कथा है। भाष्य में तो इसमें 'वैदिकत्वात्' हेतु देकर और भी स्पष्ट कर दिया है कि सभी वैदिक कथायें सनातन हैं, अतः ऐतिहासिक नहीं। किं च इस हेतु से यह भी कह दिया कि जो-जो वैदिक है वह-वह सनातन है। यदि राम, कृष्ण आदि अवतारों को हम वैदिक सिद्ध करें तो उनका ऐतिहासिकत्व खण्डित होकर वे भी केवल प्रतीकमात्र रह जावेंगे जो चौबे गये छब्बे बनने दूबे बनकर घर को आये की तरह उनके

व्यक्तित्त्व को तथा महत्त्व को नष्ट ही करने वाली हो पड़ेंगी। वैदिक उपाख्यान को ऐतिहासिक मानने पर तो वेद ही अनित्य हो जायगा।

भाष्य में **आचार्येभ्य: श्रुत्वा** कहकर स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्मनिष्ठ से ही वैदिक कथाएँ सुननी चाहिये। अन्यथा दृष्टफल उत्पन्न होने पर भी अदृष्ट फल से वंचित रहना पड़ेगा। जिसका अन्तःकरण शुद्ध होगा उसको ज्ञान तो दृष्टफल होने से प्राप्त हो जायगा, परन्तु जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा उसको अर्थज्ञान से अतिरिक्त कोई फल न हो सकेगा। इसी प्रकार **उक्त्वा ब्राह्मणेभ्य:** कहकर ब्रह्मविविदुषुओं को ही सुनाकर अपूर्ण उत्पन्न होगा, यह स्पष्ट किया गया है। च कार समुच्चयवाचक होने से सुनना तथा सुनाना दोनों की विधि है, जिससे ब्रह्मलोक में महत्त्व मिलता है। बिना सुने तो सुनायेगा कैसे और बिना सुनाये दृढ़ता नहीं होती।

ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक:, अत: ब्रह्म का अनुभव नहीं होता, वरन् ब्रह्म ही अनुभव है। घटादि अनुभवों में भी अनुभवरूप तो ब्रह्म ही है। उसमें **महीयते** अर्थात् **'आत्मभूत उपास्यो भवति** आत्मरूप से उपास्य होता है' कहकर शंकर स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक अनुभव को वह अपना आत्मा समझ कर उसमें उपास्य बन कर सबका उपास्य बन जाता है। अर्थात् सभी लोग ज्ञान की कामना से ज्ञान प्राप्ति के लिये जो भी यत्न करते हैं उससे उसकी ही उपासना करते हैं। सुख भी एक ज्ञान ही है, अत: सुखार्थी भी उसी की उपासना करते हैं। अथवा जिसे साधारण जन परमेश्वर मानकर उपास्य समझते हैं वह ब्रह्मनिष्ठ से अभिन्न होने से वही है। स्वयं तो वह अपनी आत्मा को ही उपास्य मानता है। उपासक व उपास्य का भेद नष्ट हो जाता है। ब्रह्मलोक में भी महत्ता प्राप्त करता है तो इस लोक का क्या कहना, यह अर्थ तो स्पष्ट ही है। इससे श्रुति यह भी बताती है कि ब्रह्मोपासना का उत्तम महत्त्वपूर्ण प्रकार ब्रह्मनिष्ठ की उपासना ही है।

: १७ :

सुनने-सुनाने के देश, काल आदि का निर्देश करते हैं:—

य: इमम् परमम् गुह्यम् श्रावयेत् ब्रह्मसंसदि।
प्रयत: श्राद्धकाले वा तत् आनन्त्याय कल्पते। तदानन्त्यायकल्पते॥

य: =जो **प्रयत:** =शुद्ध होकर

श्राद्धकाले = श्राद्ध समय में	श्रावयेत् = सुनाता है
वा = तथा	तत् = वह (श्राद्ध)
ब्रह्मसंसदि = ब्राह्मण सभा में	आनन्त्याय = अनन्त फल के लिये
इमम् = इस	कल्पते = सम्पन्न हो जाता है।
परमम् = अत्यन्त	(द्विरुक्ति अध्यायसमाप्ति के
गुह्यम् = गोपनीय (ग्रंथ) को	लिये है।)

ब्राह्मणसभा स्थल का निर्देश करती है तथा श्राद्ध काल का। अर्थात् श्राद्धकर्त्ता इस ग्रन्थ को शब्दत: व अर्थत: खाते हुये ब्राह्मणों को सुनावे तो वह श्राद्ध अनन्तफलप्रद हो जाता है। अर्थात् इस प्रकार एक बार किया हुआ श्राद्ध भी सभी बार किये हुये श्राद्धों से अधिक फल वाला है। यहाँ यत् प्रयत्ने से न लेकर यत् निकारोपस्कारयो: से निकार अर्थात् चोट पहुँचाना अर्थ में प्रयत शब्द लेना चाहिये। अर्थात् इन्द्रिय मन आदि को अहं से अलग करके चोट पहुँचा दी गई है जिसके द्वारा। यही अध्यासनिवृत्ति वास्तविक शुचि है, अत: भाष्य में प्रयतश्शुचिर्भूत्वा कहा गया है। यदि प्रयत्न अर्थ लेना हो तो भी जो प्रयत्नशील हैं ऐसे सुनने-सुनाने वाले ग्राह्य हैं। अनेक विचारकों के अनुसार यहाँ उपनिषद् समाप्त हो जाती है तथा आगे का काण्ड इसी विषय का व्याख्या ग्रन्थ है व परवर्ती है। वस्तुतस्तु श्राद्धाध्याय की परिसमाप्ति ही यहाँ है।

संसद् का अर्थ होता है, जहाँ भली प्रकार गलत विचारों को तोड़ा जाय (विशरण), आगे जाने (गति) का मार्ग निर्धारित किया जाय, तथा सत्यान्वेषण में गहरे पैठा (अव सादन) जाय। जहाँ ब्रह्म के विषय में यह सभी कार्य किया जाय वह ब्रह्मसंसद् कही जायगी। अत: ब्रह्मविचारक ही श्राद्धकाल में योग्य अधिकारी हैं, यह सिद्ध होता है। श्राद्ध का सम्बन्ध मृत्यु से है, एवं यह उपनिषद् मृत्युप्रोक्त होने से मृत्यु देवता को अधिक प्रिय हो, यह तो संगत ही है। किं च मृत्यु के बाद सभी प्राणियों के हृदय में जिज्ञासा होती है कि मृत प्राणी का क्या हुआ। इसी का विवेचन इस ग्रंथ में होने से भी वह काल इस ग्रंथ के सुनने-सुनाने का है। अथवा ब्रह्मसंसदि और श्राद्धकाले को विकल्प भी माना जा सकता है। तात्पर्य है कि या ब्रह्मविचारकों को सुनावे या श्राद्धकाल में सुनावे। तब प्रथम विकल्प का दृष्टफल अनन्त अर्थात् अपरिच्छिन्न ब्रह्मभाव की प्राप्ति, एवं द्वितीय का अपूर्व फल

श्राद्ध की अनन्तता हो जायगी। इसमें वाक्यभेद दोष की सम्भावना से 'वा' का और अर्थ हमने स्वीकारा है। प्रयत: तो दोनों ही अवस्थाओं में सुनाने वाला होना ही चाहिये।

विवेकी तो यहाँ श्राद्धकाले का अर्थ सुनने वालों में जब श्रद्धा का उदय हो उस काल में ही स्वीकारते हैं। औपनिषद् प्रसंगों में कर्मशेषता का खण्डन तो सर्वज्ञ शंकर ने अनेकशः किया है। क्रियाकारकादि भेद का उपमर्दन करने वाला आत्मज्ञान कर्मविधायक वाक्यों से कभी भी एकवाक्यता को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः जहाँ ब्रह्मविचारक श्रद्धा से प्रवृत्त हों वहाँ आत्मज्ञान सुनाया जाय, यह भाव है। तर्ककर्कश अन्तःकरण में ब्रह्मविद्या का प्रवेश असंभव है। तर्क संभावना प्रकट कर सकता है, निश्चय नहीं। श्रद्धा निश्चायक तत्त्व है। संशयात्मा से नीच और कोई नहीं है। **'न सुखः संशयात्मनः'** कहकर आचार्य श्रीकृष्ण इसको स्पष्ट करते हैं। ब्रह्मनिष्ठा तो संशयात्मा में कभी भी संभव नहीं हो सकती। शास्त्रार्थ व अनुमान से जो संभव या शक्य प्रतीति है वह उपनिषद् दर्शन का प्राण नहीं है। **'कर्म शास्त्रे कुतो ज्ञानं, तर्के नैवास्ति निश्चयः' । .... शाब्दिकाः शब्दतत्पराः .... एकं वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते ।।'** के द्वारा आचार्यपाद यही कहते हैं कि जहाँ विधिनिषेध का विषय चलता है वहाँ तो वास्तविक ज्ञान का प्रसंग ही दुर्लभ है, एवं तर्कशास्त्र कभी निश्चायक नहीं हुआ करता। शब्दनिष्णात तो केवल शब्दों का उद्धरण या अर्थ ही निकालते रहते हैं, उनके गूढ़ भावों में उनकी रुचि ही नहीं होती। केवल वेदान्तदर्शन ही अनुभूतिप्रधान होने से साधक की अनुभूति को ही प्रधानता देने से निश्चायक है। उपनिषद् वस्तुस्थिति के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। यदि उपनिषदों में से इनको निकाल दो तो वे भी कर्मकाण्ड ही बन जावेंगे। **तत्त्वमसि या अयमात्मा ब्रह्म या सर्वं खल्विदं ब्रह्म या नान्यत्किंचनमिषत् या आत्मनः आकाशः** इत्यादि उपनिषद् वाक्य वस्तुप्रतिपादक वाक्य हैं। मीमांसक इन्हें कर्मांग सिद्ध नहीं कर सकते एवं वस्तुप्रतिपादक वाक्यों को वे निरर्थक मानते हैं। वेद को वेदान्ती तो सर्वत्र वस्तुप्रतिपादक अर्थात् ज्ञापक ही मानते हैं। उपनिषदों में तो ज्ञापकत्त्व ही प्रधान है। इनको निकालो तो वेद की वेदता ही नहीं रह जायगी। वेदान्ती वस्तुस्थिति का प्रतिपादन करने से कभी नहीं घबड़ाते। आधुनिक युग का समन्वयवाद या संभावनावाद

न याज्ञवल्क्य में हैं, न कृष्ण में और न शंकर में। वे तो निश्चय एवं कभी न हिलने वाले विश्वास से सत्य के बारे में घोषणा करते हैं। उनकी यह निश्चयात्मकता आधुनिक युग वाला सहन भी नहीं कर सकता सो समझेगा क्या। 'संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेन प्रसिद्धौ।' 'संशय और विपर्यय तो सदा ही अनर्थकारी हैं' कहने वाले शंकर आज के शक्ययुग (Age of Probabilities) में अनोखे लगते हैं। यहाँ तक उनका कहना है कि 'आचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल' अर्थात् स्वयं गुरु के संदेह पैदा कराने का प्रयत्न भी निष्फल हुआ क्योंकि 'आगमसंप्रदायबलादुपपत्त्यनुभवबलाच्च जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढ़निश्चयतान्दर्शयन्नात्मनः।' आगम, उपपत्ति तथा अनुभव के बल से उसकी ब्रह्मानुभूति दृढ़ निश्चय वाली हो गई थी। उल्टा वह गरजकर कहता है कि मेरी बात को समझने वाला ही वास्तविक ज्ञाता है। यह निश्चय ही वेदान्त का प्राण है। कलियुग में इस प्रकार की श्रद्धा का विरोध ही हृदय में आता है। हम वेदान्तविज्ञान को भी अनेक संभावनाओं में एक मानते हैं। हमें तो यह सम्प्रदायवाद, कट्टर पन्थ और न जाने क्या-क्या जँचने लगता है। इस दृष्टि से ही वेदान्त हमारे हृदयों में हार गया है। शास्त्रार्थ व युक्तिजाल अथवा अनुभूति के आधार पर जो वेदान्त न हारा वह मनों में हार गया। अतः हम कहते हैं कि प्रमाण या प्रमेय में दृढ़ वेदान्त प्रमाताओं में कच्चा पड़ गया है। हमारे अन्तस्तल में, हमारे जीवन में 'नेह नानास्ति किंचन' नानात्व का अभाव तथा 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' 'सभी ब्रह्म ही है' की श्रद्धा नहीं है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ये हमारा अपने जीवभाव में हुये अनुभवों में विश्वास नहीं है। प्रत्येक धर्मग्रन्थ या मज़हब इसी प्रकार की दृढ़ताओं को प्रकट करता है। हमारा तो जीवभाव की समाप्ति में हुये अनुभवातीत अनुभूति में विश्वास है, जहाँ सभी देश, काल, संस्कार, उपाधि, परिच्छिन्नता आदि समाप्त हो चुके हैं। प्रत्येक साधक को इस अनुभव को अपनी आत्मा में नवीन अनुभूति (Renewal) की भाँति पाना है, यद्यपि यह चिरंतन अनुभूति ही है। यह पुरानी से पुरानी होकर भी नई से नई है। सत्ययुग के ब्रह्मर्षियों में इसकी मात्रा अधिक या शुद्धतर नहीं थी, वरन् वैसी ही थी जैसी आज है। यदि केवल जीव का निश्चय होता तो कमजोर होता, यौक्तिक या अयौक्तिक होता। हर आलोचना तथा नवीन विज्ञान से प्रभावित होता। हमारी युक्ति

शिव के बारे में कितना कम ज्ञान दे सकती है, इसे हम ही जान सकते हैं। जीव की अल्पता असीम को ससीम करके उपास्य चाहे बना ले, वस्तु ज्ञान को अपरिच्छिन्न रूप से नहीं आत्मसात् कर सकती। धर्म के भावना साम्राज्य के विरोधाभासों को कौन नहीं जानता, जो भावुक निश्चय तथा भंजक संशय (Ecstatic confidence and despairing doubt) के मध्य में डोलता रहता है। पर जब ब्रह्मानुभूति में जाते हैं तो अपनी सभी न्यूनता तथा जीवभाव की परिच्छिन्नताएँ अपना प्राधान्य खो बैठती हैं। हमें प्रथम बार लगता है कि शिव हमारे ज्ञान का विषय नहीं है, वरन् हमीं उसके ज्ञेय हैं। हमारी सत्ता व ज्ञान तथा आनंद का आश्रय बना वह हमें धारण कर रहा है। हम शिव के पंजे से उसके विषय में सन्देह करके तथा उसका यौक्तिक खण्डन करके भी नहीं छूट सकते। सर्वज्ञ शंकर के शब्दों में नास्तिक का भी तो वही आत्मा है। हमें अनुभव होता है कि हमारे अनिश्चयों में भी एक निश्चय का ध्रुव बिन्दु होता है। हम इस ध्रुव बिन्दु का नाम कुछ भी रखें, विवरण या व्याख्या कैसी भी करें, रहता वह अवाङ्मनसगोचर ही है। हम उसे न समझें, पर हम समझे जाते हैं। अनिश्चय के गहन स्तरों में हम कुछ न ग्रहण कर पायें, पर कोई पूर्णता हमें ग्रहण किये हुये है, और जिसकी पकड़ से छूटने का प्रयत्न करने पर भी हम छूट नहीं पाते, यह निश्चय नहीं हट पाता। वही सत्ता है जो कहती है कि वही मेरा आपा है **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**। यही वास्तविक श्रद्धा का बिन्दु है।

यह युग सभी प्रकार के संशयों का युग है। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, वैज्ञानिक, आदि सभी क्षेत्र आज संशयग्रस्त हैं। मानवता का भविष्य भी खतरे में पड़ा है। धार्मिक क्षेत्र तो संशयों का गढ़ बना दिया गया है। भारत में तो राष्ट्रभक्ति भी संशयग्रस्त होकर होली में जलाई जा रही है। मंत्री पद की प्राप्ति में प्रयत्नशील ही आज राष्ट्रभक्त माने जाते हैं। संविधान भी प्रतिगर्भमासों में नवीनीकरण के द्वारा संशय में ही पड़ा रहता है। अत: इस संशय के युग में क्या हम इस निःसंशय भाव की प्राप्ति कर सकते हैं, और प्राप्त करके भी स्थिर रख सकते हैं। दूसरे शब्दों में, क्या ब्रह्मनिष्ठा संभव है। इसका उत्तर सभी चाहते हैं। उत्तर स्पष्ट है कि जब कभी हम अपनी सत्ता का अवगुण्ठन खोलकर उसे अपरोक्ष रूप से स्पर्श कर पाते हैं, तब हम अपने से परे शिव-तत्त्व का अपने अधिष्ठानरूप से दर्शन

कर लेते हैं। तब शिव सम्बन्धी सभी संभावनाओं के व्यूह को तोड़ देते हैं । संभावनाएँ ज्ञेय या विषयक्षेत्र में ही संभव हैं। ज्ञाताज्ञेय भाव से रहित में उनकी संभावना ही नहीं है। जब मार्गस्थ विश्वास हट जाते हैं तो मुग्य श्रद्धा प्रकट हो जाती है। इस श्रद्धा के अतिशय में ब्रह्मनिष्ठा हो जाती है जिससे फिर कभी हटना नहीं हो सकता। '**यज्ज्ञात्वान पुनर्मोहं यास्यसि**' कह कर आचार्य श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि फिर मोह की कभी भी संभावना नहीं रह जाती। ऐसे श्रद्धाकाल में ही ब्रह्मनिष्ठा होती है, यह श्राद्धकाले से बताया गया।

इस प्रकार इस अध्याय में आत्मज्ञान के विषय में सभी उपादेय तत्त्वों का प्रतिपादन कर दिया गया है। अगले अध्याय में इन्हीं तत्त्वों का विस्तृत वर्णन कैसे किया जायगा, यह हम तत्तत् स्थलों में देखेंगे।

इति प्रथमोऽध्यायः